5496

अशोक वाजपेयी की कविता और आलोचना

डॉ. राजेन्द्र यादव

गुरुदेव

प्रोफ़ेसर सुरेश आचार्य

को सादर ...

भूमिका

कोई भी रचनाकार एकायामी नहीं होता। वह अपने समय और उसके आर-पार भी होता है। उसके अनुभव, विचार, तर्क और अनुभूतियाँ रचना संसार में मूर्तमान होती हैं। वह सृजन का पौधा भाषा के जिस उर्वर आधार पर रोपता है रचना उसी आधार पर प्रभावित करती है। इस अर्थ में अशोक वाजपेयी का सृजन संसार भले ही विविधताओं से भरा संसार है लेकिन, उनके सृजन के केन्द्र में कविता और आलोचना ही प्रमुख रही है। हिन्दी कविता में मोहभंग के पश्चात् जब निराशा, कुंठा, अविश्वास का दौर चल रहा था। कविता में तथाकथित सामाजिक सच्चाई को लेकर तरह-तरह के आंदोलन चल रहे थे। भाषा के सतहीपन को लेकर और चालूपन से आक्रांत होकर कविता व्यवस्था से जूझने के नाम पर अपना रास्ता भूल गई थी। ऐसे समय हिन्दी कविता में, भाषा में अपने समय और समाज में सब कुछ ठीक हो जाने की उम्मीद लिए अशोक वाजपेयी हिन्दी कविता में अपना अलग मुहावरा विन्यस्त करते हैं। उनके पहले काव्य संग्रह 'शहर अब भी संभावना है' में इसे बखूबी पहचाना जा सकता है। पहले काव्य संग्रह 'शहर अब भी संभावना है' से लेकर 'समय के पास समय' तक की रचना यात्रा में वे प्रतिमान जिन पर वे कायम रहे हैं उनमें एक भाषा की तत्समता में रहते हुए उसमें तद्भवपन की अभिव्यक्ति और दो-जीवन, उसकी स्मृतियां, उसका घरेलूपन, उसकी वस्तुएं, संबंध और लोग। काव्यगत विशेषताओं के आधार भाषा की तत्समपरकता वह भी देशीपन से जैसी अशोक वाजपेयी के यहां मिलती है हिन्दी कविता में अन्यत्र नहीं। काव्य विषय के मामले में वे रघुवीर सहाय से भी आगे हैं। उनके यहां अनेक काव्य विषय ऐसे हैं जो आधुनिक हिन्दी कविता के इतिहास में पहली बार ही कविता का विषय बने जैसे - कुमार गंधर्व , मल्लिकार्जुन मंसूर, अली अकबर खां, हुसैन के चित्र आदि समकालीन कला साधकों पर लिखीं उनकी विशिष्ट कविताएं हिन्दी कविता में एक नयी परंपरा की स्थापना हैं। अशोक वाजपेयी के काव्य संसार पर संक्षिप्त में कहूँ तो वह समकालीन मनुष्य का ऐसा संसार है जिसे समय, समाज और सभ्यता ने विकास के नाम पर अपने जीवन, परिवार, लोगों, वस्तुओं,संबंधों और उनकी विविध स्मृतियों, संवेदनाओं से अपदस्थ कर दिया गया है। ऐसे अपदस्थ जीवन की एक-एक स्मृति में कविता के माध्यम से उस मनुष्य को पुनः उसके छूटे समय से जोड़ने, उसमें लौटाने का संसार है - इसलिए अशोक वाजपेयी का काव्य हमारे समय का ही नहीं उसकी संवेदनात्मक समीक्षा और अभिव्यक्ति का भी संसार है। यहां सामाजिक संदर्भों, व्यवस्था के विरूद्ध और राजनीति पर वैसी कविता नहीं है जैसा जोर समकालीन कविता में साठोत्तर से अक्सर कविता में रहा है। अशोक वाजपेयी के यहां कविता व्यवस्था के विरूद्ध, सामाजिक संदर्भों से आक्रांत और राजनीति के चक्रव्यूह में जूझ रहे मनुष्य के निजी जीवन के उन पहलुओं को कविता में अभिव्यक्त किया गया है जिससे आज का व्यक्ति पूरी तरह कट गया है, सच तो यह है कि जो अपने जीवन और उसके आस-पास से ही विरक्त और विस्मृत है वह समाज,राष्ट्र और राजनीति से कैसे और कब तक जूझ सकता है। अतः यदि जीवन और उसकी संवेदनाएं बच गई तो शेष सब कुछ बच जाएगा। इस आधार पर अशोक वाजपेयी का काव्य जीवन की समग्रता और उसकी सच्चाइयों को कविता में सहेजने और ध्वनित करने का है, जिसे हम मनुष्य और उसमें मनुष्यता की पुनर्रचना भी कह सकते हैं। जीवन और उसकी संवेदनाओं से मनुष्य की दूरी इतनी अधिक नहीं हुई है कि वापस लौटा न जा सके। अतः अशोक वाजपेयी का काव्य-जगत जीवन की वापसी का भी काव्य है।

मलयज के शब्दों में कहूँ तो अशोक वाजपेयी की आलोचना रचना की सघन और तनावपूर्ण शर्तों पर रची आलोचना है। इस अर्थ में अशोक वाजपेयी की आलोचना उनके रचनात्मक विवेक का ही अंग है, उन्हीं के शब्दों में कहूँ तो आलोचना उनके लिए कोई आपद्धर्म नहीं। उनके समीक्षा जगत के बृहत केनवास में समकालीन कविता के साथ, समकालीन कलाओं पर भी गंभीर चिन्तन, विवेचन और

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

अध्याय - 1

भारतीय सामाजिक सन्दर्भ :
स्वतंत्रता के पश्चात् का भारत एक साहित्यिक अध्ययन 01

अध्याय - 2

सामाजिक चेतना और साहित्य का परस्पर संबंध,
परिभाषा, अध्ययन और विश्लेषण 42

अध्याय -3

रचना में व्यक्ति का समाज में तथा समाज का व्यक्ति में रूपांतरण 59

अध्याय - 4

अशोक वाजपेयी के कविता संसार पर एक विहंगम दृष्टि 68

अध्याय - 5

अशोक वाजपेयी का समीक्षा जगत और चिन्तन विश्व 105

अध्याय - 6

अशोक वाजपेयी के सम्पूर्ण साहित्य का एक विश्लेषणपरक अध्ययन 129

उपसंहार 151

विश्लेषण किया गया है। अशोक वाजपेयी आलोचना में आरंभ से ही रचना में मनुष्य की स्थिति और उसके विभिन्न पहलुओं की गहन तर्कसंगत पड़ताल को अपनाये हुये हैं। वे रचना और आलोचना दोनों में मनुष्य और उसकी हालत की गहन तात्विक विवेचना की अभिव्यक्ति को महत्वपूर्ण मानते हैं। कविता और आलोचना दोनों में उनके यहाँ भाषा को सहेजने की जिद व्याप्त है। आलोचना में उनकी भाषा अपनी भाषा है जो कविता से अर्जित भाषा होते हुए भी शब्दों की एक ऐसी परंपरा है जो इधर-उधर भटकने की जरा भी छूट नहीं देती। अशोक वाजपेयी पर 'फिलहाल' के चिन्तन में अघोषित रूप से मार्क्स वाद का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है वे 'फिलहाल' से लेकर 'कुछ पूर्वग्रह' और 'समय से बाहर' तक के चिन्तन में एक ऐसे सक्षम आलोचक हैं जिसे कविता और आलोचना दोनों की गहन और तात्विक विश्लेषण की पूरी समझ है वह तर्कों और चुनौतियों के साथ रचना की तह तक जाकर धारा प्रवाह भाषा में विश्लेषण करते हैं। खण्डन-मण्डन की तर्क सहित प्रामाणिकता देना उनकी अन्यतम विशेषता है। वरिष्ठ आलोचक परमानंद श्रीवास्तव ने कहा है कि 'आलोचना कर्म की सार्थकता इससे अधिक कुछ नहीं हो सकती कि वह रचना और विशेष रूप से समकालीन रचना की चुनौतियां स्वीकार करे और उसके आस्वाद, विश्लेषण और मूल्यांकन के लिये उपयुक्त उत्तेजक परिप्रेक्ष्य विकसित करे' अशोक वाजपेयी की आलोचना इस कसौटी पर खरी उतरती है। सुधीश पचौरी ने इसलिए उनकी आलोचना को समझने के लिए जिरह का रास्ता अपनाने पर जोर दिया है। सन् 60 के बाद आज हम जिन आलोचकों परमानंद श्रीवास्तव, विश्वनाथप्रसाद त्रिपाठी, मलयज, विष्णु खरे, रमेशचन्द्र शाह, नंदकिशोर नवल, मैनेजर पाण्डेय, नित्यानंद तिवारी, मधुरेश, चन्द्रभूषण तिवारी, डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, देवी शंकर अवस्थी, प्रभात त्रिपाठी आदि की चर्चा करते हैं तो उनमें अशोक वाजपेयी की उपस्थिति अपने आलोचनात्मक उद्यम के व्यापक केनवास के कारण लगातार हिन्दी आलोचना की चर्चा में केन्द्रीय रही है। अत: हिन्दी आलोचना का प्रस्थान बिन्दु आचार्य शुक्ल हैं तो आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेन्द्र, रामविलास शर्मा, नामवर सिंह उसके विकास के सोपान और नामवर सिंह के बाद की समूची पीढ़ी में अशोक वाजपेयी का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि हिन्दी आलोचना के इतिहास में छायावाद के भीतर जो उपक्रम रामविलास शर्मा ने निराला को केन्द्र में लाने के लिए किया, नई कविता के दौर में नामवर सिंह ने मुक्तिबोध के लिये किया, लगभग वही प्रयत्न सन् 60 के बाद की युवा कविता आंदोलन के सिलसिले में अशोक वाजपेयी ने रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, और केदारनाथ सिंह आदि को स्थापित करने के लिये किया है।

अशोक वाजपेयी की कविता और आलोचना पर केन्द्रित मेरे शोध प्रबंध के पुस्तकाकार प्रकाशन के मूल में मेरे पूज्य गुरूदेव प्रोफ़ेसर सुरेश आचार्य ही हैं, मैं उन्हें सादर प्रणाम करता हूँ। डॉ. हरीसिंह गौर वि.वि., सागर हिन्दी विभाग के शिक्षकों में विशेष रूप से प्रोफ़ेसर गोविंद द्विवेदी, प्रोफ़ेसर एच. पी. सिंह, डॉ. वीरेन्द्र मोहन, डॉ. आनंद प्रकाश त्रिपाठी, डॉ. ऊषा भटनागर, डॉ. लक्ष्मी पाण्डेय से प्राप्त सहयोग के लिए आभारी हूँ। वि. वि.ए.एस.सी. के सहायक निदेशक श्री अनिल वाजपेयी से मिले सहयोग के लिए उन्हें सादर प्रणाम करता हूँ। माँ-पिताजी श्रीमती शारदा-श्री जयराम यादव को प्रणाम करता हूँ जिन्होने स्वयं अभावों में रहते हुए मुझे उच्च शिक्षा दिलाई। बड़े भैया राकेश ,बहिन ममता, रॉबिन, मोना, सोनल, निक्की, सभी को याद करता हूँ। सहपाठी डॉ. रजनी मिश्रा के सहयोग को याद रखूँगा। सागर प्रकाशन के संचालक श्री सुनील कुमार जैन एवं टाइपिस्ट श्रीमती सुमन केशरवानी के प्रति आभारी हूँ। अन्त में मैं अपने उन सभी मित्रों के प्रति आभारी हूँ जिनके नाम यहाँ नहीं दे सका -

विक्रम संवत् - २०५८ फाल्गुन पंचमी

उधर अंग्रेजों ने जिन्हें ओहदों की रेवड़ियां बांटी थी, वे समाज में अंग्रेजों से ज्यादा अत्याचार कर रहे थे। गरीब और गरीब होता जा रहा था अमीर, और अमीर। उद्योग धंधे चौपट होते जा रहे थे। छोटे और गांव के कुटीर उद्योग बंद होते जा रहे थे। अंग्रेजों के खास गद्दार भारतीयों ने ही भारतीयों का खून चूसा और राष्ट्र को खोखला कर दिया।

समाज में एक तरफ अंग्रेजों का चहुँमुखी शोषण जारी था, तो दूसरी तरफ सदियों की कुप्रथाओं रूढ़ियों में छटपटाता भारतीय समाज उन्हें छोड़ नहीं पा रहा था, समाज में ऊहापोह की स्थिति व्याप्त थी।

आर्थिक परिस्थितियां -

आर्थिक दृष्टि से भी देश की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो चुकी थी। जनता तिहरे शोषण के जाल में फंसी थी सामंती, पूंजीवादी और विदेशी। इस शोषण से मुक्ति पाने के लिए किसानों, मजदूरो, देश भक्तों के कई संगठन बन गये और आर्थिक धरातल का यह द्वन्दात्मक संघर्ष और विकास का मूल कारण बना। जिसने विश्व आंदोलनों के साथ गति को बनाये रखा। इस दृष्टि से पूंजीपति, मध्यवर्ग और पूंजीहीन नामक समाज के तीन अंग बन गये। जिनमें एक दूसरे के प्रति विरोध और टकराव की स्थिति स्वाभाविक थी।

सांस्कृतिक स्थिति -

सांस्कृतिक दृष्टि से यह युग दो धाराओं में विभक्त रहा सांस्कृतिक पुनरूत्थान की धारा और प्राचीनता के गौरवगान की धारा। ''सांस्कृतिक पुनरूत्थान के प्रति भारत के उन मनीषियों की साधनाएं एवं सेवाएं हैं, जिन्होंने अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी साहित्य और अंग्रेजी सभ्यता को आधुनिक परिवेश में उपयोगी समझकर अपना लिया। किन्तु जिन्होंने अपनी संस्कृति की महानता को स्वीकार कर नवीनता में प्राचीनता के दर्शन किये।''[11] ईसाई पादरियों ने मिशनरियों के माध्यम से धर्म-प्रचार, शिक्षा-प्रसार और समाज कल्याण कार्य जैसे ही आरम्भ किये, उनकी प्रतिक्रिया स्वरूप भारत की आत्मा को पहचानने वाले समाज सुधारक राजाराम मोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी विवेकानंद, गोविंद महादेव रानाडे, स्वामी दयानंद सरस्वती, श्रीमती एनीबीसेन्ट ने ऐसी संस्थाओं की नींव डाली जो सांस्कृतिक दृष्टि से भारतीयता की पोषक थी। ब्रह्मसमाज (1828), प्रार्थना समाज, आर्यसमाज, रामकृंष्ण मिशन जैसी धार्मिक, सांस्कृतिक संस्थाओं के माध्यम से प्राचीन भारतीय संस्कृति के स्वरूप का प्रचार-प्रसार एवं संवर्द्धन किया गया।

इस सांस्कृतिक पुनरूत्थान में लोक मान्य तिलक द्वारा गणपति उत्सव और शिवाजी जयंती के द्वारा राष्ट्रीय एकता की ज्योति जगाई गई। महात्मा गांधी ने हरिजन सेवक संघ और साबरमती तथा वर्धा आश्रमों के द्वारा समाज सुधार करने के व्यापक प्रयास किये। इससे हमारे राष्ट्र की राष्ट्रीय परम्परा की जाग्रत चेतना का अभ्युत्थान देश कालानुसार हुआ ।

साहित्यिक स्थिति -

मुद्रण की सुविधा, शिक्षा का प्रचार, समसामायिक पत्रों के प्रकाशन में महत्वपूर्ण प्रगति रही। जिसने राष्ट्रीय आंदोलन के संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। खड़ी बोली भारतीय एकता की आवाज बनी। ''राष्ट्रीय चेतना के अनुरूप साहित्य ने भी चार अवस्थाएं ग्रहण की। प्रथम युग भारतेन्दु युग के नाम से अभिहित हुआ यह आधुनिक साहित्य का प्रथम उत्थान है जिसमें 'पराधीन सपनेहूँ सुख नाहिं ' की भावना अभिव्यक्त हुई, इस युग का सबसे प्रबल स्वर राष्ट्रीय चेतना का ही स्वर है।''[12] वस्तु की दृष्टि से भारतेन्दु के नाटक, 'भारत दुर्दशा',' भारत जननी' और वैदिकी हिंसा 'हिंसा न भवति' 'ये क्रमशः' राजनीतिक अर्थव्यवस्था, सामाजिक आर्थिक दुर्दशा, और सांस्कृतिक पिछड़ेपन की अभिव्यक्ति हैं। इस समय के साहित्य में राष्ट्रीय गौरव ,समाज सुधार, मातृभाषा प्रेम, राष्ट्रप्रेम, शोषण, दमन विरोध और सांस्कृतिक विकास के विषय तीव्र आग्रह के साथ मुखरित हुए।[13]''इसी चेतना को साकार करने के लिए गद्य की विविध विधाओं का जन्म हुआ, जिसमें शिक्षा, धर्म प्रचार, न्यायालय एवं मनोरंजन संबंधी

मुक्तहोने का प्रयत्न किया और आतंक फैलाकर शासन तंत्र को झुकाने की कोशिशें की। तिलक ने 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है' का नारा दिया जो समस्त राष्ट्र की चेतना को स्फुरित करने वाला मंत्र साबित हुआ देश ने तारस्वर से वन्देमातरम् की आवाज बुलंद की। इसी समय प्रथम विश्वयुद्ध लड़ा गया, जिसमें नरमदली नेताओं के परामर्श से भारत की जनता ने मित्र राष्ट्रों का साथ दिया। "क्रांतिकारी नेता जेलों से मुक्त किये गये और मित्र राष्ट्रों का साथ दिया। और मित्र राष्ट्रों की विजय के पश्चात् स्वराज्य की मांग की पुनरावृत्ति करने लगे। 1920 ई. में तिलक का स्वर्गवास हो गया और कांग्रेस की बागडोर गांधी के हाथों में आ गई। इस तरह राष्ट्रीय मुक्ति के तीन पक्ष आये 1. विदेशी शासन से मुक्ति 2. आर्थिक शोषण से मुक्ति 3. प्रगति विरोधी संस्कारों से मुक्ति, स्वतंत्रता, समता और प्रगति इस युग के मूलमंत्र थे।"[6]

1929 ई. से असहयोग, सविनय अवज्ञा, सत्याग्रह, विदेशी बहिष्कार आदि आंदोलनों के द्वारा गांधीजी ने लोगों के हृदय परिवर्तन के प्रयत्न किये। किन्तु प्रथम विश्व युद्ध जीतने के पश्चात् ब्रिटिश सत्ता विश्व की प्रथम पंक्ति की शक्ति बन चुकी थी। उसके साम्राज्य का इतना विस्तार हुआ कि कहावत बन गई कि अंग्रेज राज में सूर्य नहीं डूबता। "ऐसी दशा में ब्रिटिश सत्ता ने भारतीय जनता की स्वराज्य की मांग को ठुकरा दिया और ऐसे सुधार प्रवर्तित किये जिसे जनता ने अस्वीकार कर दिया। शासन ने दमनचक्र चलाया जिसमें जलियांबाला बाग और चौरा-चौरी के नृशंस हत्या काण्ड हुए। जनता ने भी दमन का सामना लोह एकता प्रदर्शित करते हुए किया।"[7] 1929 ई. में पूर्ण स्वतंत्रता के राष्ट्रीय ध्येय को अपना कर भारत ने जन आंदोलन को प्रखर कर दिया। लोकप्रिय सरकारों की स्थापना हुई। इसी समय 1939ई. में द्वितीय विश्व युद्ध आरम्भ हुआ प्रान्तीय सरकार और कांग्रेस ने अंग्रेजी सरकार को सहयोग न देने का निर्णय किया और 1942 ई. में अंग्रेजो भारत छोड़ो का शंखनाद हुआ।

अंग्रेजों ने फिर वही पुराना दमन अस्त्र अपनाया किन्तु देश की जनता, मजबूत एकता, सेना पुलिस, नाविक और छात्रों के विद्रोह तथा अंतर्राष्ट्रीय दबाब के सामने अंग्रेजों ने हथियार डाल दिये और 15 अगस्त 1947 ई. को भारत त्याग दिया। अंग्रेज तो चले गये किन्तु विभाजन का कभी न मिटने वाला नासूर और दो सम्प्रदायों में हिंसा और नफरत के बीज वो गये। आज स्वतंत्रता प्राप्ति के 54 वर्ष बाद भी भारत और पाकिस्तान के बीच उसी तनाव और नफरत का वातावरण है। जो विभाजन के समय था। और अब तो भारत, पाक के बीच परमाणु युद्ध की शंकाएं व्याप्त हो चलीं हैं। भारत और पाक के बीच 1965 और 1971 के भीषण युद्ध इस बात का ठोस प्रमाण हैं कि अंग्रेजों का विभाजन के पीछे क्या मकसद था।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि "राष्ट्रीय चेतना में साम्प्रदायिक एकता का उभार और राष्ट्रीय आंदोलन में नरम तथा गरम दल का अंतर्विरोध। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू - मुस्लिम विरोध स्थायी होकर देश के विभाजन का मूल कारण बना।"9

सामाजिक स्थिति -

परतंत्र भारत की राजनैतिक स्थिति की इस दुविधात्मक प्रवृत्ति के प्रभाव से भारतीय समाज भी अछूता नहीं रहा। भारतीय समाज भी दो भागों में बंट गया था।

1. प्राचीनता का विरोधी
2. प्राचीनता के पक्ष में

प्राचीनता का उपासक वर्ग सामन्तों, देशी राजाओं, पूंजीपतियों तथा धार्मिक नेताओं के रूप में पनपा। जबकि प्राचीनता विरोधी मध्यम वर्ग छोटे-छोटे व्यापारी, कर्मचारी, मजदूर और शिक्षित समाज के रूप में प्रकट हुआ। "प्राचीनता विरोधी समाज अंग्रेजी शिक्षा और सभ्यता के प्रभाव में नवीनता को ग्रहण करता था, एवं प्रगति विरोधी संस्कारों, रूढ़ियों, रीतिरिवाजों का बहिष्कार करता था। इस तरह से नये पुराने का टकराव समाज में व्याप्त था। अत: परिवर्तन की परिस्थितियों के सहारे हम अपनी परिवर्तनशील प्रवृत्ति का नहीं अपनी संस्कृति का भी परिचय पाते हैं।"[10]

अध्याय - 1

भारतीय सामाजिक सन्दर्भ : स्वतंत्रता के पश्चात् का भारत एक साहित्यिक अध्ययन

स्वतंत्रता पूर्व का भारत : संक्षिप्त पृष्ठभूमि

"1857 ई. से पूर्व ईस्ट इण्डिया कम्पनी के सौ वर्ष के शासन में भारतीयों के साथ व्यवहार रूप में लाई गई राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक नीति के कारण देश में विद्रोहाग्नि सुलग रही थी कि लार्ड डलहौजी की देशी राज्यों के विलय की नीति ने चिनगारी का काम किया और भारत में प्रथम स्वतंत्रता संग्राम असफलता के साथ लड़ा गया।"[1] देशी राज्य और जनता पराजित हुए,किन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनी के निरंकुश शासन का भी अंत हो गया।"इंग्लैण्ड की महारानी विक्टोरिया ने कम्पनी से राजनीतिक अधिकार छीन लिए और 1858 ई. में घोषित किया कि अंग्रेजी शासनान्तर्गत योग्यतानुसार भारतीय सभी पदों पर नियुक्त होंगे तथा सामाजिक एवं धार्मिक विषयों में शासकों का हस्तक्षेप नहीं होगा।"[2]

इसके पश्चात् 27 वर्षों तक लगभग ऊपरी तौर पर शान्ति बनी रही, किन्तु जनता असंतोष तथा अंग्रेजी शासन के प्रति क्षोभ प्रच्छन्न रूप से उग्र होता गया। जनता में एक तरफ रेल, तार, डाक और सड़कों के विकास एवं शिक्षा प्रसार की सुविधाओं की उपलब्धि होने के कारण अंग्रेजी राज्य के प्रति कृतज्ञता भी जाग्रत हुई। उधर निर्ममता से जारी आर्थिक शोषण के आगे किसी भी प्रकार का विकास नहीं ठहर पा रहा था। लगभग इसी समय भारत का सम्पर्क फ्रांसीसियों, डचों और पुर्तगालियों से हुआ। ये जातियां यूरोपीय औद्योगिक क्रांति एवं पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था से बहुत प्रभावित थी।

अंग्रेजों से इनके रीति-रिवाज, भाव-विचार लगभग मेल खाते थे। भारतवासी भी इनके भावों विचारों से प्रभावित हुए बिना न रह सके। अंग्रेज तथा ये विदेशी जातियाँ भारतीय सभ्यता, संस्कृति, साहित्य-कला एवं जीवनादर्श को अपने से अत्यंत हीन दृष्टि से देखते थे, तथा भारत को एक घोर पिछड़ा देश मानते थे। भारतवासी भी समग्र रूप से इन जातियों के इस दृष्टिकोण से असहमत थे और यह असहमति राजनैतिक असंतोष के रूप में खुलकर सामने आना आरम्भ हो चली थी यही वह बिन्दु था जहां राष्ट्रीय चेतना का उदय हुआ और सम्पूर्ण भारतीय परिवेश विदेशी शासन के अभिशाप से मुक्ति के लिए बैचेन हो उठा।

"1885 ई. में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना ए.ओ. ह्यूम, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा दादाभाई नौरोजी जैसे विचारकों के सक्रिय सहयोग से राष्ट्रीय प्रगति और जातीय विभेदों को दूर करने के उद्देश्य से की गई"[3] यह संस्था प्रारम्भ में सुधारवादी स्वरूप लेकर सरकार से अपनी मांगों को स्वीकार करने की प्रार्थनायें, प्रस्तावों, प्रतिनिधि मण्डलों या अधिवेशनों के विवरणों के माध्यम से करती रही।"किन्तु गोपाल कृष्ण गोखले के आगमन से स्वप्रशासन और अधिक प्रतिनिधित्व की मांग भी करती रहीं।"[4] "1905 ई. में राष्ट्रीयता की प्रबल आंधी चली। लार्ड कर्जन ने बंगाल के दो टुकड़े कर राष्ट्रीयता को कुचलना चाहा।"[5] बंग-भंग के विरोध में घोर आन्दोलन हुआ जिसमें हिन्दू-मुस्लिम दोनों ने शासकीय नीति का विरोध किया परिणामस्वरूप विभाजन नहीं हो सका। इसके उपरांत कांग्रेस में दो दल हो गये। एक गरम दल दूसरा नरम दल। एक का नेतृत्व लोकमान्य तिलक ने किया और स्वराज्य प्राप्ति का लक्ष्य रखा, दूसरे की बागडोर गोपाल कृष्ण गोखले, दादाभाई नौरोजी और फिरोजशाह मेहता ने संभाली। ये लोग (नरम दल)सहयोग के माध्यम से शासन में सुधार चाहते थे। जिसका विरोध उग्रवादी लाल-बाल-पाल की क्रांतिवादी त्रिकुटी करती थी इस युग में क्रांतिकारियों ने शक्ति के आधार पर अंग्रेजी शासन से

गद्य की विविध विधायें विकसित हुई। हिन्दी उर्दू के क्षेत्र बदले तथा सामाजिक यथार्थ और सांस्कृतिक राष्ट्रीय जागरण का बीजारोपण हुआ।

द्वितीय चरण के उत्थान में महावीर प्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व में भारतेन्दु युगीन चेतना को स्पष्टता, व्यापकता और घनत्व प्राप्त हुआ। वस्तुतथ्य के निरूपण में यथार्थगत सत्य को अपनाया गया। किन्तु मूल्यों की दृष्टि आदर्शगत सत्य पर ही रही। "भाषा का परिष्कार हुआ भाषा व्याकरण सम्मत बनी। शिल्प में स्पष्टता और निखार आया कविता में उपदेशात्मकता, इतिवृत्तात्मकता, चमत्कारात्मकता और भावात्मकता के स्तर विविध रूपों में व्यक्त हुए कर्तव्यरत मानवीयता की अभिव्यक्ति मैथिलीशरण गुप्त और अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की कविताओं में हुई। कहानी के क्षेत्र में नवयुग का आरम्भ अनुदित तथा मौलिक कथा लिखने से हुआ। सामाजिक चेतना में धुंधलापन छाया ही रहा।"[14]

तृतीय चरण का उत्थान प्राचीनता के प्रत्यावर्तन और वर्तमान के प्रति विद्रोह की धारणा से हुआ। गांधीजी के द्वारा चलाये गये असहयोग आंदोलन से कवियों को विद्रोह की प्रेरणा मिली। प्रसाद ने विषय, निराला ने शैली और पंत ने भाषा के क्षेत्र में विद्रोह कर छायावादी काव्य की सर्जना की। महादेवी वर्मा ने रहस्यवादी भाव बोध को प्रश्रय दिया। काव्य दार्शनिकता, बौद्धिकता, रहस्यमयता, स्वच्छंदता और मानवतावाद के रूप में प्रस्फुटित होने लगा। नाटक, उपन्यास, आलोचना, कहानी, गीतिकाव्य आदि विधाओं में एक ओर अध्यात्म के प्रति मोह, अतीत के प्रति गौरव, नवीनता के प्रति प्रेम, यथार्थ के प्रति उपेक्षा और कल्पना की अतिशयता है, तो दूसरी ओर निराशा, वेदना, प्रत्यायन और व्यक्तिवादी विद्रोह है प्रेमचंद यदि सामन्ती परम्पराओं का विरोध करते हैं, तो मजदूरों, गरीबों का पक्ष भी लेते हैं। वहीं प्रसाद कल्पना और भावुकता के लोक में विचरण करते रहते हैं।

यह युग कथा साहित्य की विराट भूमिका प्रस्तुत कर यथार्थवादी, पूँजीवाद विरोधी और प्रगति गामी चेतना का युग है। गद्य का व्यापक क्षेत्र व्याख्यात्मक है और पद्य का क्षेत्र कल्पनात्मक है। "यह युग हिन्दी साहित्य का संर्वांगीण विकास का युग था,जिसमें रामचन्द्र शुक्ल आलोचना की बागडोर संभालते हैं, तो प्रेमचंद कहानी उपन्यास की तथा प्रसाद, पंत,निराला कविता को सर्वोच्च शिखर प्रदान करते हैं। प्रसाद, पंत और निराला राष्ट्रीय स्वातंत्र्य के हिमायती, प्रजातंत्र के हिमायती और मानव के अंतर्निहित उत्कर्ष के हिमायती कवि "[15] रहे हैं।

"साहित्य के चतुर्थ चरण के उत्थान में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना 1936 ई. में हुई" [16] हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, हिन्दी प्रचारिणी सभा मद्रास और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा जैसी हिन्दी सेवी संस्थाओं के माध्यम से स्थायी साहित्य के निर्माण के कार्य हाथ में लिए गये। साहित्य का दृष्टिकोण यथार्थवादी हुआ। कविता प्रयोगाग्रही, नाटक सामाजिक, उपन्यास और कहानियाँ मनोवैज्ञानिक, आलोचना प्रभाववादी, उपयोगी साहित्य और भाषा जनानुकूल होकर नये शिल्प प्रयोगों में अभिव्यक्त होने लगे।

साहित्य में विविधता, स्वतंत्रता और प्रगतिशीलता का दौर आया। इस प्रकार साहित्य विकास की दिशा स्वच्छंदतावाद, राष्ट्रीयतावाद, आदर्शवाद और यथार्थवाद के क्रमिक स्तरों पर विकसित होकर सामाजिक चेतना की भावभूमि को व्यापक बनाने में संलग्न थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व की ये स्थितियां स्वातंत्र्योत्तर समाज के नवीनतम सन्दर्भों की रूपरेखा प्रस्तुत करती है। नंददुलारे वाजपेयी के अनुसार "किसी भी द्वन्द्वात्मक स्थिति में श्रेष्ठ साहित्य वह है जो प्रगतिशील सामाजिक और अर्थनीतिक आदर्शो से संचालित है "[17] जो विद्रोही साहित्य है। श्रेष्ठ साहित्य सम्बन्धी यह मार्क्सवादी धारणा साहित्य के कलात्मक, भावात्मक और मानवीय मूल्यों का कितना तिरस्कार करती है। इतना ही नहीं मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन के अनुसार बुरे काव्य की जिम्मेदारी व्यक्ति की नहीं समाज की है।

भारतीय समाज :-

समाज के दो आधार स्तम्भ है, पहला उसका संगठन तथा उसे निर्देशित करने वाली सामाजिक

संस्था के विभिन्न सामाजिक वर्ग। दूसरा सामाजिक विचारधारा तथा उसका अभिव्यक्त रूप रीति-रिवाज, परम्परा, प्रथायें तथा सामाजिक मान्यतायें। "संगठन का आधार समाज की आर्थिक प्रणाली निश्चित करती है, अत: श्रम विभाजन के आधार पर ही सामाजिक संस्थानों तथा सामाजिक वर्गों का संगठन होता है" [18] मध्ययुगीन भारतीय समाज का ढांचा वर्ण व्यवस्था तथा संयुक्त परिवार इन दो सामाजिक संस्थाओं पर आधारित था। किन्तु नवीन औद्योगिक आर्थिक व्यवस्था से इन संस्थाओं का विघटन स्वाभाविक था, और उनका स्थान लेने के लिए नये सामाजिक वर्गों का उदय निश्चित था। यह विघटन तथा नवीन सामाजिक वर्गों के निर्माण की प्रक्रिया 19वीं सदी से ही आरम्भ हो गई थी।और आज भी चल रही है रीति-रिवाज, प्रथायें तथा सामाजिक मान्यतायें, संगठन तथा सामाजिक व्यवस्था की तुलना में शीघ्र समाप्त हो सकते हैं। यही कारण है कि भारतीय समाज की मध्ययुगीन मान्यतायें आज शीघ्रता से मिट रही हैं। लेकिन वर्ण-व्यवस्था तथा संयुक्त परिवार आज भी विघटित अवस्था में ही विद्यमान हैं।

"सामाजिक संगठन की दृष्टि से भारतीय समाज आज भी संक्रमण की स्थिति में है"[19] स्वतंत्रता मिले भारत को आधी शताब्दी होने को है, किन्तु आज भी संयुक्त परिवार तथा वर्ण-व्यवस्था भारतीय समाज को प्रभावित करते हैं, वहीं दूसरी ओर नवीन सामाजिक वर्ग भी सम्मलित हो चुका है जो कि सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टिकोण को निर्धारित करने लगा है। "नवीन औद्योगिक आर्थिक प्रणाली तथा राष्टीय आर्थिक इकाई की मांग थी कि श्रम विभाजन का आधार भी बदले "[20] और हुआ भी ऐसा नये धंधों ने जन्म लिया। और यातायात की द्रुतगामी सुविधा के कारण व्यक्ति जीविकोपार्जन के लिए शहरों की ओर भागा इससे जाति-भेद आदि का भेदभाव मिटना आरम्भ हुआ और आज तो शहरों में लगभग समाप्त ही हो गया किन्तु अशिक्षा और समुचित विकास के अभाव में गांव अभी भी इस कुप्रथा का शिकार हैं भारतीय समाज निरंतर संक्रमण शोषण और बदलाव के कारण परिवर्तनशील रहा है" "विचित्र देश है यह असुर आये, आर्य आये, हूण आये, नाग आये, यक्ष आये, गन्धर्व आये न जाने कितनी मानव जातियां यहां आई और आज के भारत वर्ष के बनाने में अपना हाथ लगा गई।" [21]

"संघर्षों से मनुष्य ने नई शक्ति पाई है मुझे मानव जाति की दुर्लभ, निर्मम जीवन धारा के हजारों वर्षों का रूप साफ दिखाई दे रहा है। मनुष्य की जीवन शक्ति बड़ी निर्मम है, वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और वृतों को धोती बहाती यह जीवन धारा आगे बढ़ी है।"[22] "हमारे सामने समाज का आज जो रूप है वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है, देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बात की बात है।"[23]स्वतंत्रता के पश्चात् हमारा पुराना सामाजिक और आर्थिक ढांचा बदल रहा है और नयी समस्याएं सामने आ रही हैं भारतीय समाज का सम्पूर्ण ढांचा ही राजनैतिक सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तनों से प्रभावित है। नैतिक और सामाजिक पक्ष भी इससे अछूते नहीं रहे। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि आज का भारतीय समाज एक लम्बे बदलाव की कहानी है। "हम आज जिस समाज और संस्कृति को बहुमूल्य संस्कृति मान रहे हैं, वह क्या ऐसी ही बनी रहेगी, सम्राटों और सामंतों ने जिस आचार निष्ठा को इतना मोहक और मादक रूप दिया था वह लुप्त हो गई। धर्माचार्यों ने जिस ज्ञान और बैराग्य को इतना महान् समझा था, वह समाप्त हो गया, मध्ययुग के मुसलमान रईसों पर जो रस राशि उमड़ी थी वह वाष्प की भांति उड़ गई। कहते हैं दुनियां बड़ी भुलक्कड़ है। केवल उतना ही याद रखती है जिसमें से उसका स्वार्थ सधता है बाकी को फेककर आगे बढ़ जाती है।"[24]

वर्षों गुलामी के वातावरण में अपनी आकांक्षाओं का निरंतर हनन होते रहने के कारण प्रत्येक भारतीय स्वतंत्र भारत में सुख-समृद्धि से रहने के स्वप्न देखने लगा। जिसका सर्वाधिक प्रभाव सामाजिक संबंधों पर दृष्टिगोचर हुआ। धर्म और जातीयता के दबाव हटते ही अब व्यक्ति समाज की ओर से हट कर व्यक्तिगत समस्याओं तथा अपनी सुख-सुविधा तक सीमित होने लगा। "एक तरह से स्वतंत्रता पश्चात् प्रत्येक व्यक्ति अपने एक मात्र लक्ष्य अर्थ संग्रह के कारण सामूहिक सामाजिक व्यवस्था से कटकर अर्थ

आश्रित सामाजिक व्यवस्था में जी रहा था।"[25] जहां उसका महत्व बृद्धि से नहीं धन से आंका जाने लगा फलत: पुराने जातिगत वर्ग आधार तो समाप्त हो गये थे, किन्तु उनका स्थान नवीन सामाजिक आर्थिक वर्गों ने तेजी से ग्रहण कर लिया।

पिछली सदियों का राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक संक्रमण ही वर्तमान भारतीय समाज को परिवर्तित रूप में पहुंचाने का जबावदेह है, और इसमें भी मुसलमानों से अधिक अंग्रेज। अंग्रेजों ने भारत का ऐसा शोषण किया कि एक तरफ सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था चौपट हो गयी, दूसरी तरफ देश पूरी तरह कंगाल हो गया था। व्यापार करने आये फिरंगियों ने ऐसे पांसे फेके कि किसी की एक न चली और देखते ही देखते भारत का सामाजिक ढांचा चरमराने लगा।

सामाजिक व्यवस्था के बदलने के कारण जहां "पहले समाज में मुख्यत: दो वर्ग थे, उच्च और निम्न। उच्च वर्ग में राजा, सामंत, योद्धा, धनिक, व्यवसायी थे। निम्न वर्ग में किसान और कर्मकार थे। भारत में अंग्रेजी शासन के पैर जमने के उपरान्त उच्च और निम्न के बीच मध्य वर्ग का उदय हुआ।"[26] "आजादी का लक्ष्य पूरा हो जाने के बाद स्वार्थी लोगों की आपाधापी के कारण देश में फैली निराशा और टूटन की भावना एक ओर है, तो दूसरी ओर विज्ञान के साधनों से विश्व चेतना से निकटता के कारण मानव मात्र के उत्थान की चाह हमारे मन में है।"[27] "वर्तमान समय में हमारा पुराना सामाजिक और आर्थिक ढांचा बदल रहा है और नयी समस्याएं सामने आ रही हैं।"[28]

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में नये समाज का अभ्युदय हुआ। गांधी द्वारा स्वतंत्रता के पहले चलाये गए जातिवादी विरोधी आंदोलन पूर्णत: सफल हो चुके थे फलत: हजारों वर्षों से चली आ रही जाति-व्यवस्था टूट गई। समाज में शिक्षा, प्रगतिशीलता, सम्पन्नता जैसे कारणों से भेदभाव समाप्त होने लगा। सरकार ने भी जातिवादी भेदभावों के लिए दंडनीय अपराध घोषित कर दिया। रूढ़ियों की बेड़ियां निरन्तर तरक्की की ओर बड़ते समाज में ढीली पड़कर टूटने लगी। सामाजिक विसंगतियों के कारण जो शोषण युगों से चला आ रहा था उसमें अप्रत्याशित कमी आई। स्वतंत्रता के बाद भारत सरकार ने धीरे-धीरे समाज निर्माण की बागडोर अपने हाथों में संभाली और भारतीय समाज को नये रूप में व्यवस्थित करने का प्रयास किया। "स्वातंत्र्योत्तर भारत केवल गांधी, नेहरू के व्यक्तित्वों और विचारधारा से प्रभावित नहीं रहा था, बल्कि नरेन्द्रदेव, राममनोहर लोहिया और पी. सी. जोशी की विचारधारा से भी प्रभावित हो रहा था। जिसमें लोहिया का प्रभाव सर्वाधिक था।"[29]

लम्बी प्रतीक्षा, संघर्ष, त्याग एवं बलिदान के बाद 15 अगस्त 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ, किन्तु स्वतंत्रता का सारा हर्ष एवं उत्साह हिन्दुस्तान, पाकिस्तान के विभाजन की निराशा और विषाद में बदल गया। "हिन्दू मुसलमानों मे साम्प्रदायिकता खुलकर प्रकट हुई। लाखों लोग बेघर हुए असंख्य प्राणियों की नृशंस हत्यायें हुई। मनुष्य-मनुष्य के शत्रु के रूप में सामने आया। स्वतंत्रता के एक वर्ष बाद ही महात्मा गांधी की हत्या से देश का भविष्य धूमिल हो गया। देश की बागडोर संभालने में शासकों की पदलिप्सा, धनलिप्सा एवं अधिकार भावना ने स्वतंत्रता के कल्पित स्वर्ग को धाराशायी कर दिया।"[30]

मोह भंग

नेहरू के नेतृत्व में जिस मध्यमार्गी सत्ता की स्थापना हुई थी। उसे राजनैतिक लूटमार और षड़यंत्रों का शिकार होते देर न लगी। विशाल पंचवर्षीय योजनाओं में गरीबी और असमानता को दूर करने का जो समाजवादी लक्ष्य रखा गया था। उसके खोखलेपन का सबूत मिलते अधिक देर न लगी। प्रशासन पर बैठा अंग्रेजपरस्त नौकरशाह तबका, उद्योगों पर बैठी विदेशी पूंजी और भारतीय पूंजीवाद की जड़ें और अधिक मजबूत हो गयीं। करोड़ों की संख्या में पढ़े लिखे युवकों का तबका बेरोजगार होता गया और क्षेत्रीय स्तर पर व्यापारी, छुटभैये नेताओं और पूंजीपतियों का नयाजाल पूरे देश को बुरी तरह जकड़ गया। "प्रजातंत्र में आर्थिक-वितरण, उत्पादन-नियमन आदि के अपने संस्कार होते हैं यानी देश में आर्थिक संस्कृति का एक भी उद्भावना चिन्ह मौजूद दिखाई नहीं देता। यदि उसका कोई रूप है तो यही कि जिन वर्गों ने इस आर्थिक शक्ति को दूषित कर अपने स्वार्थ के हित की साधना की है वे सामाजिक रूप

से भी शक्तिशाली हुए हैं वे जनता का दिल, दिमाग और आवाज बन गये हैं।"[31] संक्षेप में कहें तो वह एक ऐसा माहौल था जिसमें एक आजादी को छोड़कर शेष सब जैसा का तैसा था। सामाजिक क्रांति के अभाव में सारी सामाजिक शक्तियाँ कुण्ठित हो रही थीं और आम जनता की मुश्किलें बढ़ती ही जा रही थीं।

मोहभंग की यह तत्कालीन प्रक्रिया अकेली नहीं है। उसके प्रभाव का क्षेत्र कहीं ज्यादा है लेकिन यह सत्य है कि जीवन में जो कुछ एक औसत के अनुसार सोच रखा था वह स्वप्न देखते ही देखते खण्डित होने लगे और फिर तो यह निश्चित हो गया कि आजादी का कोई ठोस अर्थ तब तक नहीं निकलता जब तक कि समाज में नित्य चौड़ी होती जा रही आर्थिक असमानता की खाई को पाटने के लिए क्रांतिकारी प्रयास नहीं किये जाते। जिसे हम सामंतवाद या पूंजीवाद या उच्च वर्ग कहते हैं।

"स्वतंत्र भारत की प्रधान स्थिति मोहभंग की रही है इस मोहभंग की बिडम्बना, तर्कहीनता या देखने में कुछ और पहचानने में कुछ और में निहित है।"[32] धीरे-धीरे निर्मित होती स्थिति से साफ लगने लगा कि अंग्रेज परस्त सामंत, भ्रष्ट नौकरशाह और राजनीतिज्ञों के सोचे समझे षड्यंत्र के तहत देश को एक ऐसी स्थिति में पहुँचाने की कोशिशें चल रहीं हैं जहां पहुंचकर देश के गरीब तबके को सिर्फ पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में पिसना है। "लोहिया ने कहा था जिसको क्रांति चाहिए उसके अंदर शक्ति है ही नहीं और शायद वह सचेत रहकर उसकी चाह भी नहीं रखता। और जिसमें शक्ति है उसको क्रांति चाहिये नहीं। इसी से जुड़ी वह मानवीय धारणा है कि अभ्यास से लड़ाई लड़ने वाले सत्ता में आते हैं तो उनका ध्यान न्याय के निर्माण से अलग हो जाता है।"[33]

ब्रिटिश शासित भारत में और स्वतंत्र भारत के आरम्भिक दिनों में कोई विशेष अंतर नहीं दिखाई दिया। कांग्रेस सरकार में पूंजीपतियों, उद्योगपतियों की तूती बोलती थी। मजदूर किसानों की सुनने वाला कोई नहीं था। राष्ट्र के गरीब तबके के लिए सुविधा और समाजवादी व्यवस्था अभी तक कल्पना थी वर्ग विषमता अपने पूर्वानुसार यथावतरूप में बढ़ती ही जा रही थी। भारत की आजादी सचमुच एक सुविधा सम्पन्न वर्ग की स्वतंत्रता प्रतीत होती थी। इस परिस्थिति में बुद्धिजीवी वर्ग का मोहभंग हुआ और उसने स्वतंत्र भारत के शासकों की,उनकी व्यवस्था की तथा भ्रष्टाचार आदि प्रवृत्तियों की खुलकर आलोचना की। प्रगति युगीन काव्य में भारतीय स्वतंत्रता एवं शासन व्यवस्था पर कटु व्यंग्य किये गये। भौतिक जीवन की प्रमुख संस्था है समाज, जिसका मूलाधार है अर्थ, और जब अर्थ के उत्पादन और वितरण पर किसी व्यक्ति या वर्ग का एकाधिकार हो जाता है तो उस राष्ट्र में अराजकता,अशान्ति और दुखों की बाढ़ आ जाती है। उस समाज तथा राष्ट्र में दो वर्ग बन जाते हैं। पहला उच्च वर्ग दूसरा निम्न वर्ग। इस व्यवस्था में समाज के एक वर्ग को जीवन की सुविधाएं आवश्यकता से अधिक उपलब्ध होती हैं तो दूसरा वर्ग जीवन की आवश्यक सामग्री ही नहीं जुटा पाता। मार्क्स ने इस विषमता को दूर करने के लिए वर्ग संघर्ष की आवश्यकता पर जोर दिया। मार्क्स के अनुसार संघर्ष से ही समाज में समानता का उदय होगा।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में नये समाज का अभ्युदय हुआ, महात्मा गांधी द्वारा स्वतंत्रता के पहले चलाए गए जातिवादी विरोधी आंदोलन पूर्णत: सफल हो रहे थे, फलत: हजारों वर्षों से चली आ रही जाति व्यवस्था टूटने लगी। समाज में शिक्षा, प्रगतिशीलता सम्पन्नता जैसे कारणों से वर्ग भेद समाप्त होने लगा। सरकार ने भी जातिवादी भेदभाव के लिए दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया जिससे समाज के दलित, पिछड़ों और अस्पृश्य समझी जाने वाली जाति वर्गों को सामाजिक मान्यता मिली तथा उनके जीवन स्तर में सुधार आरम्भ हुआ।

एक ओर भारतीय समाज में व्याप्त कुरीतियों के उन्मूलन का प्रयास चल रहा था तो दूसरी ओर अंग्रेजों द्वारा किये गये आर्थिक शोषण से राष्ट्र की नींव हिल चुकी थी। इसलिए देश को, समाज को एक सुदृढ़ आर्थिक विकास की आवश्यकता प्रमुख थी। इसलिए भारत सरकार ने औद्योगिकीकरण को बढ़ावा देना अंग्रेजों के बाद स्वतंत्र भारत की राष्ट्रीय नीति का प्रमुख अंग रहा। इसके परिणामस्वरूप राष्ट्र को मिश्रित अर्थव्यवस्था स्वीकार करना पड़ी। जिसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर आर्थिक क्षेत्र में सफलता हासिल करने लगी किन्तु उसके साथ-साथ आम व्यक्ति के जीवन स्तर ऊंचा उठ जाने के कारण

उसकी आवश्यकताओं में भी वृद्धि होने लगी। अतःराष्ट्र की बागडोर संभालते ही भारत को शीघ्र ही विदेशों का याचक बनना पड़ा। जो आज दशवें दशक के उत्तरार्द्ध तक जारी है। भारत ने जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में पंचवर्षीय योजना द्वारा निश्चित समय में देश के सम्पूर्ण क्षेत्रों में विकास कार्य आरम्भ हुआ, परन्तु प्रथम योजना के द्वारा किये गये औद्योगीकरण के प्रयास से अल्पविकास तो हुआ, लेकिन बड़े पैमाने पर पूंजीवादी अर्थव्यवस्था को प्रश्रय मिलने लगा। औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप आर्थिक एवं सुविधाजन्य सामग्री की लोलुपता के कारण ग्रामीण श्रमिक वर्ग नगरों में जाना आरम्भ हुआ। फलतः द्वितीय पंचवर्षीय योजना तक कृषि उत्पादन में आत्मनिर्भरता जैसे लक्ष्य निरर्थक होने लगे ,और 1970 तक पंचवर्षीय योजना जो ढेर सारे लक्ष्य लेकर चल रही थी उसका कोई सारभूत परिणाम नहीं निकला। "पंचवर्षीय योजना द्वारा देश में एक प्रकार की आर्थिक स्थिरता तो आई परन्तु इस योजना में कुछ कमियां भी थी। योजना मानवीय साधनों की अपेक्षा पूंजीपक्ष पर ही विशेष निर्भर थी। और उसमें देश के साधनों का भलीभांति अनुमान नहीं किया गया था।"[34]

भारत द्वितीय महायुद्ध के संकटों से लम्बे समय तक जूझता रहा। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय जीवन में देश-विभाजन एवं साम्प्रदायिक तनाव के कारण प्रसन्नता और उत्साह दिखाई नहीं दिया। 1940 से 1950 के इस दशक को परम्परा के अस्वीकार एवं आत्मान्वेषण का युग कहते हैं। सदियों उपरांत देश को प्राप्त संविधान के गौरवमय वातावरण ने देश विभाजन, साम्प्रदायिकता, गृह कलह और शरणार्थी समस्या को ज्यादा उभरने से रोका। प्रत्येक भारतीय नागरिक को यह बात गौरवान्वित कर रही थी कि हमारा देश सम्प्रभुता सम्पन्न गणराज्य हो गया। सन् 1952 में देश में प्रथम आम चुनाव हुआ इस आम चुनाव ने देश में स्वतंत्रता की नींव रखी। देश के अधिकांश राज्यों में कांग्रेस ने सत्ता संभाली, इस प्रकार लोकप्रियता और वैभव के साथ नेहरू युग का प्रारम्भ हुआ। रियासतों में विभक्त भारत सरकार ने तत्कालीन गृहमंत्री सरदार वल्लभभाई पटेल के अथक प्रयास से अखण्ड भारत बनकर एक संविधान और राष्ट्रीय झण्डे के नीचे आया।

कांग्रेस शासन ने देश के चहुँमुखी विकास के लिए 1952 में प्रथम पंचवर्षीय योजना का सूत्रपात किया सन् 1956 में अवाडी अधिवेशन में भारतीय कांग्रेस ने समाजवादी ढंग के विकास का नारा देकर देश के बुद्धिजीवियों को पूरी तरह आश्वस्त कर दिया कि उनके विभ्रम, संकट एवं संघर्ष के दिन लद गये, तथा समता, सम्मान एवं समृद्धि के दिन आ गये हैं। इस बदली हुई मानसिकता का प्रभाव सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में भी दिखाई दिया। सम्पूर्ण राष्ट्र के गरीबों, खेतिहर किसानों, मजदूरों को नया विश्वास मिला। कृषि विकास हेतु योजना के तहत सरकारी सहायता के साथ सिंचाई सुविधाएं मिलने से ग्रामीणों में नयी जागृति देखी गई। स्वतंत्र भारत के प्रथम दशक में शिक्षा के क्षेत्र में भी प्रगति हुई जिससे नवीन किशोर पीढ़ी में शिक्षा के विकास के साथ आधुनिकता के प्रति मोह जाग्रत हुआ। गांवों में आवागमन हेतु मोटर-गाड़ियों का प्रसार किया गया। स्वास्थ्य संबंधी व्यवस्था पर भी जोर दिया गया। अनेकानेक खतरनाक बीमारियों के बारे में जन-जागरण के प्रयास काफी सफल हुए।

जिला स्तर पर ग्रामीण विकास की योजनाओं का निर्माण किया गया। प्रशासन के विकेन्द्रीकरण की दृष्टि से लोकतांत्रिक तरीकों से ग्राम पंचायतों का गठन किया गया जिससे गांवों में प्रशासन की प्रतिष्ठा हो सके तथा न्याय सहज सुलभ हो सके। विकास योजनाओं के साथ ही बिजली तथा डीजल भी गांव तक पहुंचा। दैनिक उपयोग का सामान तैयार करने के लिए डीजल का प्रयोग अनिवार्य शक्ति के रूप में किया जाने लगा।

इस प्रकार भारत के ग्रामीण परिवेश में परिवर्तन दिखाई देने लगा। उधर प्रथम पंचवर्षीय योजना के तहत बड़े शहरों में नये-नये परिवर्तन सामने आये। बड़े शहरों में राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय महत्व के मशीनी उद्योगों की स्थापना होने लगी। अनिवार्य तकनीकी सहायता व साधन सुविधाओं के कारण कल-कारखानों का विस्तार होने लगा परिणामस्वरूप गांवों में पनप रहे कुटीर एवं लघु उद्योगों की ओर से लोगों का आकर्षण टूटने लगा। ग्रामीण शिक्षित नवयुवक आधुनिकता से जुड़ने के लिए ग्रामों से शहरों की ओर पलायन करने लगे। जिससे शहरों की आबादी तेजी से दुगनी चौगुनी हो गयी।

विकास और नागरिक संस्थाओं के बीच तारतम्य बनाये रखने की दृष्टि से शहरों में टेक्नीकल कॉलेज, मेडीकल कॉलेज तथा अनेक प्रकार के प्रशिक्षण केन्द्र खुलना आरम्भ हुए जो भारतीय समाज की व्यवहारिक प्रगति की सीढ़ी थे। इस तरह भारतीय समाज ने स्वतंत्र भारत में प्रगति के पथ पर कदम बढ़ाये। सहकारी आंदोलन द्वारा भारतीय जनता के विकास और कल्याण के साधन जुटाने का अभिनव प्रयोग किया गया। तकनीकी प्रशिक्षण का महत्व बढ़ने लगा अत: युवा पीढ़ी प्रशिक्षण के बाद अच्छी नौकरी के मोह में गांवों, कस्बों, छोटे शहरों से बड़े शहरों की ओर भागने लगी। शहरी सभ्यता ने गांवों की अपेक्षा आर्थिक तौर पर विकास कर लिया। समाचार पत्र, रेडियो और टी. व्ही. आधुनिक पुस्तकीय ज्ञान से भारतीय शहर भी विदेशों के बड़े शहरों जैसे दिखने लगे।

इस सबके बावजूद नेहरू के सिद्धांतों, कार्यों और उपलब्धियों को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। उन्होंने जनतांत्रिक व्यवस्था को सामंती और पूंजीवादी व्यवस्था से बचाने के लिए समाजवादियों से सहयोग पाने का प्रयत्न भी किया परन्तु उनके आपसी मत वैभिन्य के कारण यह संभव न हो सका, फिर भी नेहरू जी की तटस्थ नीति, पंचशील के सिद्धांतों के कारण भारत जनतंत्र उनके हाथों में सुरक्षित रहा।

यद्यपि राष्ट्र नायकों ने भारत वर्ष को स्वतंत्रता, समानता एवं समभाव के आधार पर विकसित करने की घोषणा की थी, परन्तु परिस्थिति ठीक इसके विपरीत रही। स्वतंत्रता उपरान्त भारत में अनेक वर्ग पैदा हो गये नेता वर्ग, सरकारी वर्ग, शोषक वर्ग, श्रमिक वर्ग, ठेकेदार वर्ग एवं खेतिहर, कृषक, मजदूर वर्ग आदि।

"सन् 1952 से लेकर आज तक आम चुनावों में इस देश में जो परिवेश परिलक्षित हुआ, जिस प्रकार की जीवन व्यवस्था पनपी उस सब को उस काल के साहित्य में गंभीरता से स्थान मिला है। सामंतकालीन जीवन पद्धति की जो रूढ़ियाँ अंग्रेजों के प्रवेश से और इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रांति के दूरागत प्रभाव से बहुत दिनों से शिथिल होती चली आयी थी वे हमारे काल में सहसा कड़कड़ाकर टूट गयीं।"[35]

स्वतंत्र भारत की राजनैतिक आर्थिक व्यवस्थाओं ने भारत के पारस्परिक सामाजिक ढांचे में अत्याधिक परिवर्तन कर दिया। "आप जानते हैं कि सन् 1964 के बाद से हमारे देश में मोह भंग की स्थिति आयी है। हमारे मन में सन् 1952 के आस-पास एक तरह का मोह था उसे चाहे राष्ट्र का मोह कहें या प्रजातंत्र का मोह कहें। हमें लगा था कि यह जो पंचवर्षीय योजना है, इससे हमारा जीवन धीरे-धीरे सुन्दर और सार्थक होता चलेगा कोई लड़ाई नहीं लड़नी पड़ेगी यह गलत सिद्ध हो गया।"[36] सामाजिक सुधार के पहले आवश्यक है राजनैतिक सुधार। " आज इस विकल्प की वास्तविकता को ही हम शायद मानने को तैयार नहीं होंगे एक तो प्रखर होते हुए राजनैतिक संघर्ष में सामाजिक सुधार की मांग दब गयी, दूसरे शायद सामाजिक सुधार की मांग का एक कारण यह था कि राजनैतिक अभिव्यक्ति की बाधाओं से कुण्ठित होकर ही बहुत से पढ़े-लिखे लोग समाज सेवा की ओर बढ़ते थे। जब राजनैतिक सेवा का क्षेत्र खुल गया तब परिस्थिति बदल गयी।" [37]

आज का युग विज्ञान का युग है इस युग में मानव जीवन किसी एक देश की इकाई न रहकर सम्पूर्ण विश्व समाज का अंग बन गया है। उसके व्यक्तित्व का निर्माण देश-विदेश की परिस्थितियां सभ्यता एवं संस्कृतियां कर रही हैं शरीर से मनुष्य एक देश का हो सकता है और आज तो उसमें भी तेजी से परिवर्तन हो रहा है। "किन्तु उसके आचार-विचार, नीति, धर्म, शिक्षा, जीवन मूल्यों पर बड़ी तीव्रता से देश-विदेशों का प्रभाव पड़ रहा है।"[38]

"बीसवीं शताब्दी अपनी खंडित आस्थाओं के लिए विशेष प्रसिद्धहै।"[39] समाज शब्द एक व्यापक सन्दर्भ लिए हुए है। धर्म, दर्शन, अर्थ, राजनीति, व्यष्टि, सभ्यता, संस्कृति, विज्ञान सभी का समावेश समाज में होता है जीवन की प्रत्येक गतिविधि में समाज अर्न्तनिहित है। युग सन्दर्भ बदल जाने पर समाज में भी जीवन के किसी एक पक्ष का प्रभाव होता है तो कभी दूसरे का। अत: समाज निरंतर

परिवर्तनशील रहता है जैसे "जब जीवन में धर्म की आस्था प्रबल थी तब शक्ति साहित्य की रचना हुई और जब धर्म की रूढ़ियाँ, समाज की व्यवस्थायें जीवन पर बोझ बन गई और उनसे मुक्ति पाने के लिए सुधारवादी आंदोलनों का सूत्रपात हुआ तब सुधारवादी रचनाओं का प्राधान्य हुआ। इस प्रकार युग परिवर्तन के अनुरूप काव्य में सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति होती है।"[40] "आज समाज में तीन विषयों का प्राधान्य है, विज्ञान, राजनीति एवं अर्थ। इन तीनों के चक्र में व्यक्ति तथा समाज घूम रहा है। सम्पूर्ण समाज में प्रतिस्पर्धा का जन्म हुआ है जिसमें सभी मानव-मूल्य पिसते जा रहे हैं। समाज के प्रत्येक कोने में संदेह और अविश्वास का धुंआ फैल रहा है। बड़ी विचित्र स्थिति है। दुनिया विज्ञान के कंधे पर चढ़कर विकास कर रही है विज्ञान का आग्रह सत्य का आग्रह है उसके कंधे पर चढ़कर चलने वाला अविश्वासी माना जाता है।"[41]

समाज में राजनीति की कृपा का फल है कि व्यक्ति, व्यक्ति की दूरी बढ़ती ही जा रही है। विचारों में वैषम्यता बढ़ती जा रही है।"कथन और कार्य में अंतर राजपुरूष ने उत्पन्न किया, दिखावा और वास्तविकता में भेद राजपुरूष ने पैदा किया, अधिकार और कर्त्तव्य में विषमता राजपुरूष का गुण हुआ, समता और असमता का बीजारोपण राजपुरूष ने किया,एकता और बिखराव इन्हीं की वासना का परिणाम है। एक छोटा सो झूठ बोलने पर धर्मराज का अंगूठा गल गया था और आज स्थिति क्या है ?[42] पूरा राष्ट्र और समाज आंकड़ों में टिका है" और कागज की नाव पर बैठ कर चल रहा है।[43]

आज असुरक्षा, आकर्षण और अधिपत्य के मोह में पड़कर गांव शहरों की ओर दौड़े जा रहे हैं। नगरों महानगरों में एक प्रकार की होटल संस्कृति बढ़, फैल रही है। मनुष्य अपनी केंचुल फाड़कर बाहर निकलने की छटपटाहट में लगातार गिरता ही गया है। सारे मूल्य ताक पर रखकर "जाति धर्म सम्प्रदाय के बंधनों से अलग होकर नये समाज की संरचना का भाव, एक प्रकार की विश्वमैत्री का स्वप्न, पत्नी से अधिक प्रेमिका पर विश्वास, नाते-रिश्तेदारी से अधिक मैत्री का भरोसा इन महानगरीय और कार्यालयीन संस्कृति में पनप चुका है।"[44] लेकिन वोट की राजनीति में सम्पूर्ण समाज को जाति, वर्ण, वर्ग, सम्प्रदाय धर्म के अनेक वर्गों में बांटकर मनुष्य-मनुष्य के मध्य द्वेष, बैरभाव और गृह युद्ध की स्थितियां निर्मित होती जा रही हैं।

आज 21वीं सदी के पहले दशक में मुझे भारतीय समाज विषय पर लिखने में यह दुविधा हो रही है कि निश्चित सीमाओं में मैं पिछले पचास वर्षों से बदले हुए भारतीय समाज की गाथा कैसे समाहित करूं ? जो पिछले 48 वर्षों के स्वतंत्र भारत के इतिहास से नवां दशक और उसकी राजनैतिक क्रूरता हमेशा इतिहास के पन्नों में दर्ज रहेगी। इस दशक में "व्यवहारिक लोकतंत्र में दो-दो प्रधानमंत्रियों की हत्या ने सभी के समक्ष असुरक्षा को लेकर सवाल खड़ा कर दिया।"[45] "आतंकवाद चारों दिशाओं से उठा और मण्डल-कमण्डल के प्रतीकों ने समाज को जाति, वर्ग, वर्ण सम्प्रदाय के इतने विभिन्न वर्गों से बांटा कि पड़ोस-मुहल्ले की आत्मीयता भी समाप्त प्राय हो गई।"[46] राजनीति और राजनेता दोनों ही संदेह के घेरे में आ गये। आज स्थिति ये है कि संसद और विधानसभाओं में अपराधियों का बोलबाला है "प्रायः अपराधी और राजनैतिक लगभग पर्यायवाची हो गये हैं। अपराधियों ने राजनीतिज्ञों को आगे बढ़ाया और राजनीतिज्ञों ने अपराधियों का संरक्षण दिया। संदेह, अविश्वास, आतंक, साम्प्रदायिकता, मिलावट, सुविधाशुल्क, अकमर्ण्यता के रथ चारों तरफ दौड़ रहे हैं। प्रशासन और प्रशासक भी आज सर्वत्र जातिवाद, मक्कारी, आंकड़ेबाजी और लेन-देन के नशे में डूबे हुए हैं। इस देश में नीचे से लेकर ऊपर तक सारा तंत्र भ्रष्टाचार में फंस चुका है।" गांवों से लेकर महानगरों तक इनके छोटे-बड़े संस्करण फैले-पसरे हैं। अपने मुंह सभी चरित्रवान होने का दम भरते हैं लेकिन आज वास्तव में हर क्षेत्र में चरित्रवान की बड़ी दुर्दशा है और समाज में असल अल्पसंख्यक यही रह गये हैं।"[47]

अतः स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में नित नया घटित होता देखा गया है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है किन्तु भारतीय समाज की प्रगति सकारात्मक कम और नकारात्मक अधिक रही। स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय समाज ने धीरे-धीरे अपनी पुरातन कुरीतियों को त्यागा है तो नयी बुराईयों को आत्मसात

भी किया है। अर्थ और काम के प्रति भारतीय समाज ने पश्चिमी-सभ्यता का अनुकरण किया। स्वतंत्र्योत्तर काल भारत का परिवेश (आर्थिक, सामाजिक) राजनीति के घन-चक्कर में घूमता दिखाई देता है।

स्वतंत्र भारत में उच्च, मध्यम और निम्न वर्ग

भारत में राम-राज्य कभी नहीं रहा। यहां सदियों से पूंजी पर व्यक्ति का निजी अधिकार चला आ रहा है। आज राष्ट्र को स्वतंत्र हुए लगभग आधी शताब्दी हो गई है, और भारतीय समाज की स्थिति पूंजी के असमान वितरण के कारण बद से बदतर होती जा रही है।'' जब अर्थ के उत्पादन और वितरण पर व्यक्ति का निजी अधिकार हो जाता है तभी संसार में युद्ध,अशांति और दुखों का जन्म होता है।''[48]

गुलामी के पहले भारतीय समाज दो वर्गों में विभाजित था, उच्च वर्ग और निम्न वर्ग। किन्तु अंग्रेजी शासन और संस्कृति भारतीय समाज में एक तीसरा वर्ग पैदा कर गये। वह है मध्य वर्ग। ''यह मध्यमवर्गीय समाज भी दो तरह का है,ऊपर से घटकर नीचे उतरने वाला और नीचे से बढ़कर ऊपर जाने वाला।''[49] सामाजिक विकास की दृष्टि से भारत का बीसवीं शताब्दी का इतिहास पूंजीवाद के विकास का रहा है।

आज प्राचीन सामाजिक संस्थाओं की उपयोगिता निरंतर कम होती जा रही है तथा समाज की अर्थ-वर्गीय संस्थायें प्रबल होती जा रही हैं। युग का चिन्तन भी सामाजिक वर्गों को आधार बनाकर चल रहा है। आज वर्ण-व्यवस्था की तुलना में वर्गीय-सभ्यता में आपसी संघर्ष बढ़ता जा रहा है। यह संघर्ष मानव, मानव का नहीं अर्थ और श्रम का है। समाज दो आधार-स्तम्भों पर चलता है प्रथम उसका संगठन तथा उसको निर्धारित निर्देशित करने वाली सामाजिक संस्था के विभिन्न वर्ग। द्वितीय सामाजिक विचारधारा तथा उसके द्वारा निर्मित रीति-रिवाज, प्रथायें, परम्परायें एवं सामाजिक मान्यताएं। किन्तु संगठन का आधार समाज की आर्थिक स्थिति ही निश्चित करती है। एक ऐसे समाज में जिसने कुछ दशकों पहले सदियों की गुलामी और औपनिवेशिक शोषण से मुक्ति पायी हो तथा जहां स्वतंत्रता के पश्चात् पूंजीवादी और सामंतवादी नैतिकतायें और व्यवस्थायें एक ही साथ विद्यमान हों, वहां मानवीय-आचरण और मानवीय-विचार के बीच एक ऐसी खाई पैदा हो जाती है कि मनुष्य के अंतर्विरोध अत्यन्त उग्र विचित्र स्थिति निर्मित करते हैं। आज भी भारत में सामंतवादी जीवन प्रणाली के मूल्य और मान्यतायें समाज में अपना सिक्का जमाये हुये हैं और साथ में पूंजीवादी जीवन प्रणाली की निर्मित होती हुई नयी व्यवस्था में स्वयं एक आवश्यक विरोध मौजूद है।

विपरीत व्यवस्थाओं और विरोधी मूल्यों के बीच इस संक्रमण कालीन समय में व्यक्ति आंतरिक रूप से विभक्त हो गया है। आज एक ओर शोषित, पीड़ित,अधिकारहीन वंचित आदमी का त्रासद यथार्थ है तो दूसरी ओर विशाल मध्यवर्ग की वैचारिक - व्यवहारिक शून्यता। अधिकार सम्पन्न उच्चवर्गों का नग्न दमन इस भयानक यथार्थ के बीच विश्लेषित कर सामने प्रस्तुत करना और व्यापक,सामाजिक, वैयक्तिक पाखंड मूल्यहीनता के विरूद्ध संघर्ष करना यह आज के पूंजीहीन वर्ग का यथार्थ रह गया है। ''समाज की सारी समस्याओं एवं कठिनाईयों का मूल कारण समाज की दूषित अर्थव्यवस्था है। जिसमें पूंजी के बल पर धनी, अधिक धनी और पूंजी के अभाव में निर्धन, अधिक निर्धन होते जाते हैं। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में समाज के एक वर्ग को जीवन की सुविधाएं आवश्यकता से अधिक उपलब्ध है और दूसरा वर्ग सामान्य दैनिक आवश्यकताओं से भी वंचित है। समाजवाद की भाषा में यह वर्ग विषमता है जिसमें पहला वर्ग शोषक है और दूसरा शोषित।''[50]

उच्च वर्ग -

भारत को ब्रिटिश साम्राज्य के उपनिवेशवाद से राजनैतिक मुक्ति तो मिल गयी किन्तु सामाजिक स्तर पर वर्तमान में भी सामंतवादी-नैतिकता, मूल्य पद्धति, विचार और परम्परा का असर भारतीय समाज में आज भी मौजूद है। ''स्वाधीन भारत में पूंजीवाद और लोकतंत्र की सांठ-गांठ के कारण मनुष्य की रही-सही आशा भी क्षीण हो गई ''[51] हमारे समय में सामाजिक अन्तर्विरोध का प्रारम्भ सामंतवाद के ह्रास और पूंजीवाद के उदय एवं विकास से संबंधित है।

भारतीय समाज में पूंजीवादी उच्चवर्ग के विकास का रास्ता सामंतवाद के साथ किसी भयंकर संघर्ष के रूप में आरम्भ न होकर बेहद सामंजस्यपूर्ण और समझौता परख रहा है। आजादी के लगभग आधी सदी तक पूंजीपति वर्ग और प्रजातंत्र एक साथ बड़े जमीन के मालिक और बड़ी पूंजी के आपसी साझेदार हैं। अत: पूंजीवादी समाज में प्रजातंत्र निजी लाभ की नियत से सत्ता पर कब्जा किये रखने तथा सामाजिक स्तर पर भ्रष्टाचार द्वारा जन-जीवन को प्रदूषित किये रखने की पद्धति बन गई है। इस प्रकार क्रूर सामंतशाही को नयी राजनैतिक शक्ति में बदल दिया गया है। इस तरह यूरोपीय पूंजीवाद का और भारतीय सामंतवाद और बाद में नव धनाढ्य पूंजीवादी वर्ग के साथ जो साझा सामने आया इसने बहुत बुरे तरीके से भारतीय समाज का शोषण किया है। "यह वर्ग आधुनिक आर्थिक व्यवस्था की उपज है। जिसका उदय प्रकट रूप से प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् हुआ तथा दूसरे महायुद्ध के बाद वह समाज का शक्तिशाली वर्ग बन गया।"[52] "पूंजीपति यद्यपि आधुनिक सामाजिक दृष्टिकोण तथा जनतांत्रीय विचारों के समर्थक हैं। लेकिन वे न केवल आर्थिक साधनों पर एकाधिकार प्राप्त करना चाहते हैं, वरन् समाज पर भी नियंत्रण रखना चाहते हैा।"[53] "भारतीय उच्चवर्ग या पूंजीपति वर्ग को विदेशी पूंजीवाद से संघर्ष लेना पड़ा। इसलिए वह राष्ट्रीयता का समर्थक बना। स्वदेशी आंदोलन तथा विदेशी का बहिष्कार आंदोलनों का ध्येय ही भारतीय पूंजीपति वर्ग को शक्तिशाली बनाना था। पूंजीपति की राष्ट्रीयता केवल अपने देश का बाजार हथियाने तक सीमित रहती है।"[54] 1945 ई. के बाद भारतीय पूंजीपतियों द्वारा विदेशी पूंजीपतियों से समझौता करके खोली गयी मिली-जुली कम्पनियां इस बात का ठोस प्रमाण है। स्वतंत्रता के पश्चात् तो भारत में एक तरह से विदेशी पूंजी से लगाये गये कारखानों की बाढ़ सी आ गई और आज दशवें दशक में तो विदेशी पूंजीपतियों के लिए भारत ने अपने सारे दरवाजे खोल दिये हैं।

यह दुनिया अर्थ पर टिकी हुई है, जहां धन है वहीं शक्ति है, साधन हैं और सत्ता है। इस कारण समाज में वर्गभेद की स्थिति उत्पन्न होना स्वाभाविक बात है। भारत के अर्थतंत्र पर इस वर्ग का कब्जा है। इसलिए सत्ता का केन्द्रीयकरण इसी वर्ग के आस-पास हो गया है। समाज में इस उच्च वर्ग की आड़ी-तिरछी सब चली है। यह वर्ग मान्यतायें बनाये तोड़ें, इस वर्ग पर समाज के अन्य वर्गों को कोई अंकुश नहीं चलता। उच्चवर्ग कोई जाति विशेष या धर्म से सम्बद्ध नहीं है यह सीधा धन से संबंधित वर्ग है। आज जाति की ऊंच-नीच तो रही नहीं, या है भी तो गांवों में और वो भी न के बराबर। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में जो वर्ग पूंजीहीन है वह इस उच्च वर्ग के शोषण का कच्चा माल है। मार्क्स ने कभी संसार से वर्गभेद को मिटाने के लिए वर्ग संघर्ष का आह्वान किया था और दुनिया में मार्क्स के विचारों ने क्रांति की आधार शिला बनकर व्यापक स्तर पर वर्गभेद मिटाने को प्रेरित किया था। किन्तु तब हम गुलामी के दलदल में फंसे हुए थे। और जब स्वतंत्र हुए तो हमने यह समझ लिया कि हमारी सारी लड़ाई स्वतंत्रता मिलते ही पूर्ण हो गयी। अब प्रजातंत्र की सत्ता हमारी है वह अपने आप समाजवाद ले आयेगी। स्वतंत्र भारत की सत्ता ने भारत को समाजवाद के सपने तो दिखाये और बढ़ावा पूंजीवाद को दिया। वर्गभेद मिटाते-मिटाते और गरीबी हटाते-हटाते भारत अपनी स्वतंत्रता की 54वीं वर्षगांठ की दहलीज पर पहुंच गया है और हालात में सुधार की जगह भयावहता आती जा रही है।

आज भारतीय समाज की स्थिति वर्गभेद की चौड़ी होती खाई के कारण निरंतर बिगड़ती जा रही है। सारे सुख केवल उच्च वर्ग की बापोती हो गये, अन्य वर्गों का भी अधिकार है किन्तु अधिकार शब्द से ही तो सब कुछ हासिल नहीं हो जाता। समाज में सम्मान और सुविधाओं के लिए अन्य वर्ग मेहनत तो बहुत करते हैं, पर मिलता क्या 'ढाक के वही तीन पात' सिर्फ जिन्दा रहने के लिए संघर्ष। दूसरी तरफ न मेहनत, न संघर्ष सिर्फ सुखभोग। यही उच्च वर्ग की विशेषता है। "समाज में व्याप्त इस विषमता को दूर करने का एक मात्र साधन है क्रांति, विद्रोह तथा वर्ग विषमता की व्यापक चेतना का प्रसार। जब तक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था या सामंतशाही को दूर नहीं किया जायेगा तब तक समाज का तीन चौथाई वर्ग इसी प्रकार कष्टों और अभावों का जीवन यापन करने के लिए विवश रहेगा। अत: मजदूर किसान तथा अन्य श्रमजीवी वर्ग के लिए यह आवश्यक है कि वह अन्याय और अत्याचारों के प्रति क्रांति और

विद्रोह का स्वर ऊँचा करें।"[55] तथा समाज में ऐसे संघर्ष को जन्म दे जिसमें सुविधा प्राप्त अल्प वर्ग समाप्त हो और वर्ग वैषम्य का अंत हो।

सारांशत: इस वर्ग की मुख्य विशेषता है कि युग का नेतृत्व उच्चवर्ग के हाथों में केन्द्रित होते हुए भी सामाजिक कल्याण की ओर उन्मुख नहीं है अत: व्यक्तिगत हित साधन ही इस वर्ग का चरम उद्देश्य रह गया है।

मध्य वर्ग -

उन्नीसवीं सदी के धार्मिक और सामाजिक आंदोलन, पश्चिमी साहित्य और शिक्षा, अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया जाना, राजनैतिक एकता, अंग्रेजों द्वारा भारत का आर्थिक शोषण, यातायात के साधनों में वृद्धि, विदेशों से सम्पर्क, समाचार पत्रों का प्रसार, लार्ड लिटिन का शासन काल, इल्बर्ट प्रस्ताव का विरोध ,लार्ड कर्जन का शासन, अंग्रेजों का व्यक्तिगत दुर्व्यवहार, रंगभेद की नीति तथा अंतर्राष्ट्रीय घटना क्रमों में 1904 ई. में जापान द्वारा रूस की पराजय और विभिन्न यूरोपियन देशों की क्रांतियों का आधार, इन सभी कारणों ने मध्य वर्ग को विकसित करने में प्रमुख भूमिका अदा की।

स्वतंत्रता पूर्व मध्य वर्ग का विकास राष्ट्रीय आंदोलन से संबद्ध है। वास्तव में राष्ट्रीय आंदोलन तथा भारत के स्वाधीन होने के नेतृत्व का आधारभूत तत्व भारतीय मध्य वर्ग था। पंत का विचार है कि मध्य वर्ग "यदि श्रमिक बनकर श्रमजीवियों का अभिभावक हो जाये तो वह नवयुग का वाहक तथा लोक प्रभावक नेता हो सकता है।"[56] भारतीय समाज और स्वतंत्र भारत की सबसे बड़ी घटना मध्य वर्ग का उदय है। नेहरू ने भारत के औद्योगीकरण का जो परिदृश्य यथार्थ में रूपान्तरित किया उसके परिणामस्वरूप सारे राष्ट्र में नये-नये उद्योगों की स्थापना की होड़ लग गई। औद्योगिक इकाईयों के चलते गांव,कस्बों में, कस्बे, नगरों में तथा नगर, महानगरों में बदलने लगे। बढ़ती हुई औद्योगिक आवश्यकताओं ने मध्य वर्ग का अंपूर्व विकास किया। विधिवत् योजनाबद्ध विकास के समानान्तर गैर योजना बद्ध विकास ने नई-नई विकृतियां और विसंगतियां उत्पन्न करके राष्ट्र के सामाजिक ढांचे के अस्तित्व को ही हिला दिया। उद्योगों में नौकरी पाकर अपना जीवन सुधारने वालों ने भी समस्याओं के नए-नए पहाड़ खड़े किए। नवीन आवासीय क्षेत्र विकसित हुए और आचार-विचार, रहन-सहन, जीवन के मूल्यों के प्रति दृष्टिकोण सारी मान्यतायें बदलने लगी। ऐसे में सारी योग्यताएं, विचार और प्रतिष्ठा धन पर केन्द्रित हो गई। नीति न्याय को तिलांजली देते हुए जो नया आदर्श उभर कर लोगों के सामने आया उसमें छल, कपट, रिश्वतखोरी, बेईमानी और सांठ-गांठ के नये-नये तौर तरीके सामने आए।" इस तरह धनिक और श्रमिक के रूप में समाज में वर्ग विभाजन इस धरा के जीवन का एक दुखद वृत्त है।"[57] पूंजीपतियों और राजनेताओं के बीच जो सांठ-गांठ हुई उसमें मध्यवर्ग भी अंशत: शामिल हो गया। आज मध्यम और निम्न वर्गीय व्यक्ति के लिए तो वर्षों से चलती आ रही सम्पन्न जीवन की आशा आकांक्षा सपना बनकर रह गई है। इस तरह पुख्ता राष्ट्रीय चरित्र तथा नीति की कमी के कारण "देश के औद्योगीकरण का काम सरकारी स्तर पर पूरी गति से चला तो सरकार और पूंजीपतियों का सत्ता और धन का गठबंधन हो गया। धन तो पहले ही मुंह जोर था। सत्ता का समर्थन मिलते ही वह अज्ञेय हो गया।"[58]

यूरोपीय देशों में मध्य वर्ग का विकास भारत की तुलना में पहले हुआ, अत: वहां का मध्य वर्ग भारतीय मध्य वर्ग की अपेक्षा अधिक मुखर है। भारतीय मध्य वर्ग के सामने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक समस्याओं का भण्डार है। एक अर्द्ध विकसित देश की समस्त विशेषताएं भारतीय मध्य वर्ग में मौजूद हैं। मार्क्स ने कहा था ब्रिटेन ने तो भारतीय समाज के ढांचे को तोड़ डाला है। भारत के मध्य वर्ग पर भी यह कथन सार्थक प्रतीत होता है।

मध्य वर्ग सामान्यत: महत्वाकांक्षी होता है, अपने से ऊपर के वर्ग में यह जाना चाहता है पर जा नहीं पाता और निम्न वर्ग के साथ मिलकर यह रह नहीं सकता। इस प्रकार इस वर्ग की स्थिति त्रिशंकु की ही होती है। यह वर्ग स्वप्न दर्शी वर्ग होता है। मध्य वर्ग भी दो भागों में विभक्त होता है।

1. निम्न मध्य वर्ग 2. उच्च मध्य वर्ग

"निम्न मध्य वर्ग के व्यक्ति के सम्मुख जीविका की समस्या वैसी ही नहीं है जैसी कि निम्न वर्ग की। निम्न वर्ग मात्र जीविका चाहता है जबकि मध्य वर्ग सम्मानजनक जीविका।"[59] उच्च मध्य वर्ग की चारित्रिक विशेषताओं में अनेक तो निम्न मध्य वर्ग जैसी ही हैं। निम्न मध्य वर्ग की भांति उच्च मध्य वर्ग भी छद्मवेषी है और मर्यादा की मारीचिका में भटकता है किन्तु आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होने तथा बौद्धिक श्रेष्ठता के कारण उसका अपना सामाजिक जीवन है। वर्तमान भारतीय समाज में इस वर्ग की महत्वपूर्ण भूमिका को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसे हम सामाजिक परिवर्तनों की प्रयोगशाला कह सकते हैं। "यह वर्ग उच्च वर्ग तथा पूंजीपतियों से इतना कुछ प्राप्त कर लेता है कि वह सम्मानजनक जीवन जी सके तथा फैशनेबल दुनिया की चार दीवारी में बंद रहकर एक ऐसी सामाजिकता का रंगीन पर्दा अपने चारों ओर डाल सके जो संसार की निपट वास्तविकता से उसे अंधा बनाने में समर्थ हो।"[60]

भारतीय समाज में पुरातन और नवीन की स्वीकृति और अस्वीकृति ने अनेकानेक समस्याओं को जन्म दिया कर्मकाण्ड ,रीति रिवाज, अंधविश्वास, बालविवाह, बहुविवाह, सतीप्रथा, विधवा समस्या, नारी शिक्षा,अस्पृश्यता,संयुक्त परिवार प्रथा, दहेज प्रथा, अनमेल विवाह, पर्दाप्रथा, जातिवाद, साम्प्रदायिकता, धार्मिक कट्टरता आदि अनेक समस्याएँ विद्यमान थी। और आज भी गांवों में देखी जा सकती हैं। मध्य वर्ग ठीक इसके विपरीत था और सुधारों का समर्थक भी था। अत: टकराव निश्चित था। इन समस्याओं के अतिरिक्त आर्थिक और राजनैतिक समस्याओं की भी कमी न थी। जैसे शोषण, दमन, बेगार प्रथा, प्रशासनिक भ्रष्टाचार, और अत्याचार भी शामिल थे।

1857 की क्रांति के बाद मध्यवर्ग में राष्ट्रीय चेतना का विकास होने लगा। अत: आवास,भोजन और वस्त्र,पर्यावरण आदि मूलभूत आवश्यकताओं की समस्या भी मध्य वर्ग के समक्ष है। अत: नैतिक और चारित्रिक पतन भी बढ़ता ही जा रहा है। शहरीकरण की संस्कृति का अलग से विकास हो रहा है। परस्पर संवेदनाओं का ह्रास हो रहा है। संबंधों के खोखलेपन और मिथ्या,औपचारिकता निर्वाह की सभ्यता बढ़ रही है। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक समस्यायें, कृषक, व्यापारी,औद्योगिक, शिक्षित शहरी ग्रामीण, मध्य वर्ग को प्रभावित करती हैं। इसलिए इन सभी मुद्दों से संबंधित समस्यायें मध्यम वर्ग के प्रत्येक उपवर्ग को सहना पड़ रही हैं। वर्तमान स्वर अर्थ और काम के हैं। अत: मध्यम वर्ग को अर्थ संबंधी व यौन संबंधी समस्याओं का प्रमुख रूप से सामना करना पड़ रहा है।

निष्कर्ष स्वरूप भारतीय मध्यम वर्ग आज भी नये पुराने के द्वन्द में फसा अनेकों समस्याओं से ग्रसित है। "अत: स्वतंत्रता पूर्व का मध्यमवर्ग, उच्चवर्ग के अनुकरण में बाहरी दिखावे में मरता रहा, परन्तु स्वातंत्र्योत्तर मध्यम वर्ग प्रतिष्ठा, कुलरीति और सामाजिक प्रशंसादि से मुक्त सीमित आज के विवश दुश्चक्र में अपने को समेट कर ऐन- केन-प्रकारेण जीवन रक्षा मात्र का अभिलाषी है।"[61]

राजनैतिक स्वाधीनता से सामाजिक वर्ग विषमता अप्रभावित रही। "भारतीय समाज में दूर तक फैली हुई सामंत व्यवस्था को सामंती तथा पूंजीपति वर्ग से संघर्ष व अंग्रेजों द्वारा भारतीयों पर किये जा रहे अत्याचारों की कशमकश अभी जारी थी। स्वतंत्रता प्राप्ति तक गांधीवाद और सुधारवाद मध्यवर्ग के प्रमुख स्वर थे। स्वतंत्रता प्राप्ति तक तो स्थिति ठीक थी किन्तु स्वतंत्रता के बाद तेजी से बदलती परिस्थितियां और बढ़ती हुई जनसंख्या, शिक्षा का प्रसार, विभिन्न उद्योगों, व्यापारों तथा प्रशासकीय ढाँचों का फैलाव, नवीन विभागों की स्थापना और उनमें कर्मचारियों की संख्या में वृद्धि महानगरीय सभ्यता का विकास, राजनैतिक उथल-पुथल, राष्ट्रीय -अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम के फलस्वरूप शिक्षित मध्य वर्ग में बेकारी की समस्या प्रमुख रूप से उभरी।

मध्यमवर्गीय सोच अर्थोन्मुख होने के कारण दाम्पत्य जीवन में टकराव, आत्मकेन्द्रण तथा अति व्यक्तिवादी प्रवृत्ति पनपने लगी। कुण्ठा और अवसाद मध्यवर्गीय व्यक्ति की पहचान बन गये। प्रदर्शनप्रियता तथा हैसियत से अधिक स्तर निर्माण की प्रवृत्तियों के कारण मध्य वर्ग अनेकों विकारों से ग्रस्त होने लगा। पुरूष और नारी वर्ग में भी टूटन परिलक्षित हुई और विवाह संस्था में प्रश्न-चिन्ह लगाया जाने लगा।

वर्तमान में मध्यवर्गीय व्यक्ति में आत्मकेन्द्रण, आत्म विघटन की प्रवृत्ति पनपती जा रही है फलतः नई-नई समस्याएं उभर कर सामने आ रही हैं। ''पूंजीवादी जनतांत्रिक प्रणाली का अर्थशास्त्र पूंजीवाद का अनुगामी है, जो मध्य वर्ग का जन्मदाता है पूर्ण औद्योगीकरण के अभाव में हमारे मध्य वर्ग की वही दशा है, जो हमारे यहां पाश्चात्य देशों से उधार ली हुई पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की। यही कारण है कि मध्य वर्ग के सम्मुख विरोध मूलक, अर्थ सिद्धांत स्पष्ट नहीं हो पा रहे हैं।''[62] भारत का मध्य वर्ग आज भी अपनी विकराल समस्याओं से जूझ रहा है। चूंकि यह वर्ग समाज का प्रबृद्ध वर्ग भी है और संत्रास सम्पन्न वर्ग भी।

सारांशतः स्वतंत्र भारत की आधी सदी बीतने के पश्चात् भारतीय समाज कहाँ खड़ा है, इसका अंदाजा साफ तौर पर लगाया जा सकता है। स्वतंत्र भारत में जो सामाजिक बदलाव क्रांति होनी थी वह भारतीय समाज ने स्वातंत्र्योत्तर सत्ता के हाथों में छोड़ दी और यह आशा लगाकर बैठ गये कि अब सारी परेशानियां दूर हो जायेंगी। भारतीय समाज उपरोक्त स्वप्न देखता रहा और राष्ट्र की चहुँमुखी पकड़ देखते ही देखते पूंजीपति वर्ग के हाथों में नाचने लगी। और आज तो स्थिति इतनी विकट हो गयी है कि भारत के भविष्य पर भी कहीं प्रश्न चिन्ह न लग जाये। दशवें दशक में विदेशी पूंजी को खोले गये समस्त द्वार कहां ले जायेंगे भारतीय समाज को अनुमान लगाना कठिन है, हां पर इतना जरूर है स्थिति होगी भयावह ही। क्योंकि धन और श्रम के बीच निरंतर चौड़ी होती खाई यह संकेत दे रही है।''औद्योगिक सभ्यता के इस युग मे अर्थ की महत्ता असंदिग्ध है। यही कारण है कि कार्लमार्क्स ने समाज को एक विशिष्ट प्रकार के श्रम आधार पर आधारित माना है।''[63] यह श्रम आधार न केवल अर्थतंत्र की संरचना करता है बल्कि अनेक अकल्पित जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा भी करता है। स्वतंत्र्योत्तर भारतीय समाज आर्थिक असंतुलन और उससे उत्पन्न असंगतियों एवं विद्रूपताओं का मुखर दस्तावेज है। समाज दृष्टा और समाज सृष्टा के नाते साहित्यकारों ने इसके स्वरों को सुना और इस काल के साहित्य में समकालीन सन्दर्भों को अभिव्यक्त भी किया।

आर्थिक समस्या निम्न वर्ग के जीवन का अभिन्न अंग है। सुदूर ग्रामीण अंचल में रहने वाले निम्न वर्ग के लोग मजदूरी जिनकी जीविका का मात्र आधार है। वर्तमान में भी पूंजीपतियों, जमीदारों, सेठ-साहूकारों आदि की कृपा पर जी रहे हैं। उनका जीवन, उनके विचार, उनकी रूचियां, उनका भविष्य कुछ भी उनका नहीं है। भारत के निम्न वर्ग के पास यदि कुछ है तो वह जिजीविषा। जीवित रहने के लिए या तो यों कहा जाय कि जीवन का भार ढोने के लिए वे अपने अस्तित्व का अनुभव करते हैं। भारत की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग इसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। भारत में निम्न वर्ग की समस्याओं की निवारण शक्ति उन लोगों के पास केन्द्रित है जो अपने ही हित में यह वर्ग बनाये रखना चाहते हैं। भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र है, लोकतंत्र से तात्पर्य नरम राज्य यानि वह सामाजिक अनुशासनहीनता की स्थिति जो विभिन्न स्तरों पर एवं विभिन्न स्वरूपों में प्रकट होती है। जैसे कानून की कमियां अथवा कानून के पालन व उसे लागू करने की कमियां, विभिन्न स्तरों पर सरकारी महकमे में भ्रष्टाचार, शक्तिशाली समूहों से सांठ-गांठ और नियमों की जानबूझकार अवहेलना करना आदि है।''नरम राज्य मे सामाजिक,आर्थिक व राजनैतिक दृष्टि से शक्तिशाली व्यक्ति और वर्ग निम्न वर्ग का शोषण करते हैं।''[64] और भारत तो उपरोक्त परिस्थितियों का भण्डार है।

निम्न वर्ग -

मार्क्स ने वर्ग व्यवस्था व शोषण की प्रक्रिया को निर्धनता का कारण माना है। उसके अनुसार ''समाज के संसाधनों का असंतुलित वितरण या स्वामित्व निर्धनता को जन्म देता है। शोषण मुक्त अथवा वर्ग विहीन समाज की कल्पना करके उसके उत्पादन के स्रोतों पर सरकार या राज्य का नियंत्रण स्वीकार किया है।''[65] मार्क्स के सिद्धांत निश्चित ही विश्व के वैचारिक क्षितिज पर महत्वपूर्ण स्थान बना चुके हैं, कारण वर्गभेद संबंधी अन्य सिद्धांतों की अपेक्षा यह अधिक सशक्त प्रतीत होते हैं। निम्न वर्ग और निर्धनता राज्य या व्यक्ति विशेष द्वारा अन्य व्यक्तियों के शोषण का ही परिणाम है। भारत में निम्न वर्ग की

उत्पत्ति तो सैकड़ों वर्षों पूर्व हो चुकी थी। भारत में तब भी शोषित, दलित जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं से जूझता यह निम्न वर्ग था जब भारत किसी कहावत की 'सोने की चिड़िया' हुआ करता था। इस वर्ग के निरंतर भारतीय समाज में विकराल रूप में वृद्धि के निम्न कारण हैं - "सैकड़ों वर्षों का विदेशी शासन, वर्गों में विभाजित समाज, शोषण पर आधारित सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था, अधिक जनसंख्या, पूंजी का अभाव, शिक्षा का अभाव, आर्थिक प्रेरणा प्रदान करने वाली आकांक्षा का कम होना, शक्ति एवं स्फूर्ति कम करने वाली जलवायु, दोषपूर्ण स्वास्थ्य, भ्रष्टाचार पर आधारित प्रशासनिक व्यवस्था, घिसी-पिटी सामाजिक व्यवस्था, शोषण पर आधारित भूमि व कृषि व्यवस्था तथा उन सामाजिक सांस्कृतिक शक्तियों का बोलबाला, जो पिछड़ेपन को बढ़ाने में सार्थक भूमिका निभाती है।"[66]

भारतीय सामाजिक ढांचे में निर्धनता की जड़ें मजबूत हो जाने के कारण भारतीय समाज में निम्नवर्ग एक अनिवार्य स्थिति बन गई है।"भारतीय सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक असमानता के साथ आर्थिक असमानताएं भी जुड़ी हुई हैं। जाति-व्यवस्था पर आधारित समाज में निर्धनता उन लोगों में विद्यमान है जो निम्न जातियों के हैं और जिनको केवल सामाजिक स्तर के व्यवसाय करने की ही सामाजिक अनुमति है। ये निम्न सामाजिक स्तर के व्यक्ति भी भारतीय समाज में इस तरह विभक्त हैं कि उनमें अपने ही शोषण पर आधारित सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था के विरोध में एकत्र होकर संघर्ष करने की क्षमता भी नहीं है "[67] भारत में अधिकांशत: निम्न वर्ग में अनुसूचित जातियों के लोग आते हैं। दूसरी तरफ इस वर्ग में रूढ़ियों,परम्पराओं को कायम रखने में भारी धनराशि लुट जाती है। "पंडित नेहरू ने अपनी महत्वपूर्ण कृति' डिस्कवरी ऑफ इण्डिया'में लिखा है कि "भारत के अधिकतर गरीब लोग, बच्चे के जन्म, मुन्डन, जनेऊ, शादी-ब्याह तथा मृत्यु के संस्कारों को धार्मिक कृत्य मानकर उन्हें मनाने में धन का अपव्यय करते हैं। वे इसके लिये ब्याज पर रूपया उधार लेते हैं। उन पर सूदखोर बनियों का ऋण बढ़ता चला जाता है, उनकी सम्पत्ति चली जाती है और कभी-कभी तो उनको ऋण नहीं चुका पाने के कारण अपने को या अपने परिवार के सदस्य को बनिये या ठेकेदार का बंधुआ श्रमिक बनना पड़ता है। ये निर्धन व्यक्ति इन परम्पराओं को मानने में लुट जाते हैं।"[68]

स्वतंत्र भारत की प्रमुख समस्याएं -

समस्याएं परिवर्तन के कारण उत्पन्न होती हैं। जो समाज जितना तीव्र गति से परिवर्तनशील होता है, उसमें समस्याएं भी उतनी ही अधिक प्रकट होती है। समाज के एक पक्ष में घटित परिवर्तन अन्य क्षेत्रों में भी परिवर्तन करता है। "जिससे सामाजिक मूल्यों, विचारो, आदर्शों, आस्थाओं एवं सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन आता है एवं उसके परिणामस्वरूप धीरे-धीरे सामाजिक संरचना एवं उसकी प्रकार्यात्मक शैली में भी परिवर्तन आता है।"[69]

समस्याएं और परिवर्तन सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक प्रक्रिया है परन्तु परिवर्तन समाज के समस्त पक्षों में समान व संतुलित नहीं होता है। परिवर्तन की गति व दिशा समाज के भिन्न-भिन्न पक्षों में भिन्न-भिन्न होती है। किसी राष्ट्र के सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक पक्षों में परिवर्तन की दर में भिन्नताएँ अनेक समस्याओं को जन्म देती हैं।

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत के सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक ढांचे में बदलाव की आंधी आई। एक तरफ वे सन्दर्भ एकाएक समाप्त हो गये। जिनके कंधों पर स्वाधीनता आंदोलन आगे बढ़ा था। दूसरी ओर स्वतंत्र भारत कोई समृद्ध स्थिति में नहीं था वह तो अंग्रेजों द्वारा खून चूस कर फेंकी गई लाश के समान था जिसे हमें सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में पुनर्जीवित करना था। प्राचीन काल में आध्यात्मिकता एवं सामाजिकता का मूल्य सर्वोपरि रहा है परन्तु पाश्चात्य सम्पर्क के कारण आज भौतिकवादी मूल्य एवं व्यक्तिवादी दृष्टिकोण तथा मूल्य पनपते दिखाई पड़ रहे हैं। स्वतंत्र भारत में तकनीकी विकास व औद्योगीकरण के कारण लोगों की आवश्यकताओं में भारी परिवर्तन आया है। जिसके कारण अनेक समस्याएं उभरकर सामने आई हैं।

सामाजिक परिवर्तन कभी-कभी इतना अप्रत्याशित एवं चौंकाने वाला होता है कि हमारी सम्पूर्ण सामाजिक संरचना की नींव को ही हिला देता है जिससे समाज में कुसमायोजन की समस्या उत्पन्न होती है और यही कुसमायोजन समाज के ढांचे में अनेकों समस्याओं को जन्म देता है। अत: स्पष्ट है कि सामाजिक समस्याएं समाज और राष्ट्र में होने वाले परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होती हैं। स्पष्ट है कि सामाजिक समस्याओं का सामाजिक परिवर्तन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। हर समाज एवं राष्ट्र में एवं हर काल में सामाजिक परिवर्तन एवं सामाजिक समस्याओं की स्थिति दिखाई पड़ती है। यह सही है कि मंद गति से परिवर्तित होने वाले समाजों में सामाजिक समस्याएं अपेक्षाकृत बहुत ही कम होती हैं।

वर्तमान समय में अनेक भारतीय सामाजिक समस्याओं का कारण एकाएक राजनैतिक एवं सामाजिक परिवर्तन को कहा जा सकता है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में निम्न प्रमुख समस्याएं उभरकर सामने आई है "जिनसे भारत का आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक ढांचा ग्रसित दिखाई देता है। आज हम बड़ी-बड़ी राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं का मुकाबला कर रहे हैं।"[70] अपनी प्राचीन परम्पराओं, रूढ़ियों, अंधविश्वासों, जातिवाद, वर्गभेद, धार्मिक अंधेपन में जकड़ा भारतीय समाज अंग्रेजों के द्वारा सदियों राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक हस्तक्षेप के कारण निरंतर विघटित होता गया।

औद्योगीकरण की प्रक्रिया ने श्रमिक वर्ग उत्पन्न किया जिससे श्रम समस्या पूंजी के एकीकरण की समस्या, गंदी बस्तियों की समस्या, बेरोजगारी की समस्याएं उत्पन्न हुई। आवागमन के साधनों व नगरीकरण ने गतिशीलता प्रदान की है। जिससे पुन: जाति व्यवस्था एवं संयुक्त परिवार व्यवस्था प्रभावित हुई है। औद्योगीकरण ने हमारी परम्परागत सांस्कृतिक आस्थाओं व मूल्यों को भी क्षीण बनाया है। शिक्षा-प्रसार के कारण पाश्चात्य संस्कृति व दर्शन का भारतीय चिन्तन पर गहरा प्रभाव पड़ा, जिससे व्यक्तिवादी विचारधारा एवं भौतिक दृष्टिकोण उभरकर सामने आये हैं। संविधान एवं अधिनियमों ने अस्पृश्यता निवारण एवं स्त्रियों को सामाजिक स्वतंत्रता व समानता दिलाने संबंधी कानून बनाये हैं जिससे जाति व परिवार नामक संस्थाओं में परिवर्तन आ रहे हैं। अत: स्वतंत्रता के बाद भारत में एक तरफ कुछ समस्याएं हल हुई तो दूसरी ओर अनेकों नयी समस्याएं चुनौती के रूप में स्वतंत्र भारत में उभरकर सामने आ रही हैं।

"भारत में औद्योगिक क्रांति बड़ी तेजी से आ रही है और हम नाना रूपों में बदलते जा रहे हैं। राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तनों का अनिवार्य परिणाम है कि उससे सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न होते हैं।"[71] जिससे समाज में विभिन्न समस्याओं का जन्म होता है। आज सारा संसार एक गांव हो गया है, विज्ञान ने सभी दूरियों को समाप्त कर दिया है। बदले हुए विश्व के सापेक्ष आज भारत का भी आर्थिक सामाजिक ढांचा बदल रहा है, जिससे समाज में अर्थ की महत्ता और बढ़ गई है, जिससे गरीब और गरीब तथा अमीर और अमीर होते जा रहे हैं।

भारत में स्वतंत्रता के बाद शिक्षा, रोजगार, संचार डाकतार, स्वास्थ्य आदि सुविधाओं में वृद्धि के कारण जहां एक तरफ समाज में अशिक्षा, रोग-महामारी आदि समस्याओं में कमी आई है तो वहीं दूषित शिक्षा प्रणाली के कारण शिक्षित बेरोजगार नौजवानों की बाढ़ आ गई है। जात-पात आज भी गांवों से नहीं मिट पाया है, अर्थ की ओर भागता भारतीय समाज फैशन की चमक-दमक से चकाचौंध परिचय का अनुसरण करता अधोगति की ओर बढ़ रहा है। अपनी परम्परागत बुराईयां साथ लिए नयी समस्याओं के जाल में फंसता भारतीय समाज अनेकों बीमारियों से ग्रसित 21वीं सदी के दरवाजे खटखटा रहा है भारत में राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तनों के अनुसार समाज को परिवर्तित नहीं करने से हम पर जो बोझ पड़ेगा उसे हम बर्दाश्त नहीं कर पायेंगे।"[72] अंधे विकास के इस बोझ के तले हमारी स्वर्णिम प्राचीन धरोहर तो धीरे-धीरे नष्ट हो ही जायेगी और साथ ही इस चकाचौंध भरे जीवन की तरफ भागते भारतीय समाज में नये सृजन की आशा भी धूमिल हो जायेगी। इस बोझ के नीचे हम टूट जायेंगे। जवाहर लाल नेहरू ने कहा था "यह खतरे की स्थिति है अगर इसका अवरोध और सुधार नहीं हुआ तो इससे भयानक परिणाम निकल सकते हैं। हम आर्थिक राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रों में संक्रांति की अवस्था से गुजर रहे हैं। सम्भव है, यह उसी स्थिति का अनिवार्य परिणाम है। लेकिन आणविक युग में किसी देश

को अपना सुधार करने के लिए ज्यादा मौके नहीं दिये जायेंगे, और इस युग में मौका चूकने का अर्थ सर्वनाश भी हो सकता है।"[73]

शिक्षा -

स्वतंत्र्योत्तर भारत में शिक्षा का विस्तार आश्चर्यजनक गति से हुआ है परन्तु उसकी प्रकृति में विशेष अंतर नहीं आया है। पिछले युग में राष्ट्रीय शिक्षा के अनेक प्रयत्न हुए। आज भारत में सैकड़ों विश्वविद्यालय हैं किन्तु अंग्रेजी शिक्षित मध्य वर्ग अंग्रेजी भाषा के माध्यम से विदेशी ढंग की शिक्षा को ही अपनाता रहा और महत्व दे रहा है। स्वाधीन भारत के लिए अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम स्वीकार करना असम्भव था। "फलत: शिक्षा के माध्यम को लेकर अनेक प्रकार के वाद-विवाद उठ खड़े हुए कुछ लोगों के अनुसार अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम को समाप्त करके हम फिर एक बार अहंकार युग में प्रवेश करेंगे।"[74]

इसी प्रकार केन्द्र सरकार द्वारा शिक्षा के नियंत्रण का भी विरोध हुआ। परन्तु शिक्षा के प्रांतीय विषय बने रहते हुए भी इस क्षेत्र में केन्द्र का प्रभाव बढ़ना आवश्यक बात थी, क्योंकि शिक्षा का संस्कृति से अनिवार्य संबंध है और भावी नागरिकों के मनोबल का निर्माण उसी के द्वारा होता है। लोकतंत्र वयस्क मताधिकार पर आधारित और उसके लिए शिक्षा की उपेक्षा घातक सिद्ध हो सकती है।

अंग्रेजों के समय में मैकाले द्वारा स्थापित जिस शिक्षा पद्धति का प्रचार था उससे पल्ला छुड़ाना स्वतंत्र भारतवर्ष के लिए कठिन हो रहा है। स्वतंत्र युग में इस क्षेत्र में जितने प्रयोग हुए वे औपचारिक मात्र हैं। न शिक्षा की प्रकृति में अंतर हुआ है, न उच्च शिक्षा की भाषा के माध्यम में। राजकाज और उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप में देशी भाषाओं का उपयोग अभी भी न के बराबर है। व्यवहार में अभी हम इस (क्षेत्र) दिशा में बहुत आगे नहीं बड़े हैं। अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को राष्ट्र भाषा घोषित तो कर दिया परन्तु केन्द्रीय कार्यों में कुछ प्रांतों का आग्रह अंग्रेजी के लिए ही है। भाषा प्रान्तों के निर्माण के पश्चात् यह भी अनिवार्य ही है कि प्रांतीय भाषाओं का उपयोग प्रांतीय शिक्षा तथा राजकीय स्तर पर हो परन्तु उच्चस्तरीय शिक्षा ज्ञान-विज्ञान और तकनीकी के ग्रंथों के अभाव के कारण इन क्षेत्रों में अंग्रेजी भाषा का उपयोग आवश्यक हो जाता है। "स्वतंत्रता के पश्चात् विभिन्न राजकीय विभागों में प्रचलित अंग्रेजी शब्दों को चुनकर हिन्दी और अन्य भाषाओं में शब्दकोष निर्माण का कार्य भी सम्पादित हुआ है परन्तु अंग्रेजी से हिन्दी की ओर संक्रमण में इन कोषों का उपयोग कहां तक हो सकेगा कहना कठिन है। स्वतंत्र्योत्तर भारत के लिए क्या आवश्यक था इसका विवेचन अनेक सिद्धांतों द्वारा बार-बार हुआ है।"[75]

परन्तु आज स्वतंत्रता की आधी सदी पश्चात् भी हम शिक्षा के क्षेत्र में दुर्व्यवस्था का ही अनुभव कर रहे हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारत की शिक्षा के लिए आवश्यक था कि वह धर्मनिरपेक्ष (सेक्यूलर) हो और सामान्य जनता को कम पैसों में प्राप्त हो सके। उसे युग की आवश्यकताओं के अनुरूप प्रगतिशील होना आवश्यक था। जिससे वह विकासशील भारतीय समाज को गति देने में समर्थ हो। स्वतंत्रता पूर्व भारत की शिक्षा-पद्धति का उद्देश्य राज कर्मचारी वर्ग का सृजन था। वैज्ञानिक और प्राविधिक (टेक्नीकल) शिक्षा के अभाव के कारण पश्चिमी देशों के समकक्ष खड़ा रहना हमारे लिए असम्भव था, नये परिवेश में ये क्षेत्र हमारे लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण हो गये। जिससे आर्थिक और औद्योगिक क्रांति के लिए हम कृत संकल्प थे वह मातृभाषा में शिक्षा की अपेक्षा रखती थी। शिक्षा को राष्ट्रीय जीवन और नई आवश्यकताओं से वंचित करके हम इस क्षेत्र में क्रांति की कल्पना नहीं कर सकते हैं।

प्रारम्भिक, प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के अकल्पित विस्तार ने शिक्षा के मानदण्ड की समस्या को भी जटिल बना दिया है। बढ़ती हुई जनसंख्या और प्रजातंत्र के आग्रह ने शिक्षा संस्थाओं की ऐसी बाढ़ को जन्म दिया जिसका नियंत्रण हमारे लिए असंभव बात थी। शिक्षा के विस्तार के लिए प्रवीण शिक्षकों की आवश्यकता थी। आवश्यक संस्था में हम उनका निर्माण नहीं कर सकते थे, इसमें सन्देह नहीं कि हमारे नये पाठ्यक्रम का नियोजन अधिक राष्ट्रीय एवं व्यावहारिक है परन्तु यह निश्चितहै कि अभी हम प्रयोगकालीन स्थिति में हैं। सुरक्षा और सेना की आवश्यकताओं के लिए अपनी आय का

आधा भाग खर्च करने वाले देश से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वह शिक्षा के क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण कदम उठा सकेगा। इतने बड़े अशिक्षित राष्ट्र की भारी भरकम आबादी को शिक्षा के वास्ते सिर्फ राष्ट्रीय आय का 13 प्रतिशत खर्च किया जा रहा है जो अत्यन्त कम है। आज शिक्षा भारत में मजाक बनकर रह गई है। शिक्षा तो प्रत्येक भारतवासी का मौलिक अधिकार है, किन्तु स्वतंत्र भारत की लगभग आधी सदी पश्चात् भी हमारा देश दुनिया के सबसे अशिक्षित राष्ट्रों में से एक है। दुनिया के सबसे अशिक्षित लोग भारत में बसते हैं।

शिक्षा तो सदैव एक महत्वपूर्ण विषय रहा है परन्तु फिर भी इसका महत्व मानव इतिहास में इतना कभी नहीं रहा जितना कि यह आधुनिक समय में हैं। ''विज्ञान एवं प्राविधिकी पर आधारित इस विश्व में शिक्षा ही एक ऐसा साधन है जो लोगों की समृद्धि कल्याण तथा सुरक्षा के स्तर का निर्धारण करता है।''[76] जीवन के सभी क्षेत्रों पर शिक्षा का प्रभाव पड़ता है। शिक्षा और शिक्षक ही अनजान बालक को बुद्धिमान बनाते हैं, जब यही दोषपूर्ण होगे तो किसी राष्ट्र की प्रगति कैसे संभव है।'' शिक्षा व्यवस्था का लक्ष्य चरित्र-निर्माण,व्यक्ति्व-विकास और मातृभूमि की प्राचीन संस्कृति का परिलक्षण होता था''[77] किन्तु अब शिक्षा का उद्देश्य किताबी ज्ञान तक सीमित रह गया है।

''प्राचीन भारत में जिस प्रकार उपनयन संस्कार तीनों वर्णों के लिए अनिवार्य था उसी तरह शिक्षा सभी बच्चों के लिए एक अनिवार्य विषय था।''[78] किन्तु स्वतंत्र भारत में तो शिक्षा में भी ऊंच-नीच देखने को मिलती है, अमीरों के लिए अलग शिक्षा और गरीबों को अलग।

निष्कर्षत: ''वर्तमान भारत का जन्म ही अंग्रेजी शिक्षा पद्धति की गोद में हुआ।''[79] इसलिए शिक्षा पद्धति का दोषपूर्ण होना स्वाभाविक था। किन्तु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी भारत की शिक्षा प्रणाली में कोई बढ़ा फेरबदल नहीं किया गया। इसी दोषयुक्त शिक्षा प्रणाली का परिणाम है कि आज भारत में पढ़े लिखे करोड़ों युवा बेरोजगार घूम रहे हैं। गांधीजी ने कहा था कि ''भारत अपनी बात तब तक नहीं बोल सकेगा जब तक वह अंग्रेजी में शिक्षा ग्रहण करता और अंग्रेजी में ही काम करता है।''[80] यह बात आज 2002 में भी उतनी ही सार्थक है जितनी तब थी। भारत आज राजनैतिक रूप से स्वतंत्र जरूर है पर शिक्षा के मामले में आज भी भारत गुलाम है। दुर्भाग्य तो देखिए जहां हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाये जाने की लम्बी चौड़ी डीगें मारी जाती थी स्वतंत्र भारत की आधी शताब्दी बाद भो है और राष्ट्रभाषा के पद पर हिन्दी आज भी आसीन नहीं हो सकी है औपचारिकता को छोड़कर।

शिक्षा देश का भविष्य निर्मित करती है और जब उसी में दोष हो तो भारत उस रूप में कैसे उभर सकता है, ''जिसे प्रत्यक्ष करने को वह स्वाधीन हुआ है।''[81] ''स्वाधीनता केवल रोटी का पर्याय नही है। स्वाधीनता केवल कल कारखाने स्थापित करने की योग्यता नहीं है।''[82] ''स्वाधीनता का वास्तविक अर्थ आत्मा की वह स्वतंत्रता,मानस की वह निर्बन्धता है, जिसके कारण राष्ट्र अपने व्यक्तित्व को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करता है।''[83] अत: भारत को शिक्षा के विषय में अभी भारी फेरबदल करना होगा यह पराधीन परिपाटी की शिक्षा शिक्षित बेरोजगार पैदा करने के अलावा कोई खास करतब दिखाने से तो रही।

साम्प्रदायिकता-

''स्वतंत्रता संघर्ष के क्रम में भारत के भीतर सामाजिक और राजनैतिक तनाव इस कदर बढ़ गया कि उसके कारण भारत का विभाजन करना पड़ा। किन्तु विभाजन के बाद भी हिन्दू-मुस्लिम समस्या मौजूद है।''[84] स्वतंत्र भारत में तो वोटों के गणित बैठाये जाते हैं सत्ता हासिल करने के लिए वोट बैंक बनाने का काम भी राजनैतिक दलों की नियति बन गयी है। कोई दल हिन्दू कट्टरता की बात करके मुसलमानों को देश से निकालने की बात करता है तो कोई मुसलमानों के हित में खुलकर सामने आता है। देश में जितनी हिंसा हुई, वह सिर्फ राजनैतिक लाभ लेने वालों ने करवाई है। पहले पराधीन भारत में भले ही अंग्रेजों ने साम्प्रदायिक भावनाएं भड़काने का काम किया हो, किन्तु स्वतंत्र भारत में अंधी सत्ता की दौड़ में दौड़ रही राजनीति ही साम्प्रदायिकता की जड़ है। कोई धर्म, कोई जाति, साम्प्रदायिक नहीं है, राजनीति साम्प्रदायिक बना देती है।

"भारत में सामाजिक तनाव का एक अन्य अति उग्र और अनिष्टकर स्वरूप धर्म पर आधारित साम्प्रदायिक तनाव है। यह भारतवासियों को अंग्रेजों का दिया उपहार है। जो विषवृक्ष की भांति हमारे राष्ट्रीय जीवन के लिए केवल विषफल ही पैदा कर रहा है। आरम्भ से ही अंग्रेजों ने यह अनुभव किया था कि हिन्दू-मुसलमानों के बीच फूट बिना इस देश में राज्य करना असम्भव है। अत: उन्होंने 'विभाजित करो' और 'राज्य करो' की नीति को अपनाया और सदियों से भाई-भाई के रूप में रहने वाले हिन्दू-मुसलमानों के दिल में साम्प्रदायिकता के आधार पर भेदभाव को पनपाना आरम्भ किया। उनकी यह नीति सफल हुई और हिन्दू-मुसलमानों को विभाजित रखकर ही उन्होंने इस देश पर राज्य किया और जाते-जाते भी केवल हिन्दू-मुसलमान को ही नहीं हिन्दुस्तान तक को विभाजित कर गए।"[85] भारत में व्याप्त आज की साम्प्रदायिकता अंग्रेजों की देन है।

"साम्प्रदायिकता के आधार पर देश विभाजन के बाद भी साम्प्रदायिकता का अंत नहीं हुआ और आज भी अक्सर हिन्दू-मुसलमान के बीच छुटपुट और गम्भीर दोनों ही प्रकार के झगड़े-फसाद खड़े हो जाते हैं जिससे कि सम्पूर्ण समाज में साम्प्रदायिक तनाव उत्पन्न हो जाता है, जो कि राष्ट्रीय व भावनात्मक एकता के लिए घातक सिद्ध होता है। श्रीनगर, गुजरात, इलाहाबाद, मेरठ, कानपुर,अलीगढ़, खण्डवा, महु, मुम्बई में जब-तब अभी भी कर्फ्यू लगने की खबरें सुनने में आती हैं।"[86] "इससे आपसी द्वेष,आर्थिक हानि, प्राणहानि, राजनीतिक तनाव, राष्ट्रीय व भावनात्मक एकता में बाधा तथा राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरा आदि साम्प्रदायिकता के ही दुष्परिणाम हैं।"[87]

बेरोजगारी -

भारत में अनेक सामाजिक व आर्थिक समस्याओं में बेरोजगारी की समस्या एक गम्भीर समस्या है। "यह समस्या भारत में ही नहीं अपितु आज विकसित व विकासशील राष्ट्रों में एक जटिल आर्थिक सामाजिक समस्या बन कर समान रूप से खड़ी है।"[88] सभी पूंजीवादी व्यवस्था वाले राष्ट्रों में बेकारी की समस्या समान रूप से दिखाई देती है। दक्षिण एशिया, अफ्रीका तथा लेटिन अमेरिका के अनेक देश (जिन्हें तृतीय विश्व की श्रेणी में रखा जा सकता है) गरीबी व बेकारी की गम्भीर समस्या से जूझ रहे हैं।

"भारत में भी बेरोजगारी की समस्या भयावह रूप धारण करती जा रही है आज यह मत व्यक्त किया जा रहा है कि यदि समय रहते गरीबी व बेरोजगारी जैसी समस्याओं से निजात नहीं पाया गया,इसकी भयावहता को कम नहीं किया गया तो हमारी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जायेगी एवं हिंसात्मक क्रांति को जन्म देगी। इसी कारण आज इस समस्या के निराकरण पर गम्भीरता से चिंतन किया जाने लगा है।"[89] विश्व इतिहास में सबसे पहले सन् 1930 में एवं उसके पश्चात् एक ऐसी चिन्तनधारा का विकास हुआ जिसमें स्वतंत्रता, समानता व प्रजातंत्र के मूल्यों को महत्व दिया गया। इन मूल्यों को प्राप्त करने के लिये प्रशासनिक व्यवस्था में परिवर्तन कर ऐसी व्यवस्था स्थापित करने पर जोर दिया गया जिसके माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक ,आर्थिक विकास के समुचित अवसर उपलब्ध हो सकें। कल्याणकारी राज्य की विचारधारा के अभ्युदय के साथ एवं आर्थिक व सामाजिक नियोजन पर विशेष बल दिये जाने पर गरीबी व बेरोजगारी को एक सामाजिक समस्या माना गया एवं इस प्रकार एक वैज्ञानिक चिंतन व कार्यप्रणाली का विकास हुआ। आज निर्धनता व बेरोजगारी व्यक्ति की समस्या नहीं बल्कि व्यवस्था की समस्या है और व्यवस्था ही इसके लिए उत्तरदायी है। "अत: हर प्रजातांत्रिक लोक कल्याणकारी शासन व्यवस्था का यह प्रथम एवं महत्वपूर्ण लक्ष्य बन गया है कि वह इस समस्या से गम्भीरतापूर्वक निपटे।"[90] भारत जैसे विकासशील राष्ट्र में रोजगार के अवसर बढ़ाने और बेरोजगारी समाप्त करने के लिए सभी आर्थिक क्षेत्रों कृषि,औद्योगिक तथा अन्य को विकसित करना अति आवश्यक है। प्रथम पंचवर्षीय योजना से ही बेरोजगारी की समस्या को सुलझाने के विषय में योजना आयोग लगातार प्रयास कर रहा है आज गांव एवं शहर दोनों ही रोजगार की समस्या से त्रस्त हैं। दूसरी और गांवों से शहरों की ओर पलायन जारी है। यदि गांवों में रोजगार के अधिक अच्छे अवसर मिलने लग जायें तो

गांवों से लोग रोजगार की तलाश में नगरों की ओर भागना बंद कर देंगे। परन्तु इस देश का एक बहुत बड़ा दुर्भाग्य यह है कि यहां काम चाहने या करने वालों के लिए आवश्यक अवसर उपलब्ध नहीं हैं।''गांव-गांव में बेकारी और कम समय के लिए काम मिलना दोनों ही बातें मौजूद हैं और दोनों में बहुत कम भेद है। गांव में बेकारी प्राय: कम समय के लिए या साल में कुछ दिनों के लिए काम मिलने के रूप में ही तो है। शहरों में उद्योग-धंधो, परिवहन और काम-काज की घटा-बढ़ी के अनुसार लोगों को काम मिलता है।''[91] वर्तमान समय में देश बेरोजगारी की समस्या से जूझ रहा है इस समय प्राप्त आंकड़ों के अनुसार देश की हालत अत्यंत दयनीय है लगभग एक अरब जनसंख्या धारी राष्ट्र के सामने बेरोजगारी सबसे भयावह समस्या है क्योंकि इसी समस्या से अनेकों समस्याओं का जन्म होता है। देश में रोजगार के अवसर जनसंख्या की दृष्टि से अपर्याप्त विकसित किये गये हैं जिससे करोड़ों लोगों के हाथों के लिए काम नहीं है। ''इसके लिए हमारे औद्योगिक और आर्थिक दोषों को बेकारी के लिए अधिक अंशों में उत्तरदायी कहा जा सकता है।''[92] दिनकर के अनुसार भारत कंगाल है भारत अभावों से ग्रस्त होकर आज भी तड़प रहा है। उसके शिक्षित नवयुवकों को रोजगार नहीं मिलते। उसके गांव पशुओं की जिन्दगी बिता रहे हैं। और सबसे भयानक बात तो यह है कि भारत में जनसंख्या बेतहाशा बढ़ती ही जा रही है। ये सारे रोग तभी घटेंगे जब देश का आदि भौतिक विकास होगा। इसलिए, कल कारखानों की महिमा पूरी तरह से गायी नहीं जा सकती। ''बहुत बड़ी अमीरी का स्वप्न भारत नहीं देखता किन्तु जो न्यूनतम आवश्यकताएं हैं, उनकी पूर्ति रातों-रात हो जाये यह सबकी अभिलाषा है।''[93]

भ्रष्टाचार-

भारत में भ्रष्टाचार कोई नई बात नहीं है, ''भ्रष्टाचार एक अथवा दूसरे रूप में सदैव विद्यमान रहा है कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में अपने समय में प्रचलित विभिन्न प्रकार के भ्रष्टाचारों की ओर संकेत किया है।''[94] ''भ्रष्टाचार को परिभाषित करते हुए राबर्ट सी बुक्स ने कहा है कि कोई प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करने के लिए जानबूझकर प्रदत्त कर्त्तव्य का पालन न करना राजनैतिक भ्रष्टाचार है, भ्रष्टाचार सदैव किसी स्पष्ट अथवा अस्पष्ट लाभ के लिए कानून और समाज के विरोध में किया जाने वाला कार्य होता है।''[95]

भ्रष्टाचार एक बहुत जटिल विषय है इसके विभिन्न रूप होते हैं इसको परिभाषित करना अत्यन्त कठिन है। इसमें सभी प्रकार के लोग तथा समूह आते हैं जैसे राजनीतिज्ञ, अधिकारी, पुलिसकर्मी तथा ऐसे अन्य नागरिक जैसे व्यापारी,उद्योगपति, बैंकर इत्यादि।व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से भ्रष्टाचार करने वाले सभी लोग इसके अंतर्गत आते हैं। श्वेत वस्त्र अपराधी भी जो कानूनों का उल्लंघन करते हैं और भ्रष्ट एवं गलत साधनों से जीवनयापन करते हैं भ्रष्टाचार के अभिन्न अंग हैं।

भ्रष्टाचार निरोध समिति 1962 के अनुसार ''शब्द के व्यापक अर्थ में एक सार्वजनिक पद अथवा जनजीवन में उपलब्ध एक विशेष स्थिति के साथ संलग्न शक्ति तथा प्रभाव का अनुचित या स्वार्थ पूर्ण प्रयोग ही भ्रष्टाचार है।''[96] आदिकालीन एवं मध्ययुगीन समाजों में भ्रष्टाचार का क्षेत्र अत्यन्त सीमित था। भ्रष्टाचार को जन्म देने वाले अनेक कारण हैं फिर भी हमारे देश के सन्दर्भ में जन सामान्य का विश्वास है कि हमारे देश में भ्रष्टाचार, में अधिक वृद्धि स्वतंत्रता के पश्चात् ही हुई और इस भ्रष्टाचार के प्रमुख उत्तरदायी कारण निम्न हैं -

1. राजनैतिक संस्थाओं के विशाल क्षेत्र।
2. राजनीति तथा बड़े व्यापार के बीच गहरे संबंध।
3. लोकतंत्र सरकार की विकृत अवस्था।
4. सरकार की अधिकतर क्रियाओं तथा वस्तुओं का अभाव।
5. मूल्यों में परिवर्तन।
6. मुद्रा-अर्थव्यवस्था का विस्तार।
7. भ्रष्टाचार का उन्मूलन करने वाले उपयुक्त संगठनों की भ्रष्टाचारियों से सांठ-गांठ।

भ्रष्टाचार एवं वोटों की राजनीति से प्रभावित सरकारें प्राय: ऐसे कानून बनाती हैं जिनसे कुछ विशेषज्ञ समूहों को ही लाभ हो, जैसे व्यावसायिक वर्ग जो व्यापारिक तौर पर भ्रष्टाचार चलाकर लाभ अर्जित करते हैं। सलीवन के अनुसार "हकीकत में संगठित अपराध बिना भ्रष्ट राजनीतिज्ञों के प्रोत्साहन के जीवित नहीं रह सकता, इसके साथ ही उसको भ्रष्टाचारी पुलिस या उन्मूलन विभागों का संरक्षण प्राप्त होना भी आवश्यक है।"[97] आज भ्रष्ट व्यवसाय, राजनैतिक भ्रष्टाचार और संगठित अपराध मिलकर समाज में अपना राज चला रहे हैं उससे सम्पूर्ण भारतीय समाज त्रस्त आ चुका है। भारत मे आज भ्रष्टाचारी आम आदमी से लेकर सम्पूर्ण सरकारी तंत्र तक कटघरे में खड़ा है, न तो राजनेता बचे हैं, न अधिकारी, न औद्योगिक घराने बचे हैं, न व्यापारी, यहां तक कि न्यायपालिका और प्रेस जैसे लोकतंत्र के प्रमुख स्तम्भों से भी भ्रष्टाचार के नाले फूट रहे हैं। जिसे रोक पाना मुश्किल हो गया है।

अब देश की हालत यह हो गयी है कि कार्यपालिका, व्यवस्थापिका, न्यायपालिका के निचले से लेकर सर्वोच्च गरिमामय पदों पर भी भ्रष्टाचार के तहत उंगली उठाई जा चुकी है। आज हालात यह है कि लेखन में जिसे हम भ्रष्टाचार कहते हैं देश की आम जनता के लिए वह शिष्टाचार हो गया है वहां गांव में पटवारी से लेकर प्रधानमंत्री तक इसकी चपेट में आ चुके हैं। आम आदमी को रिश्वत देकर कार्य करवाने की आदत पड़ गयी है। ईमानदार अफसर या अधिकारी को लोग भद्दी गालियों से नवाजते हैं और जो लोग भ्रष्ट हैं रिश्वत लेकर काम करते हैं, उनके लिए लोग कहते हैं अरे डिप्टी साहब बहुत बढ़िया आदमी हैं एक हाथ लेते हैं दूसरे हाथ काम कर देते हैं। भारत की असल स्थिति यही है आज सारा राष्ट्र इस समस्या तले चरमरा रहा है।

जाति-पाति

"भारतवर्ष को ऋषियों, मुनियों का देश कहा जाता है, जहां इस लोक से परे परलोक को अच्छा बनाने के लिए सद्कृत्य, त्याग व तपस्या जैसा महान मूल्य आवश्यक माने गये एवं मोक्ष भी इस जीवन का लक्ष्य समझा गया फिर भी हमारी सामाजिक व्यवस्था में मानव-मानव के प्रति भेदभाव का स्वरूप अधिक गहराया हुआ दिखाई देता है।"[98] भारत को जातियों व उपजातियों का अजायबघर कहा जाय तो कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। यहां तीन हजार से अधिक जातियां व उपजातियां निवास करती है। विभिन्न जातियों में स्तरणात्मक स्थिति पाई जाती है, जिसका सीधा अभिप्राय है कि जातियों में ऊंचनीच की स्थिति का होना। अर्थात एक जाति सामाजिक प्रतिष्ठा व सम्मान के आधार पर शिखर पर है तो दूसरी एक दम नीचे है जहां निम्न जाति को प्रतिष्ठा व सम्मान देना तो दूर रहा उनका स्पर्श ही उच्च जातियों में अनुचित व धर्म विरोधी माना गया है। जातीय सोपान में निम्नतम स्तर पर रहने वाली इन अस्पृश्य जातियों पर अनेक अयोग्यताएं लादी गई। सवर्ण हिन्दुओं द्वारा निम्न जातियों को अस्पृश्य मानने, यहां तक उनकी परछाई को भी अपवित्र मानने जैसा क्रूर व्यवहार भारत के इन पुत्रों के प्रति होता रहा है। पवित्र नदियों के पवित्र घाट पर स्नान करना, गांव में सवर्ण जाति के लिए उपयोग में लाये जाने वाले कुंए से पानी भरना एवं सवर्ण हिन्दुओं के मंदिरों में प्रवेश करना इनके लिए वर्जित रहा है।" यहां तक कि वैदिक मंत्रों के उच्चारण को श्रवण करने के अधिकार से भी इन्हें वंचित रखा गया।"[99] अभी भी स्थिति कहीं-कहीं ज्यों की त्यों है।

भारत में आज भी गांव हो या नगर इनके आवास की पृथक व्यवस्था सर्वत्र दिखाई देती है। उच्च जातियों ने सदियों से इन पर आर्थिक शोषण का कुत्सित चक्र चला कर इन्हें गरीबी में ही रहने को विवश किया है। "स्वतंत्र भारत में संविधान व 1954 में अस्पृश्यता उन्मूलन अधिनियम पारित करके इनकी अयोग्यताओं को वैधानिक रूप से तो माफ कर दिया गया,फिर भी सदियों से पाले-पोसे हमारे संस्कार आज भी उन्हें समानता का व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने में बाधा डाल रहे हैं।"[100]

वर्तमान समय में जाति नामक संस्था जातिवाद के नाम से उभरकर नंगा नृत्य करके समाज में विषमता व अन्याय को प्रोत्साहित कर रही है। "जातिवाद जातीय भावना का ही परिवर्तित रूप है। जिसे निम्नलिखित प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है। जी. के.अग्रवाल के अनुसार जातिवाद वह

संकुचित भावना है जो व्यक्तियों को अपनी जाति विशेष के स्वार्थों की दृष्टि से सोचने के लिए प्रेरित करती है और अपने जाति हितों को सर्वोपरि समझने के लिए प्रेरित करती है। सम्पूर्ण राष्ट्र व समाज से भी अधिक महत्व जाति को देती है।''[101] डॉ. नर्मदेश्वर प्रसाद के अनुसार ''जातिवाद राजनीति में रूपान्तरित जाति के प्रति निष्ठा है।''[102]जाति-पाति, जाति-प्रथा से संबंधित एक भयंकर सामाजिक भावना है जिससे प्रभावित होकर लोग अपनी जाति के हित के सम्मुख अन्य जातियों के सामान्य हितों की अवहेलना और प्राय: हनन करने को तैयार हो जाते हैं। ''मानव भावनाओं का एक संकुचित रूप जातिवाद प्रजातंत्र के लिए घातक है क्योंकि यह विभिन्न जातियों को एक दूसरे से पृथक करता है। यह श्रमिक अकुशलता को बढ़ावा देता है, क्योंकि नौकरियों की नियुक्ति जाति के आधार पर होती है न कि कुशलता के आधार पर। जातिवाद से प्रेरित होकर अपनी जाति के सदस्यों को हर प्रकार की सुविधा प्रदान करने के लिए अनेक अनुचित और अन्यायपूर्ण उपायों का सहारा लिया जाता है। जिससे नैतिक पतन होता है, साथ ही जातिवाद के आधार पर विभिन्न जातियों के आपस में बंट जाने से राष्ट्रीय एकता तथा प्रगति में बाधा उत्पन्न होती है।''[103]

भारतीय समाज ''जातीय बेड़ियों में इस तरह जकड़ा हुआ है कि इनका सरलता से टूट पाना कठिन है जातिय कट्टरता को समाप्त करने के लिए शिक्षा के अलावा और कोई अस्त्र नहीं है, कहने के लिए आज भले ही अस्पृश्यता का अंत हो गया है, कानून भी बनाये गये हैं किन्तु गांवों में आज भी थोड़े बहुत परिवर्तन के बाबजूद स्थिति वही है। अस्पृश्यता भारतीय जाति व्यवस्था पर एक काला धब्बा सबसे बड़ा कलंक है। आज भी इसका भयंकर रूप हमें निरंतर डरा रहा है। आज भी भारत के गांवों में उनकी दशा संतोषजनक नहीं है''[104] जाति-पाति की भावना के कारण सामाजिक तथा राजनैतिक एकता स्थापित होने में बाधा उत्पन्न होती है। ''समाज का एक बहुत बड़ा भाग जाति-पाति के चक्कर में राष्ट्र की प्रगति में अपना योगदान नहीं कर पाता है।''[105] परिणामस्वरूप सम्पूर्ण समाज को नुकसान होता है। ''अत: सुधार आन्दोलन के द्वारा इस प्रकार के जनमत को बनाने का प्रयत्न स्वतंत्रता के पूर्व एवं स्वतंत्रता के पश्चात् भी जारी है जिससे अस्पृश्यता का उन्मूलन शीघ्र हो सके। इस सन्दर्भ में गांधी जी द्वारा चलाया गया अस्पृश्यता उन्मूलन आन्दोलन विशेष रूप से उल्लेखनीय है।''[106]

स्वतंत्र भारत के पिछले चार दशकों पर यदि विहंगम दृष्टि डाली जाय तो स्पष्ट होगा कि उत्तरप्रदेश व बिहार में उच्च जातियों ने निम्न जातियों को दबाने के लिए अनेक अत्याचार किये हैं। ''इन प्रांतों में उच्च जाति के व्यक्तियों द्वारा निम्न जातियों के व्यक्तियों की झोपड़ियां जला देना, उन्हें गोलियों से भून देना, उनकी स्त्रियों के साथ बलात्कार जैसी अनेक पाश्विक गालियाँ निर्बाध रूप से चली आ रही हैं ''[107] आये दिन समाचार पत्रों में इस प्रकार की घटनाएं प्रकाशित होती रहती है जिन्हें पढ़कर स्वतंत्र भारत के सभ्य नागरिकों का सिर शर्म से झुक जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जाति-पाति वह विचार या भावना है जिसमें बंधकर हम संकीर्ण दायरे में रहकर समाज व राष्ट्र की अपेक्षा अपने जातीय हितों को प्रधानता देते हैं या जातीय सदस्यों के प्रति पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण अपनाते हैं। हमारी जातिवादी भावनाएं योग्य एवं अक्षम व्यक्ति को भी सक्षम एवं योग्य व्यक्ति की तुलना में प्राथमिकता देने को हमें प्रेरित करती हैं।

आर्थिक असमानता -

जिस प्रकार विश्व के राष्ट्रों को उनकी प्रति व्यक्ति आय के आधार पर विकसित, अर्ध विकसित एवं अविकसित अथवा अमीर एवं गरीब की श्रेणी में रखा जाता है उसी प्रकार एक देश के अंतर्गत ही जब व्यक्तियों की आय में असमानता होती है तब तुलनात्मक रूप से अधिक आय वालों को अमीर एवं कम आय वालों को गरीब कहा जाता है। ''राष्ट्रीय स्तर पर यह असमानता देश की सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक क्रियाओं को प्रभावित करती है एवं इसके गंभीर परिणाम होते है।''[108] ''आर्थिक समानता देश में एक स्वच्छ जीवन प्रदान करती है जबकि आय की असमानता कुछ लोगों को नारकीय जीवन व्यतीत करने के लिए विवश करती है।''[109]

आर्थिक असमानता से तात्पर्य किसी देश के अंतर्गत रहने वाले लोगों के मध्य राष्ट्रीय आय के असमान वितरण से लगाया जाता है जिसमें राज्यों को तथा व्यक्तियों को राष्ट्रीय आय का समान हिस्सा नहीं मिलता। विलियम लाक्स के अनुसार "किसी भी देश में प्रतिवर्ष जो आर्थिक वस्तुएं, पदार्थ एवं सेवा उत्पादित की गई है उनका वितरण व्यक्तियों अथवा परिवारों के बीच असमान है।"[110]

औद्योगिक क्रांति के पूर्व विश्व के सभी राष्ट्रों में आर्थिक असमानता विद्यमान थी लेकिन क्रांति के पश्चात् यह असमानता और अधिक स्पष्ट हो गयी। वास्तव में स्वतंत्र व्यापार और पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के कारण देशों में धन का संकेन्द्रण एक विशेष वर्ग में हो गया जिससे असमानता का एक कुचक्र चालू हुआ जिससे यह असमानता और बढ़ने लगी।" आय की इस आर्थिक असमानता को तथा इसके कुचक्र को तोड़ने के लिए कई विचारधारायें पनपी और समानता का नारा बुलंद होने लगा। भारत जैसे अर्द्ध विकसित, विकासशील एवं मिश्रित अर्थव्यवस्था वाले राष्ट्रों में यह असमानता अन्य देशों की तुलना में अधिक स्पष्ट एवं काफी मात्रा में नजर आती है।"[111] स्वतंत्र भारत में आर्थिक असमानता के बारे में पता लगाने के लिए सन् 1960 में सबसे पहले प्रो. महालनोबिस की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई। जिसने अपनी रिपोर्ट में कहा था कि "जनसंख्या के एक छोटे भाग में आर्थिक पूंजी एवं धन का संकेन्द्रण हुआ है और आर्थिक आय असमानता में वृद्धि हुई है। आर्थिक शक्ति, आय, सम्पत्ति के रूप में अधिकतर निजी क्षेत्र में दृष्टिगोचर है।"[112]

भारतीय अर्थव्यवस्था में आय एवं सम्पत्ति के वितरण में विभिन्न पहलुओं के देखने से जो असमानता की झलक नजर आती है वह देश की पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत कम नहीं हो पाई है बल्कि विभिन्न समितियों,आयोगों एवं विशेषज्ञों के अनुमानों के अनुसार अधिक हुई है। जो एक भयंकर समस्या है। आय की असमानता को दूर करना लोकतांत्रिक दृष्टि से भी अत्यन्त आवश्यक है। आर्थिक असमानता में वृद्धि करने वाले कारणों में से कुछ प्रमुख कारण इस प्रकार है - वित्तीय कारण, बेरोजगारी, राज्यों में विभिन्न विकास दर, भूमि का असमान वितरण, शिक्षा के अवसरों में असमानता आदि। "स्वतंत्रता के पश्चात् भारत सरकार ने आर्थिक विकास के उद्देश्य से जो पंचवर्षीय योजनाएं शुरू की उनके वित्तीय ढांचे में काफी परिवर्तन हुआ।"[113] इस परिवर्तन से आर्थिक असमानता कम होने के बजाए अधिक ही हुई है। अत: स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज की सबसे बड़ी समस्या है आर्थिक असमानता जो दिन-प्रति दिन विकराल रूप से बढ़ती जा रही है, आर्थिक विषमता सभी समस्याओं की जननी है।

स्त्री की अस्मिता पर आंच -

स्त्री सृष्टि के आकर्षण का मूलाधार है। सृष्टि के विकास की आधार शिला भी यदि नारी को माना जाये तो शायद कोई अतिश्योक्ति न होगी। इस सृष्टि के विकास के बीजरूप में भले ही पुरूष की सत्ता को स्वीकार किया जा सकता है किन्तु इस अकाट्य सत्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि नारी के असीम प्रेम,अथक परिश्रम,वात्सल्य,सेवाभाव,सहनशीलता द्वारा वह बीज पल्लवित-पुष्पित होता है।

"कितने आश्चर्य की बात है कि जो स्त्री सम्पूर्ण मानव जाति के मूल उत्स का साधन है वही स्त्री पुरूष की अहं भावना का शिकार है, उसकी उद्दाम शक्ति और त्याग पुरूष के सामने स्वयं को तिरोहित कर देने के बदले में उसे क्या मिलता है ? केवल पुरूषत्व की हिकारत, अत्याचार, तिरस्कार और उपेक्षा।"[114] स्त्री अपने अस्तित्व को स्थापित करने के लिए कितना भी संघर्ष क्यों न करें, किन्तु व्यावहारिक स्तर पर उसे महत्व नहीं मिलता। "प्राचीन काल से लेकर आज तक नारी अपने अस्तित्व के लिए निरंतर संघर्ष करती आ रही है।"[115]

समाज में नारी पुरूष समानता का नारा सुनने में तो आदर्शवादी लगता है किन्तु यथार्थ स्तर पर कितने लोग इसे व्यवहार में लाते हैं। यह आज भी 21वीं सदी में पहुंचते भारत में सोचनीय है आज भी रोजमर्रा की जिन्दगी में पुरूष के सामने स्त्री विवश और निरीह ही नजर आती है। भले ही भारतीय संविधान में स्त्री को पुरूष के समान ही अधिकार सम्पन्न दर्जा दिया गया है किन्तु भारतीय समाज आज भी पुरूष सत्ता प्रधान समाज है जहां पुरूष को प्रथम और स्त्री को दोयम स्थान दिया गया है। स्त्री की

भावनाओं की कोई कद्र नहीं की जाती, (लड़की का जन्म ही हमारे समाज में अपशकुन माना जाता है)लड़कियां मानो समाज के लिए बोझ स्वरूप होती हैं जिसे उतारने के लिए माता-पिता अथक परिश्रम करते हैं। मध्यवर्गीय समाज में तो यह आशा की जाती है कि नारी लज्जा, नैतिकता और संयम की पुतली बनी रहनी चाहिए। उससे सभ्य सुसंस्कृत व्यवहार की अपेक्षा ही नहीं की जाती। हमारे यहां लड़कियों को विवाह की बेदी पर बलिदान कर देने की परम्परा आज भी चल रही है। "आज स्त्री सुशिक्षित होकर भी पुरूष के शोषण की शिकार है।"[116]

"अपने देश को हम भारत माता कहकर उसके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करते हैं। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी व्यावहारिक रूप में भारत में स्त्रियों की स्थिति विभिन्न कालों में उठती गिरती रही है।"[117] स्वतंत्रता के बाद हमारे देश में स्त्री का जो अपमान बढ़ा है "उससे हमारा मन दर्द और गुस्से से इतना भर गया है कि इस अत्याचार के खिलाफ सार्थक आवाज उठाने के लिए आवश्यक दृष्टि और समझ पकड़ से फिसलकर निकली जा रही है।"[118] आज से कई दशक पहले से स्त्री के प्रति आदर्श व्यवहार यह माना जाता था कि हम एक तरफ उसकी पूजा करें तथा दूसरी ओर दया की वस्तु मानें। "पर साठ के दशक में एक नयी समझ मिली कि स्त्री का सावित्री नहीं द्रोपदी आदर्श है इसी के साथ यह भी कि स्त्री समाज का सबसे अधिक शोषित वर्ग है और शोषितों के अधिकारों की कोई भी लड़ाई स्त्री के अधिकारों की नर-नारी समता की लड़ाई के बिना पूरी नहीं हो सकती।"[119] जाने क्यों ? "नारी से पोषित समाज ही नारी का शोषण करते नहीं अघाता"[120] पिछले कुछ दशकों में जिस गति से राजनीति केवल सत्ता नीति बन गयी है उसी अनुपात में स्त्री पर अत्याचार बढ़ता गया जो कि पुनरूत्थानवादी होते जाते समाज में होना ही था। गौरतलब है कि "औरत के बारे में पब्लिक स्कूल में पढ़े आदमी के विचार अक्सर वैसे ही होते है। जैसे शास्त्रों का उद्धरण देने वाले वर्णवादियों के।"[121] निष्कर्षत: यदि समाज में नारी पुरूष को समानता का दर्जा प्राप्त हो, नारी को भी अपनी इच्छा-अनिच्छा को अभिव्यक्त करने का सुअवसर प्रदान किया जाये तो शायद नारी के जीवन से किये जाने वाले खिलवाड़ को कुछ हद तक रोका जा सकता है। नारी, पुरूष समाज की पृथक इकाई तो है ही व्यक्ति रूप में भी इसका मूल्यांकन होना चाहिए। भारत की नारी आज भी अपनी अस्मिता की जंग में संघर्षरत है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में हालाकि महिला उत्थान को पूरा अवसर दिया गया है किन्तु फिर कुछ स्त्रियों के पायलट या सेना में शामिल हो जाने से सारे समाज की स्त्री जाति का उद्धार संभव नहीं है। स्त्री के लिए पुरूष के समान सामाजिक दबदबा बनाने में अभी भी दिल्ली दूर है। किन्तु आने वाला समय स्त्री के लिए निश्चित ही अधिकार सम्पन्नता के साथ-साथ सामाजिक प्रभाव से भरा होगा।

दहेज प्रथा -

"भारतीय समाज में आज भी बहु के ऊपर अनेक अत्याचार होते हैं। और दो परिवारों में तनाव चलता रहता है।"[122] "सामाजिक आंदोलन के द्वारा इस प्रथा के विरूद्ध जनमत का निर्माण करके इसको धीरे-धीरे समाप्त कर देने की दिशा में आज भी प्रयत्न जारी है।"[123] प्रमुख सामाजिक समस्याओं में "एक समस्या दहेज प्रथा की भी है, दहेज प्रथा एक विकट समस्या है इसके कारण समाज में अनेक दुष्परिणाम उत्पन्न हो गये है"[124] अत: दहेज भारतीय समाज की एक ऐसी ज्वलंत समस्या है जिसमें सम्पूर्ण समाज झुलस रहा है, इसके विरूद्ध बनाया गया कानून भी कारगर सिद्ध नहीं हुआ है,दहेज प्रथा का प्रभाव दिनों दिन बढ़ता ही जा रहा है।

प्रान्तवाद और क्षेत्रीयतावाद -

"प्रान्तीयता और क्षेत्रीयता दोनों ही अपने संकुचित रूप में अपने-अपने स्वार्थों पर आधारित होने के कारण सामाजिक समस्याओं को जन्म देतेहैं।"[125] प्रान्तवाद और क्षेत्रीयता से प्रेरित होकर लोग केवल अपने ही प्रांत अथवा क्षेत्र के हितों को सर्वोच्च प्राथमिकता दे देते हैं, और अन्य प्रांतों या क्षेत्रों की अवहेलना करने लगते हैं। इससे देश के विभिन्न राज्यों के बीच पारस्परिक सद्भावना को ठेस पहुंचती है

और राष्ट्र में समस्या खड़ी हो जाती है। प्रांतवाद और क्षेत्रीयता भी कभी-कभी हिंसक साम्प्रदायिकता की तरह भयंकर रूप धारण कर लेती है और आजकल तो राजनीति इतनी भ्रष्ट हो चुकी है कि मौकापरस्त राजनैतिक दल और राजनैतिज्ञ अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति के लिए प्रांतवाद और क्षेत्रीयता को भड़काकर लाभ लेने से नहीं चूकते। क्षेत्रीयतावाद एक भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाले लोगों के मनोभाव को व्यक्त करता है जिसके अनुसार उस क्षेत्र के लोग यह सोचते है कि उनकी भाषा, संस्कृति, इतिहास तथा सामाजिक परम्परायें अन्य क्षेत्रों से श्रेष्ठ हैं और इसलिए उन्हें अपना सर्वांगीण विकास करने का अधिकार है और उसके लिए किसी भी मूल्य पर उन्हें सब तरह की सुविधायें मिलनी चाहिये। इसके लिए यदि उन्हें सम्पूर्ण राष्ट्र से अपना नाता ढीला भी करना पड़े तो उसके लिए भी वे तैयार रहते हैं। "क्षेत्रीयतावाद का यह संकीर्ण रूप स्वतंत्र भारत में भी देखने को मिलता है। उत्तर और दक्षिण भारत के बीच जो मतभेद बहुधा नाना ढंग से प्रकट होते रहते है वे क्षेत्रीयतावाद के ही उदाहरण हैं।"[126] प्रांतीय वफादारी एवं उससे सम्बन्धित क्रियाकलाप को ही प्रांतीयता की संज्ञा दी जा सकती है प्रांतीयता की भावना से प्रेरित लोग अपने प्रांत के प्रति अपनी वफादारी पहले निभाते है, चाहे उसके लिए राष्ट्रीय हित की बलि ही क्यों न चढ़ा देनी हो। इसलिए वे अपने प्रांत के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक हितों की अधिकतम पूर्ति चाहते हैं और उसके लिए आवश्यक कदम उठाते हैं। प्रांत के प्रति इसी उग्र अनुराग के कारण अपने प्रांत में बसे अन्य प्रांतों के लोगों के साथ अत्यधिक पक्षपातपूर्ण व्यवहार किया जाता है और नौकरी आदि की नियुक्ति तथा राजनैतिक सामाजिक व आर्थिक सुविधायें प्रदान करने के मामलों में अपने ही प्रांत के लोगों को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाती है। "यहां तक कि शिक्षा संस्थाओं या प्रशिक्षण केन्द्रों में दाखिला देने के मामले में भी अपने ही प्रांत के लोगों को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की जाती है।[127] इससे भी सामाजिक तथा राष्ट्रीय मानचित्र पर समस्याएं खड़ी होती हैं जो कभी-कभी गंभीर रूप धारण कर जाती हैं।

भाषावाद -

भारत में आज भी भाषाओं को लेकर विवाद की स्थिति खत्म नहीं हुई है। दक्षिण भारत में हिन्दी का विरोध आज भी जब तब फूट पड़ता है और उत्तर भारत में अंग्रेजी के विरोध में जुलूस और आंदोलन नयी बात नहीं है। दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि भाषाएं जो व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़ने का साधन होती हैं। किन्तु भारत में भाषाई खींचतान को लेकर अनेकों बार संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती रहती है। भाषा राष्ट्रीय एकता में एक प्रमुख तत्व में स्वीकार की जाती है, भाषा से विचार विनिमय होता है, प्रान्त-प्रान्त के पास वैसे ही आते हैं जैसे व्यक्ति-व्यक्ति के।

राजनैतिक, आर्थिक, और सामाजिक कदाचार के प्रसंगों पर विचार -

सर्वमान्य सत्य है कि विकास कभी रूकता नहीं है समय के साथ-साथ विकास का प्रवाह युगों-युगों से निरंतर चला आ रहा है, स्वातंत्र्योत्तर काल भी इससे अछूता नहीं रहा। यह प्रवाह जब युगीन परिस्थितियों के सानिध्य में उफनता है तो अपने साथ सदाचारों के साथ उद्दंड रूप में कदाचारों को भी समेट लेता है, तथा मानव मन दुर्बलताएं स्वार्थों से गढ़ी हुई नयी परिभाषाओं एवं संबंधों के पक्ष में आंख मूंद लेने की कोशिशों के उथले धरातल पर जब प्रवाह थमता है तो ये कदाचार स्वत: ही दृष्टिगोचर होने लगते हैं।

जैसा कि मैने ऊपर कहा है कि मानव मन की दुर्बलताएं स्वार्थों से गढ़ी हुई नयी परिभाषाएं एवं सम्बन्धों के पक्ष में आंख मूंद लेने की कोशिशें एक चुम्बक की भांति इन कदाचारों को आत्मसात कर लेती हैं। जिसके परिणामस्वरूप क्रमश: आर्थिक ,सामाजिक एवं राजनैतिक कदाचारों का प्रादुर्भाव होता है।

राजनैतिक कदाचार -

"1947 से लेकर अब तक राजनैतिक आजादी का हमने क्या किया और आज क्या कर रहे हैं।"[128] यदि इस बात पर हम विचार करेंगे तो स्वतंत्रता के पश्चात् का भारत हमें ज्यादा स्पष्ट रूप में

दिखाई देगा। स्वातंत्र्योत्तर भारत में राज्य और समाज के संबंध कैसे निर्मित हुए हैं तथा राजनीति बाढ़ के पानी की तरह फैलकर कैसे राष्ट्र के सम्पूर्ण ढांचे पर हावी हो गयी ऐसे ही अनेक प्रश्न खड़े हैं जिनका सही-सही उत्तर देना कठिन है पर हां यह सत्य है कि स्वतंत्र भारत में भारतीय राजनीति से एक नहीं अनेक गंदे नाले निकले जिसने सम्पूर्ण भारतीय समाज को विकृत एवं जर्जर स्थिति में लाकर खड़ा कर दिया। अंग्रेजों ने उधर भारत छोड़ा इधर हमने राष्ट्रीयता छोड़ दी और फिर उसके पश्चात् हमने जो कुछ किया उसी का परिणाम है आज का शोषित, दमित, भ्रष्टाचार में जकड़ा भारत।

भारत की राजनीति पर रघुवीर सहाय ने कहा है "अगर राजनीति शुद्ध सत्ता की राजनीति है तो वह एक बंबइया फिल्म की तरह से काम करेगी।"[129] और असल में हो भी यही रहा है। धूमिल के अनुसार "विपक्ष की बेंच पर बैठे नेता भाइयों के नाम सस्ते गल्ले की कितनी दुकानों का कोटा है।"[130] जब विपक्ष का हाल यह है तो सत्ता पक्ष के नेताओं और उनके करतबों का अंदाज लगा पाना भी कठिन है।

स्वतंत्रता के पश्चात् अपराध अपने देश में क्यों फला-फूला है ? इसलिए की इसकी जड़ों को राजनीति ने सत्ता के पानी से सींचा है। शोषक राजनीति ने किसी चीज को सही जगह नहीं रहने दिया है और तो और भूख से मरा हुआ आदमी इस मुल्क का सबसे सटीक विज्ञापन बन गया है। सर्वत्र संशय और ऊब है, आवश्यकताओं के आगे असहायता है लेकिन फिर भी यथार्थ स्थिति से मुंह फेर कर राजनीति अपनी गति से उत्तरोत्तर अधोगति की ओर बढ़ती जा रही है। "भारत ऐसा जनतंत्र है जिसमें जिंदा रहने के लिए घोड़े और घास को एक जैसी छूट है।"[131]आजादी के बाद हम बहुत दिनों तक इस भ्रम में जीते रहे कि देश स्वतंत्र हो गया धीरे-धीरे नेहरू के नेतृत्व में राष्ट्र में समाजवाद की स्थापना हो जायेगी। किन्तु ऐसा नहीं हुआ दिनकर ने एक स्थान पर लिखा है कि नेहरू की मृत्यु का तात्कालिक कारण जो कुछ भी रहा हो, उनके रोग का वास्तविक नाम है चीन का आक्रमण। "सन् 1962 ई. में चीन के आक्रमण ने एक झटके से नेहरू युग के समस्त भ्रमों पर से पर्दा उठा दिया। सन् 1962 ई. में चीन के आक्रमण ने भारत के प्रबुद्ध वर्ग को घोर ग्लानि और जड़ता से भर दिया। एक साथ ही प्रेम, सहानुभूति, सह-अस्तित्व, पंचशील, भाई-भाई जैसे नारों की सारी हवा निकल गई।"[132]

सन् 1962 ई. के बाद से देश की राजनीति में मूल्यों की गिरावट का जो चिन्तनीय दौर आरम्भ हुआ, उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती गयी और आज बीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में राष्ट्र का कोई भाग ऐसा नहीं बचा है जहां राजनैतिक कदाचारों ने प्रवेश न किया हो। देश में इस राजनैतिक अधोगति ने भारतीय समाज का भी परम्परागत आदर्शों, मूल्यों से विश्वास उखाड़ फेंका है। स्वाधीन भारत में और ब्रिटिश शासित भारत में कोई विशेष अंतर दिखाई नहीं दिया। भारतीय लोकतंत्र में भी समाज के आर्थिक विपन्न तबके के साथ शासन का रवैया (खासकर मजदूर किसानों के साथ) अंग्रेजी शासन की तरह ही दोयम दर्जे का रहा है। भारत की स्वतंत्रता सुविधा प्राप्त विशेष वर्ग की स्वतंत्रता प्रतीत होती है। स्वातंत्र्योत्तर भारत की राजनीति "आग लगा पानी को दौड़ती दिखाई देती है "। धन और पद की होड़ में देश के अंदर इतनी गिरी हुई राजनीति हुई है कि आम आदमी का सरकार और दलों से विश्वास ही टूट गया, सत्ता के लिए हमारे देश में राजनैतिक दलों ने क्या कुछ नहीं किया। अपने-अपने वोट बैंक की खातिर साम्प्रदायिकता, जातिवाद, क्षेत्रीयता, प्रांतवाद, भाषावाद आदि रूप में भारत को कमजोर बनाने की कोशिशें लगातार जारी हैं। राजनैतिक विपदाओं के द्वारा उगले गये जहर के कारण भारतीय समाज में इस कदर वैमनस्यता फैल गयी है कि सदियों से चले आ रहे सामाजिक संबंध और परम्पराएं कटुता में बदलती जा रही हैं। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीति के सन्दर्भ में नागार्जुन की कविता दृष्टव्य है- "जाने क्या-क्या छुपा हुआ है सरकार तुम्हारी आंखों में/ झलका करता है रामराज्य का प्यार तुम्हारी आंखों में/ गोरा लगता है अब काला बाजार तुम्हारी आंखों में।"[133] "भारत की स्वतंत्रता का कल्पित स्वर्ग स्वातंत्र्योत्तर परवान चढ़ी राजनीति से आलिंगन कर छिन्न-भिन्न होकर यथार्थ के भीषण रूप में देश के सम्मुख उपस्थित हुआ। जिस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जीवन की सारी सुविधाओं को भूलकर देशवासियों ने प्रयत्न किया वह प्राप्ति के उपरान्त इतना कष्ट कर हो जायेगा इसकी कल्पना नहीं थी।"[134]

आज राजनीतिज्ञों के पास सांस्कारिक, पास्परिक, धार्मिक और नैतिक दृष्टि से पाप-पुण्य कुछ भी नहीं बचा है। कोई भी घृणित कार्य हो या सामाजिक अपराध, उनके मन में अपराध बोध नहीं जागता, न ही कोई कुंठा पनपती है। राजनेताओं के लिए काले धंधों से धन बटोरना और रिश्वत लेना, भविष्य को सुरक्षित रखने का कवच है। भाषण, आश्वासन, राजनीति के मंच के लिए नाट्यकला बन गये हैं। जनता के लिए ईमानदारी से कुछ भी करना अपने प्रति बेमानी है। जनहित का चिंतन मानसिक पाप है। "स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीति जनता को ठगने, मूर्ख बनाने और अपने आप को हर क्षेत्र में स्थापित करने का सशक्त माध्यम है। सत्ता पाना साध्य है और स्वांतसुखाय इस्तेमाल आत्मा की पवित्र आवाज है।"[135] अत: स्वेच्छाचारी प्रकृति हमारे समकालीन राजनैतिक जीवन की सच्चाई है। विधायकों, सांसदों की आज बिक्री आम बात हो गयी है,अब सरकारें पैसों की जोड़-तोड़ का परिणाम होती हैं। नौवें दशक में तो यह धंधा सारी सीमाएं लांघ गया। राजनीति का व्यवसायीकरण हो गया है।

भारत की राजनीति का यह वर्तमान रूप कुछ वर्षों पहले तक इतना अधिक विकृत नहीं था या फिर जनता के समक्ष अपने विकराल रूप में नहीं आ पाया था जितना की पिछले तीन दशकों में। राजनीति के इस घिनौने स्वरूप से आज लेखक, पाठक से लेकर आम आदमी सबसे ज्यादा आक्रांत है। स्वातंत्र्योत्तर काल के साहित्य में राजनीति के शोषणमूलक चरित्र, भ्रष्ट तरीके और उसकी विसंगतियों एवं विद्रूपताओं को उजागर कर रहा है।

इसमें सन्देह नहीं कि स्वाधीनता संघर्ष में हमारे बुजुर्ग नेताओं ने बहुत कष्ट सहे, यातनाएं झेलीं, उनके पास चरित्र और त्याग का बड़ा शस्त्र था, लेकिन आजादी के बाद उन्हीं नेताओं के चरित्र में गुणात्मक परिवर्तन आया। अपने तमाम कष्टों, यातनाओं और त्यागों का ब्याज सहित मूल्य बसूलने के लिए वे राजनीति को स्वार्थ साधन के रूप में इस्तेमाल करने लगे। सत्ता प्राप्ति पद और प्रतिष्ठा से उनकी भूख नहीं बुझी। इसलिए इसका इस्तेमाल वे धन बनाने के लिए करने लगे। जनता की सारी दौलत उनकी जेबों में सिमटती गई, धन कमाने के लिए इन राजनीतिज्ञों ने जनहित की चिंता तो नहीं की, देश हित पर चोट पहुंचाने से भी बाज नहीं आए। आजादी के बाद जिन नेताओं का आगमन राजनीति में हुआ, वे अपने बुजुर्ग नेताओं के गुणों से ही महिमा मण्डित नहीं हुए। वे दिन दूना रात चौगना धन कमाने में जुट गये।

त्याग और सेवा भावना से देशहित की चिंता करने वाले नेताओं ने उस माहौल से अपने को अलग कर लिया। जिन लोगों ने इसका विरोध किया वे दूध की मक्खी की तरह या तो निकाल फेंके गए या उनकी हत्या कर दी गई । सारे कांटों को साफ करके राजनेता निजी स्वार्थ साधन में जुट गए ।परिणामस्वरूप आज की राजनीति विशुद्ध स्वार्थी और असामाजिक तत्वों से आच्छादित हो गई। राष्ट्रीय चरित्र का अवसान हो गया तथा व्यक्तिवाद का बोलबाला हुआ। "आज राजनीति सेवा वृत्ति नहीं होकर अर्थ लाभ वृत्ति हो गई है। अर्थोपार्जन के लिए सत्ता वरदायिनी है इसलिए सत्ता प्राप्त करने के लिए सारे नेताओं की आपाधापी, प्रतियोगिता, दावपेंच चल रहे हैं।"[136]

निष्कर्षत: राजनीति आज सर्प की भांति जीवन एवं सामाजिक व्यवस्थाओं पर कुंडली लगाए बैठी है। इसने जीवन के प्रत्येक परिवेश को इस तरह आक्रांत किया है कि उससे छुटकारा पाना दुर्निवार हो गया है। शिक्षा, नौकरी, व्यवसाय, सभ्यता, संस्कृति, मान-मर्यादा, उन्नति-प्रगति के सारे मार्ग राजनीति के मार्ग से होकर गुजरते है। समाज और राष्ट्र को इस राजनीति ने इस बुरी तरह जकड़ा है कि प्रत्येक समस्या का , "हर एक प्रश्न का समाधान एवं उत्तर केवल राजनेताओं की स्वीकृति तथा अस्वीकृति की मुद्रा पर निर्भर हो गया है।"[137] आज सामाजिक -व्यवस्थाओं, धार्मिक -आस्थाओं, कला-दर्शन और अध्यात्म की ऊंची भावनाओं का मूल्य कम हो गया है। अत: आज का व्यक्ति इनकी चिन्ता नहीं करता, इन्हें आसानी से झटक देता है किन्तु राजनीति का पाश भयंकर रूप में उसकी स्वतंत्रता को जकड़े हुए है। देश में सारा भ्रष्टाचार, सारी अनैतिकता, अन्याय, अत्याचार इन राजनैतिक अड्डों के माध्यम से देश में पनप रहा है। "आज के मठाधीश मंत्री हैं, धर्म के, संस्कृति के ठेकेदार नेता हैं, आज के

प्रतिष्ठित व्यक्ति एम. एल. ए.हैं। तात्पर्य यह कि सारी व्यवस्था इनके चारों ओर घूमती है। समाज के इन नए ठेकेदारों ने स्वार्थपरता, अवसर वादिता आदि के खुलकर फैलने की स्थिति पैदा की है।"[138] स्वतंत्रता के बाद जिस "मुक्त,सुखी, स्वस्थ जीवन एवं समाज को देखने की लालसा प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में समाई हुई थी "वर्ष के बाद वर्ष निकलते गए और जीवन पूर्व की अपेक्षा और उपेक्षित एवं दीन प्रतीत होने लगा।"[139]

अत: जिस स्वच्छ राजनैतिक व्यवस्था का हमने 1947 में स्वप्न देखा था वह नेहरू के सामने ही टूट गया और उसके पश्चात् हमारे राष्ट्र में जो स्थिति निर्मित हुई वह अत्यन्त ही दयनीय है। गरीबी और बेकारी हटाओं जैसे नारे तो राजनीति ने लगाये, किन्तु असल में चलता रहा सत्ता हथियाने का खेल, और गरीबी तथा बेकारी बढ़ती ही रही। भारत में राजनैतिक दलों के नारे भिन्न हो सकते हैं पर असलियत सबकी एक है।

आर्थिक कदाचार -

"रानाडे के अनुसार सरकार का कार्य एक मात्र कानून बनाना तथा शासन करना ही नहीं बल्कि उसका अंतिम ध्येय राष्ट्र तथा जनता को समृद्ध करना है।"[140] किसी देश की रीढ़ उसके समाज की आर्थिक स्थिति होती है। आधुनिक विश्व में शक्ति के पैमाने बदल चुके है। पहले भारी भरकम सेना रखने वाले राष्ट्र को शक्तिशाली की संज्ञा दी जाती थी, किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् दुनिया में शक्ति सम्पन्नता के नये समीकरण निर्मित होना आरम्भ हुए जिसका आधार राष्ट्र की आर्थिक स्थिति बेहतर है। आज दुनिया भर में आर्थिक युद्ध चल रहा है। भारत जैसे तीसरी दुनिया के देश इस इकॉनामिक वार में पिसे जा रहे हैं।

सैकड़ों वर्षों के आर्थिक शोषण के बाद हमें अत्यन्त दयनीय आर्थिक हालातों में स्वतंत्रता मिली। हमारे राष्ट्र निर्माताओं ने समाजवाद का नारा देकर पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से देश का विकास आरम्भ किया। पश्चिम के औद्योगीकरण से प्रभावित हमारे राष्ट्र के कर्णधारों ने भारत का भी औद्योगीकरण करने का कार्य प्रारम्भ किया। नतीजा यह हुआ कि गरीबी, बेकारी दिन दूनी रात चौगुनी दर से बढ़ती गई। राष्ट्र की आवश्यकता कृषि का विकास तथा लघु और कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देना था किन्तु हुआ उल्टा लघु और कुटीर उद्योग धीरे-धीरे बंद हो गये विदेशी मशीनों का आयात हुआ, बड़े-बड़े पूंजीपतियों ने कारखाने स्थापित किये और देश के सम्पूर्ण अर्थतंत्र को कुछ लोगों ने हथिया लिया। औद्योगीकरण के नाम पर भारतीय समाज में गरीबी और बेकारी महामारी की तरह छा गई समाजवाद का नारा टांय-टांय फिस्स हो गया। "भारत में स्वतंत्रता पश्चात् समाजवाद का नारा लगाया जाता रहा और स्थापना पूंजीवाद की कर दी गई "[141] समाज में धन के असमान वितरण के कारण गरीब और अमीर के बीच खाई निरंतर चौड़ी होती गई।

विकास के नाम पर पंचवर्षीय योजनाएं एक के बाद एक खोखली साबित हुई है विदेशी ऋण ले लेकर भारत सरकारें अपने दिन पूरे करने का माध्यम बन गई हैं। देश के विकास के लिए निर्धारित पूंजी का 80 प्रतिशत भाग गांव तक पहुंचते-पहुंचते भ्रष्टाचार की जेब में चला जाता है। पूर्व प्रधानमंत्री स्व. राजीव गांधी ने लाल किले की प्राचीर से बोलते हुए यह कहा था कि "केन्द्र सरकार गांवों के विकास के लिए एक रूपया भेजती है तो वह गांव तक पहुंचते-पहुंचते बीस पैसे बचता है।"[142]इस कथन से पता चलता है कि स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में सरकार और सरकारी तंत्र ने मिल जुलकर विकास का सारा धन हड़प कर लिया है। परिणाम यह हुआ कि एक वर्ग सर्व सुविधा सम्पन्न होता गया तो दूसरा दिनों दिन कंगाल। योजनाओं और परियोजनाओं के नाम पर करोड़ों, अरबों रूपये का गबन आम बात हो गई है।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीति में अर्थ का महत्व निरंतर बढ़ता गया जीवन में भौतिकता के प्रति जो एक अदम्य आकर्षण उत्पन्न हुआ, उसने अर्थ को जीवन की केन्द्रीय उपलब्धि के रूप में प्रतिष्ठित किया। वैभव और विलास के प्रति लोगों के मन में गहरा आकर्षण जाग्रत हुआ कोठी, कार बंगला लक्ष्य बनने लगे। परिणाम यह हुआ कि अर्थोपार्जन के साधनों में पवित्रता का कोई महत्व नहीं

रहा। "महात्मा गांधी ने साधनों की पवित्रता पर बल दिया था किन्तु गांधी के उपरांत इस तथ्य को लोग भूल गये और जीवन का लक्ष्य ऐन-केन-प्रकारेण अर्थोपार्जन ही रह गया। अर्थ केन्द्रित होने के कारण राजनीति जो सेवा भाव से प्रेरित थी अब व्यापार बन गई उसमें भी लाभ-हानि का गुणा-भाग होने लगा।"[143] चुनावों में बेतहाशा धन खर्च किया जाने लगा। यह सर्व विदित है कि आज चुनाव बिना अर्थ के नहीं लड़ा जा सकता। सभी दल उद्योगपतियों से चुनाव के लिये चन्दा लेते हैं और बदले में सत्ता में आने पर उनको सस्ते सरकारी ठेके देकर, उनका एहसान चुकाते हैं। "आज राजनीति का पूरा तंत्र ही अर्थ केन्द्रित हो गया है। राजनेता छोटे-छोटे कार्यों के लिए रिश्वत लेते हैं और अधिकारी वर्ग उनकी इस बात का अनुसरण करते हैं। इस तरह राष्ट्र आर्थिक अपराधों का अड्डा बन गया है।"[144] पैसे की ताकत से पूंजीपति वर्ग सत्तासीन हो जाता है, और देश की आम जनता के हिस्से का सारा धन अपने घर में भर लेता है। अर्थ के महत्व ने राष्ट्र में अनेक प्रकार के कदाचारों को जन्म दिया। भारत के सन्दर्भ में कहा जाता है "भारतीय कृषक ऋण में जन्म लेता है, जीवन भर ऋण ग्रस्त रहता है और अंत में अपने पीछे ऋण छोड़कर मर जाता है। अर्थशास्त्रियों ने भारत की आर्थिक स्थिति पर कहा है कि भारत एक धनी देश है जहां निर्धन लोग निवास करते हैं।"[145] "वस्तुतः गांधी जी शहर और गांव के आर्थिक संतुलन को बनाये रखना चाहते थे। वह यह नहीं चाहते थे कि गांव की इकाई निर्बल हो जाये। उसकी आर्थिक निष्पन्नता से शहरों में श्रम केन्द्रीयकरण होने की संभावना थी जो भारत जैसे ग्राम प्रधान देश के लिए अस्वाभाविक तथा हानिकारक है इससे विषमता दुगनी बढ़ती है जैसे आज हम पा रहे हैं।"[146]

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में राज्य का हस्तक्षेप निषेध है और यह माना जाता है कि यदि राज्य हस्तक्षेप करेगा तो व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अपहरण होगा। जिससे मानवता का ही विकास अवरूद्ध हो जायेगा। परिणाम यह होता है कि पूंजीपति वर्ग ही राज्य की नीतियों का संचालन करने लगता है, क्योंकि उसके पास पैसा, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, शक्ति आदि सब चीजें रहती हैं, जबकि राज्य के पास केवल औपचारिक शक्ति और प्रतिष्ठा ही रहती है। जनमत का निर्माण करने के साधन जैसे समाचार पत्र इत्यादि सब पूंजीपति वर्ग के हाथ में रहते हैं। इसलिए पूंजीवादी व्यवस्था में राज्य की नीतियां भी पूंजीपति वर्ग के हाथों एवं हितों में रहती हैं भारत में भी स्वतंत्रता के बाद वही लोग राजनीति और समाज में शक्तिशाली हैं जो कि गुलाम भारत में आर्थिक सामाजिक रूप में शक्ति सम्पन्न थे।

महात्मा गांधी के अनुसार "सच्चा अर्थशास्त्र तो सामाजिक न्याय की हिमायत करता है, हम समान भाव से सबकी भलाई का जिसमें कमजोर भी शामिल है प्रयत्न करता है जो सभ्यजनोचित सुन्दर जीवन के लिए अनिवार्य है। किन्तु भारत में ऐसा नहीं हुआ। हमारे यहां स्वातंत्र्योत्तर भारत में जो अर्थ व्यवस्था प्रारम्भ हुई वह केन्द्रित अर्थ व्यवस्था के रूप में प्रकाश में आयी। "इस केन्द्रित अर्थ व्यवस्था ने ग्रामोद्योग को समाप्त कर दिया। प्राचीनकाल से जो कुटीर एवं ग्रामोद्योग की परम्परा चली आ रही थी वह सब समाप्त हो गयी।"[147] पश्चिमी औद्योगिक सभ्यता को अपनाकर भारत के मूलभूत ढांचे में जो परिवर्तन हुआ उसे भारतीय समाज आत्मसात नहीं कर पाया। नतीजा अविकसित, अशिक्षित भारत रातों -रात औद्योगिक अर्थव्यवस्था की अंधी दौड़ में शामिल हो गया और फिर शुरू हुआ धन बटोरने की आपाधापी का दौर, जिसमें हमारे सदियों पुराने परम्परागत आदर्श और सामाजिक मूल्य मटियामेट हो गये। "रूपये की खातिर लोगों ने राष्ट्र और राष्ट्रीयता सबको ताक पर रख दिया। सब हाथ धोकर पैसे के पीछे पड़ गये। राष्ट्र की बहुसंख्यक आबादी जो स्वाधीन भारत में अपने उत्थान का सपना संजोए थी अपने ही देश में गुलामी से बुरी हालत में पहुंच गई।"[148] अथक परिश्रम के बाद भी स्वतंत्र भारत में इस पूंजीवादी अर्थव्यवस्था और आर्थिक भ्रष्टाचार के कारण करोड़ों लोगों को दो जून की रोटी दुर्लभ हो रही है।

एक के बाद एक पंचवर्षीय योजनाओं की गाड़ी छेटती गई और देश का एक वर्ग गरीब से और गरीब होता गया ।सत्ताधारियों के सारे वादे और नारे खोखले साबित हुए। सारी व्यवस्था आर्थिक कदाचारों के चक्रव्यूह में फंसकर रह गई है। भ्रष्टाचार रिश्वत खोरी, मुनाफाखोरी ने नीचे से लेकर ऊपर

तक सारा तंत्र अपनी गिरफ्त में ले लिया। ऊंचे से ऊंचे गरिमामय पदों से घोटालों, गबन आदि आर्थिक अपराधों का खुलासा हुआ जिससे देश की स्वतंत्रता की नींव डगमगा गई। हम समझते थे कि अंग्रेज ही अत्याचारी और धोखेबाज थे परन्तु भारतवासी उनसे भी आगे निकले स्वतंत्र भारत में सरकारी तंत्र और राजनेता अपने ही देशवासियों से अंग्रेजों से भी गया बीता व्यवहार कर रहे हैं आज भी आर्थिक रूप से विपन्न वर्ग के साथ सरकारी तंत्र सौतेला व्यवहार कर रहा है। इस वर्ग को आज तक यह पता नहीं है कि उन्हें आजादी मिली है या नहीं। वे अपने आपको आज भी गुलाम महसूस करते हैं। सम्मान और शक्ति जैसे सम्पन्न वर्ग की बापौती बन गई है। गरीब आदमी के साथ स्वतंत्रता के पहले बहुत अन्याय और शोषण हुआ और स्वातंत्र्योत्तर काल में भी इसमें कोई कमी नहीं आई लोग बदल गये, चेहरे बदल गये लेकिन व्यवस्था की नीति नहीं बदली जो काम पहले अंग्रेज करते थे वही भारतीयों ने किये हैं। कारण सिर्फ आर्थिक असमानता है "सम्पन्न वर्ग, विपन्न वर्ग को अपना गुलाम बनाकर रखना चाहते हैं।"[149]

निष्कर्षत: स्वतंत्रता के पश्चात् एक के बाद एक पंचवर्षीय योजनाओं का कल्पित स्वप्न धाराशायी हो गया। जनता की आकांक्षाओं पर कोई सरकार खरी नहीं उतरी। विदेशी ऋण का बहुत बड़ा भाग जो देश के विकास में लगना था राजनेताओं और सरकारी महकमें की जेबों में चला गया। आज देश की आर्थिक हालत अत्यन्त दयनीय है, जिसके कारण समाज में आर्थिक अपराधों का बाजार गर्म है। "लोग किसी भी तरह पैसा कमाना चाहते हैं, सबका दृष्टिकोण केवल धनोपार्जन तक सीमित रह गया है। लोग किसी भी तरह अपने को सम्पन्नता की सूची में शामिल करना चाहते हैं। इसके कारण समाज में हर तरह के अपराधों की बाढ़ आ गई है।"[150] जीवन के प्रति अनास्था, बेकारी, हिंसा, तस्करी, नशीले पदार्थों का व्यापार, जैसे धंधे चरम पर पहुंच गये हैं। समाज में हर आदमी धन के पीछे भाग रहा है, और धन है की आदमी की गिरफ्त से दिनों दिन बाहर होता जा रहा है। मंहगाई इस कदर बढ़ी है कि आम आदमी की कमर ही टूट गई है। नारेबाजी और वादों की राजनीति से पब्लिक तंग आ चुकी है, देश के राजनेताओं में विश्वास नहीं रहा। आज लोकतंत्र बनाम भ्रष्टतंत्र हो गया है।

आठवें और नौवें दशक के आर्थिक अपराधों, घोटालों ने तो दुनिया को चौंका दिया है। देश के सत्ताधारी नेताओं की मिली भगत से देश के करोड़ों अरबों रूपये के गबन के एक नहीं कई मामले प्रकाश में आये जिनमें राजनीति में व्याप्त कदाचारों की कलई खुल गई है। भारत की इस दयनीय आर्थिक स्थिति के लिए जिम्मेदार लोग आज भी वातानुकूलित भवनों में आराम फरमा रहे हैं उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता समाज भूखा रहे या नंगा। भारत में भारतीय मुट्ठी भर पूंजीपतियों के आर्थिक कदाचारों तले पंगु बनकर रह गये हैं। जो स्वतंत्र भारत के 51 वर्ष के इतिहास की दर्दनाक दास्तान है। "हाँ यदि लोग शोषक की आज्ञा न माने तो शोषण हो ही नहीं सकता। लेकिन उसमें हमारा स्वार्थ आड़े आता है और हम उन्हीं जंजीरों को अपनी छाती से लगाए रखते हैं जो हमें बांधती हैं यह चीज बंद होनी चाहिए।"[151] "तो शायद एक समानता की सामाजिक व्यवस्था की स्थापना हो सकती है नहीं तो आर्थिक दृष्टि से निरंकुश सत्ता या तानाशाह रखकर राजनीति में आज प्रजातंत्र स्थापित नहीं कर सकते।"[152]

सामाजिक कदाचार -

"भारत के प्राचीन ज्ञान और पश्चिम की जीवन संस्कृति के समन्वय की कीमत वही समाज दे सकता है जो विलास से बचने के लिए स्वेच्छा या अमीरी का त्याग कर सकता हो। व्यापार पर पहरा देने के लिए सारी रात टेलीफोन सुनने वाला सेठ, धन संचय की चिंता में खाद्य सामग्रियों और दवाईयों में मिलावट करने वाला सौदागर, अनावश्यक चिन्ताओं और व्यर्थ की दौड़धूप से थके शरीर को शराब से सींचने वाला अमीर और हर औरत से मुहब्बत बढ़ाने की लालसा से पागल बूढ़ा या नौजवान ये सब के सब उस सभ्यता के स्वाभाविक परिणाम हैं"[153] जो पश्चिमी औद्योगिकता की स्थापना के पश्चात् विगत 50 वर्षों में भारत में विकसित हुई है।

स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त भारत में लोक सत्ता की स्थापना ने जो स्वप्न भारतीय समाज को दिखाये थे, उनमें एक भी साकार नहीं हुआ। लोकतंत्र मुट्ठी भर लोगों की जागीर बनकर रह गया, और

सदियों की पराधीनता और अत्याचारों से जर्जर भारतीय समाज जो मूल्य सदियों से संभाले आ रही थी वे स्वातंत्र्योत्तर भारत में खण्ड-खण्ड हो गये। नैतिकता, ईमानदारी और सत्य जैसे किताबों के शब्द बनकर रह गये या भाषणों, गोष्ठियों, नारों की औषधि बन गये। स्वतंत्रता, परतंत्रता से भी भयावह रूप में प्रकट हुई और लोकतंत्र स्वातंत्र्योत्तर भारत मे बेचारा दिखाई दिया। लोकतंत्र पर धूमिल कहते हैं -

"हवा में एक चमत्कार गोल शब्द
फेक दिया है जनतंत्र
जिसकी रोज सैकड़ों बार हत्या होती है
और हर बार वह भेड़ियों की जुबान पर जिन्दा है"[154]

स्वतंत्र भारत के विगत 50 वर्षों को पलटकर देखने से पता चलता है कि भारतीय समाज कहां से कहां पहुंच गया है। आज भारत में सर्वत्र एक जैसी स्थिति है। देश का कोई भाग ऐसा नहीं है जहां सामाजिक कदाचारों का बोलबाला न हो। धर्म, अर्थ , काम, मोक्ष पर आधारित भारतीय समाज में स्वतंत्रता के पश्चात् जो भारी परिवर्तन आया उसके अनुसार धर्म और मोक्ष गौण हो गये। समाज में सिर्फ अर्थ की महत्ता स्थापित हुई पहले जहां व्यक्ति की समाज में पहचान बुद्धि और ज्ञान से हुआ करती थी। स्वतंत्रता के बाद वहां धन ने अपना कब्जा कर लिया। अयोग्य से अयोग्य व्यक्ति भी धन के बलबूते पर समाज पर प्रतिनिधित्व करने लगा सारे पैमाने बदल गये, सब कुछ धन से नापा जाने लगा। लोकतंत्र भी ऐसे में कैसे अछूता रह सकता था। सो वह भी पूंजीपति वर्ग के पांव की जूती हो गया, और "जनता की स्थिति एक भेड़ जैसी हो गयी। जो दूसरों की ठंड के लिए अपनी पीठ पर ऊन की फसल ढो रही है।"[155] चुनावों के बेतहाशा खर्च ने आम आदमी को सिर्फ वोटर बनने तक सीमित कर दिया। लोकसत्ता केवल धनी सम्पन्न वर्ग तक सीमित हो गयी।

विचारणीय है कि जिस समाज या राष्ट्र में सर्वत्र अर्थ की महत्ता स्थापित हो जाती है, वह राष्ट्र या समाज धीरे-धीरे अपना गौरव खो देता है। मूल्य तथा आदर्श अपने आप समाप्त होने लगते हैं। समाज में अपराध, अनैतिकता, आचरणहीनता, कुण्ठा, निराशा, गरीबी, भेदभाव और अंततः सम्पन्न वर्ग की मनमानी घर कर देती है।

"स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में भी परिस्थितियों के दास व्यक्ति में बदलाव की हवा चली है जिसने भारतीय संस्कृति के प्राचीन काल से चले आ रहे आदर्शों मूल्यों को विकृत कर दिया है।"[156] इसमें जितना हाथ आर्थिक दौड़ का है उससे कहीं अधिक राजनीति का। विगत वर्षों में हिन्दुस्तान का मन बड़ी तेजी से बदल रहा है। मालूम होता है कि कई सौ साल की चालाकी और गुलामी फिर से जिंदा हो रही है। "आज किसी व्यक्ति से परंपरा पर बातचीत करने से मालूम होता है कि वह नये सिरे से शुरू करना चाह रहा है। क्या वह अब तक की स्थापनाओं को एकदम भूल गया है ?मेरा ख्याल है कि वैसा ही हुआ है।"[157] समाज में कई वर्ग जानवरों से भी बदत्तर जीवन जी रहे हैं शहरों की ओर भागा आदमी गंदी बस्तियों, अनाचारों की ओर आकर्षित हुआ। दूसरा वर्ग परिचय की अंधी नकल की उपज मालूम होता है। इस सम्पन्न वर्ग की चकाचौंध ने समाज के निम्न वर्ग को भी ऐशो आराम की जिन्दगी की ओर लालायित किया। जिसने समाज में अनैतिकता को जन्म दिया। "लोग अपने से ऊंचे स्तर के व्यक्तियों को देखते हैं और उनमें किसी प्रकार का चारित्रिक उत्कर्ष, त्याग की भावना अथवा अन्य उच्चादर्श न पाकर स्वयं भी उस जीवन शैली को अपनाने की ओर प्रेरित हो रहे हैं।"[158] समाज निरंतर अधोगति की ओर जा रहा है। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में अपराध, नशाखोरी, भ्रष्टाचार, यौन कुण्ठा, वैश्यावृत्ति, बाल अपराध, अवषाद, आत्महत्यायें, बेईमानी, लूट, बलात्कार, नारी के प्रति बदला हुआ दृष्टिकोण, आचरणहीनता, आदि प्रवृत्तियां प्रमुखतः से दिखाई देती हैं।

व्यक्ति-व्यक्ति के बीच कटुता बढ़ती ही जा रही है। आरक्षण, जातिवाद, और वर्गभेद तथा साम्प्रदायिकता की राजनीति ने समाज में बंटवारा कर दिया है। आस-पड़ोस में भी कटुता अनुभव की जाने लगी है सदियों से चले आ रहे सम्बन्ध कमजोर हुए हैं। स्वार्थ सिद्धि ही परम ध्येय रह गया है।

निष्कर्षत: हम कह सकते है कि स्वतंत्र भारत में उत्पन्न परिस्थितियों ने समाज में विभिन्न विसंगतियों को जन्म दिया, तथा समाज में भ्रष्ट राजनीति और आर्थिक प्रभुसत्ता ने भारतीय समाज के मूलभूत ढांचे में ही परिवर्तन कर दिया। जिससे पुरातन स्थापित समस्त मूल्यों, आदर्शों को भारी क्षति हुई तथा समाज में आर्थिक ,राजनैतिक एवं सामाजिक कदाचारों को स्थापित होने में देर न लगी।

समस्याएं : कारण और निदान -

"भारत में औद्योगिक क्रांति बड़ी तेजी से आ रही है और हम नाना रूपों में बदलते जा रहे हैं। राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तनों का यह अनिवार्य परिणाम है कि उनसे सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न होते है।"[159]जो अनेक सामाजिक समस्याओं को जन्म देते है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में जो समस्याएं दृष्टिगोचर हुई हैं उनमें प्रमुख है - शिक्षा, साम्प्रदायिकता, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार, जाति-पाति, आर्थिक असमानता, स्त्री की अस्मिता पर आंच, दहेज, भाषा समस्या, प्रान्तवाद और क्षेत्रीयवाद, राजनैतिक विभेद आदि हैं।

भारत में सामाजिक ,आर्थिक और राजनैतिक समस्याएं उत्पन्न करने वाले कारण लगभग वही हैं जो तीसरी दुनिया के अन्य देशों में पाये गये हैं यद्यपि भारत की कुछ विशिष्ट परिस्थितियों के कारण थोड़ी सी भिन्नता भी पाई जाती है। सामान्यत: हम कह सकते हैं कि अंग्रेजों की राजनैतिक अधीनता तथा अहस्तक्षेपी नीति के पालन करने के कारण उपरोक्त समस्याओं का उत्पन्न होना स्वाभाविक था। तीव्र औद्योगीकरण एवं नगरीकरण के कारण संयुक्त परिवार जैसी पुरानी इकाईयां भंग हुई तथा पिछली कुछ शताब्दियों में धर्म में आयी औपचारिकता ने प्राय: भ्रष्टाचार, नैतिक पतन, साम्प्रदायिकता, भाषा विवाद, क्षेत्रीयता जैसी ज्वलंत समस्याएं उत्पन्न करने में प्रमुख भूमिका निभाई। फिर भी "किसी विशेष सामाजिक समस्या को जन्म देने वाला कोई एक कारण नहीं अपितु अनेक होते हैं। तत्पश्चात् एक सामाजिक समस्या दूसरी को जन्म देती है और वे आपस में घुलमिल जाती हैं।"[160]

सामाजिक समस्याओं के कारण जैसा प्रश्न अत्यन्त जटिल है जिसके लिए प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए आंकड़ों की विशाल मात्रा अनिवार्य है, अत: इसका कोई ठीक उत्तर दे सकना मेरे लिए कठिन है। तथापि कुछ कारण जैसे तेजी से बढ़ रही जनसंख्या,रहन-सहन के निम्न स्तर,अन्न अभाव, कुपोषण एवं मंदपोषण, व्यापक बेकारी, भिक्षावृत्ति, निरक्षरता, वेश्यावृत्ति,अपराध, भ्रष्टाचार अनेक राजनैतिक दल, विभिन्न क्षेत्रों में हड़तालें आदि को दृष्टिगत रखते हुए हम कह सकते हैं कि स्वातंत्र्योत्तर भारत में जो प्रमुख समस्याएं उभरकर सामने आयीं उनमें बहुतों की नींव अंग्रेजों ने ही डाली थी। स्वतंत्र भारत में तो केवल उन्हें प्रश्रय दिया गया।

वर्गभेद और जातिभेद में विभक्त भारतीय समाज तो पहले ही जर्जर था, किन्तु नवीन औद्योगिक नीति तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के समय हुए भयानक साम्प्रदायिक दंगों की हिंसा से हमारे समस्त परम्परागत मूल्य लगभग ध्वस्त हो गये। और साम्प्रदायिकता की पक्की नींव पड़ गयी। स्वतंत्र भारत की यह एक प्रमुख एवं भयंकर समस्या है भारत में विभिन्न वर्गों के बीच विशेष रूप से धनी तथा निर्धन,शिक्षित एवं अशिक्षित के बीच की सामाजिक दूरी अधिक है और यह निरंतर बढ़ती ही जा रही है। लोगों की परम्पराएं शिक्षा पर आधारित नहीं है इसलिए शिक्षित जन अपनी सभ्यता के लिए विदेशियों के समान प्रतीत होते हैं स्थानीय, प्रादेशिक,भाषागत तथा राज्य गत निष्ठाओं के विकास के कारण लोग भारत को विस्मृत करते दिखाई दे रहे हैं। पुराने मूल्य जो समाज को स्थिर रखते थे, आज विलुप्त होते जा रहे हैं, और सामाजिक उत्तरदायित्व की नयी भावना से ओत-प्रोत कोई प्रभावी कार्यक्रम उन मूल्यों का विकल्प न हो सकने के कारण सामाजिक समस्याएं चहुँओर प्रकट हो रहीं हैं और निरंतर बढ़ती ही जा रही है।

"सामाजिक समस्याओं की उत्पत्ति के अनेकानेक कारण हो सकते हैं। जैसे सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक विघटन, राजनैतिक परिवर्तन, सामाजिक आकांक्षाएं, सामाजिक परम्पराएं,प्रथाएं आदि अनेक कारण हो सकते हैं। कभी-कभी प्राकृतिक व भौतिक परिवर्तन एवं घटनाएं भी समस्याओं के लिए जिम्मेदार होती हैं जैसे सूखा, बाढ़, अकाल, महामारी जैसी प्राकृतिक घटनाएं अनेक अपराधों में

अप्रत्याशित वृद्धि करने में सहायक होती हैं ।"[161]अत: समाजशास्त्र के अनुसार व्यक्ति समायोजन में सामाजिक, संरचना में दोष, संस्थात्मक समायोजन में असफलता तथा सामाजिक नीतियों में संस्थात्मक विलम्बन आदि कारणों से भी भारतीय समाज में समस्याएं उत्पन्न हुई हैं। "वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भारत मे परिवार, धर्म शिक्षा, आर्थिक एवं राजनैतिक संस्थाओं के बीच समायोजन का अभाव है जिसके कारण अनेक सामाजिक समस्याएं उत्पन्न हो रही हैं।"[162]

सभ्यता और संस्कृति समाज की दो आंखें हैं। अत: मानव का संबंध जितना सभ्यता से होना चाहिए उतना संस्कृति से भी होना आवश्यक है। जब तक एक दूसरे के अनुपात में विषमता रहेगी तब तक सम्पूर्ण समाज भी विषम होगा। वह संघर्ष एवं अशान्ति से पूर्ण होगा। इसने बचने के लिए दोनों का निर्वाह संतुलित रूप से होना चाहिए,परन्तु मानव मन इस तथ्य से अवगत नहीं है। इसी कारण से समाज में समय-समय पर संस्कृति की उन्नति के साथ मानवता का पतन आदि देखने को मिलते हैं।
"इसी कारण आज विश्व की स्थिति संघर्षमयी है। आज सभ्यता के शिखर पर हम खड़े हैं, किन्तु जितनी दूर तक हम आगे बढ़ चुके हैं, उतनी ही दूरी पर हम सांस्कृतिक क्षेत्र में पतन के गर्त में पड़े हुए हैं।"[163]

निष्कर्षत: भारत की सामाजिक आर्थिक, राजनैतिक समस्याओं का कारण एक नहीं अपितु अनेक हैं जिनमें भारत का 1947 में स्वतंत्र होना, लोकतंत्र की स्थापना, पूंजीवाद, उपनिवेशवाद का प्रभाव, आर्थिक शोषण, जातिवाद, वर्गभेद, भाषावाद, क्षेत्रीयतावाद , अस्पृश्यता,कृषि के पिछड़ेपन, तथा नवीन पश्चिमी औद्योगिक सभ्यता का स्थापित होना ही भारत में विभिन्न समस्याओं को उत्पन्न करने वाले कारक हैं।

साम्प्रदायिकता जैसी भीषण समस्या हमारे राष्ट्र की ज्वलंत समस्याओं में से एक है जो हमें अंग्रेजों की देन है। विभाजन के जहर के साथ ही इस समस्या ने भारत में अपनी जड़ें जमा ली थी जो आज भी जब-तब अपने भयंकर रूप में प्रकट होकर राष्ट्र को कमजोर करती हैं। साम्प्रदायिकता की समस्या स्वतंत्र भारत में समाप्त भी हो सकती थी किन्तु आजादी के बाद देश की राजनीति में वोटों की लालच में राजनैतिक दलों की नीति और राजनीति, साम्प्रदायिकता जैसी भयंकर समस्या को समाप्त करने के प्रयासों की बजाय और नये-नये रूपों में प्रकट करने को हवा दी। परिणामस्वरूप यह समस्या कम होने की बजाय और प्रचंड वेग से बढ़ती गई और आज भयावह रूप में देश की एकता और एवं अखण्डता के समक्ष चुनौती के रूप में खड़ी है। साम्प्रदायिकता को समाप्त करने के लिए सामूहिक प्रयास आवश्यक है।

स्वतंत्र भारत में स्त्री की स्थिति में एक तरफ संवैधानिक अधिकारों में बढ़ोत्तरी हुई, तो दूसरी तरफ स्त्री के प्रति समाज का नजरिया पहले से अधिक भोगवादी हुआ। स्त्री को लेकर हमारे समाज में परस्पर अत्यन्त विरोधी विचारधारायें व्याप्त हैं। स्वतंत्र भारत में स्त्री के साथ कम अत्याचार नहीं हुए। बल्कि उनमें दिनों दिन वृद्धि होती जा रही है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में दहेज, विवाह विच्छेद, वेश्यावृत्ति, बलात्कार, शोषण, पारिवारिक अत्याचार आदि क्रूरताओं का कहर स्त्री पर ही टूटा है। स्त्री की सुरक्षा के लिए संविधान में अनेक कानून बनाये गये हैं, किन्तु आज भी स्त्री के साथ अमानुषिक व्यवहार किया जा रहा है स्वतंत्र भारत में जो समस्याएं उभर कर चुनौती के रूप में सामने आई उनमें से कुछ महत्वपूर्ण समस्याएं हमें अंग्रेजों से विरासत में मिली थी और कुछ स्वतंत्र भारत में स्वीकार की गई व्यवस्था से उत्पन्न हई। भारत में उत्पन्न अधिकांश समस्यायें लोकतंत्रीय व्यवस्था पर काबिज समाज के सम्पन्न वर्ग के कारण उत्पन्न हुई। जिसने गरीबों और किसानों के हितों की अनदेखी करते हुए अपना हित साधन किया। बड़े-बड़े कारखाने समाप्त हो गये। जिससे ग्रामीण परिवेश में निर्धनता और बेकारी की समस्या उत्पन्न हुई।

यद्यपि राष्ट्र नायकों ने भारत वर्ष को स्वतंत्रता, समानता एवं समभाव के आधार पर विकसित करने की घोषणा की थी,परन्तु परिस्थिति ठीक इसके विपरीत रही। स्वतंत्रता उपरान्त भारत में अनेक वर्ग पैदा हो गये नेता वर्ग, सरकारी अफसर वर्ग, श्रमिक वर्ग, ठेकेदार वर्ग एवं खेतिहर कृषक वर्ग। इस विभाजित भारतीय समाज में स्वतंत्रता के पश्चात् आर्थिक सम्पन्न वर्ग की राजनीति तथा समाज में पकड़ मजबूत हो गयी, और आज गरीब जनता की हालत दिनों दिन पतली होती गई, जिससे आर्थिक असमानता

की समस्या को प्रश्रय मिला। सन् 1952 से लेकर आज तक आम चुनावों में इस देश में जो परिवेश परिलक्षित हुआ, जिस प्रकार की जीवन व्यवस्था पनपी उसने भारतीय परिवेश में उत्पन्न समस्याओं के फलने फूलने में सहायता की। कानून बेअसर साबित हुए हैं। यहां तक की संसद और विधानसभाओं के सदस्यों के बंगलों से भी स्वातंत्र्योत्तर भारत में स्त्री के साथ अमानुषिक अपराधों की वारदातें सामने आई हैं, जो स्त्री की दशा में सुधार तथा लोकतंत्र दोनों पर प्रश्न चिन्ह लगाती हैं। इस समस्या का मूल कारण स्वतंत्र भारत में स्त्री उत्थान तथा शिक्षा पर सरकार ने जो कार्यक्रम बनाये वे सब खोखले साबित हुए। स्वतंत्रता की लगभग आधी सदी पश्चात् लोकसभा तथा विधानसभाओं में उचित आरक्षण दिये जाने की बातें चल रही हैं। गौरतलब है कि पिछले 50 वर्षों में स्त्री की दशा कैसी दर्दनाक रही होगी। भारत में सैकड़ों वर्षों से दलित शोषित अधिकारहीन स्त्री के साथ पुरूष ने हमेशा उस पर अत्याचार किये हैं तथा उसे दबाकर रखा है। भारतीय समाज में भी स्त्री को दोयम दर्जे का माना जाता है। स्वतंत्र भारत में भी स्त्री के उत्थान, विकास तथा अधिकार सम्पन्न बनाने की दिशा में औपचारिक प्रयास ही किये गये। कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया। नतीजा आज भी सन् 2002 में स्त्री की दशा एक विज्ञापन के सीन में उपभोग की जाने वाली वस्तु से अधिक नहीं है। कुछ महिलाओं का सेना में, पुलिस में तथा पायलट बन जाने से करोड़ों स्त्रियों की दशा नहीं सुधर जाती। यह महज एक दिखावा है और कुछ नहीं। आये दिन दैनिक समाचार पत्रों में ऐसी घटनाएं छपती रहती हैं जिनसे स्त्री की दुर्दशा का पता चलता है। दहेज हत्या तो आम बात हो गई है। ज्यादातर अपराधी हमारे देश में बच जाते हैं इससे यह समस्या दिनोंदिन और भयावह होती जा रही है।

"खुले आम अल्ट्रासाउंड तकनीकी द्वारा लड़का लड़की की पहचान कर गर्भपात किया जा रहा है चूंकि भारतीय समाज में लड़की का जन्म आज भी खुशी का विषय नहीं बल्कि दुख की दृष्टि से देखा जाता है। शहरों में स्थिति बदली है। किन्तु गांवों में आज भी बेटी का जन्म दुर्भाग्य माना जाता है। इस तरह अब उपरोक्त तकनीकी के छोटे-छोटे कस्बों तक पहुंच जाने के कारण लड़की का गर्भपात आम बात हो गयी है,यह भी स्त्री के साथ क्या अत्याचार और अन्याय नहीं है ? किन्तु भारत सरकार चुप बैठी सब देख रही है।"[163] इसके विरूद्ध त्वरित कार्यवाही होना चाहिए।

भाषाओं को लेकर हमारे देश में आज भी स्थिति स्पष्ट नहीं हो पाई है। "हिन्दी को ही ले लीजिए स्वतंत्रता के 50 वर्ष के बाद भी वह भारत की दोयम दर्जे की भाषा मानी जाती है।"[164] भारत के अनेक प्रांतों में भाषाओं को लेकर विवाद की स्थिति जब तब बनती ही रहती है असम और पंजाब का उदय भाषा के ही आधार पर हुआ। "भाषा को लेकर हमारे देश में आंदोलन हिंसा बंद आज भी होते रहते हैं।"[165] उत्तर भारत में अंग्रेजी का विरोधी स्वर सुनाई देता है तो दक्षिण में हिन्दी विरोधी। स्वतंत्र भारत में हम किसी भारतीय भाषा को राष्ट्रीय भाषा के रूप में प्रतिष्ठित कर सम्पूर्ण देश में उसे लागू नहीं कर सकें,क्योंकि भारत में प्रत्येक समस्या के समाधान में राजनीति और राजनेता अपना लाभ पहले देखते हैं। इस कारण भी भाषा समस्या नया रूप लेकर प्रकट होती है। वस्तुत: भाषाओं को लेकर आज भी विवाद की स्थिति विद्यमान है जिसका प्रमुख कारण राजनीति है।

"भारत दुनिया का सबसे अशिक्षित देशों में से एक है"[166]क्या कारण है कि स्वतंत्र भारत की आधी शताब्दी गुजर जाने पर भी हम शिक्षा के क्षेत्र में कोई खास सफलता अर्जित नहीं कर पाये ?इस प्रश्न के और ऐसे ही अनेक प्रश्नों के जवाब में कहा जा सकता है कि हमारे यहां स्वतंत्रता के उपरांत शिक्षा नीति में कोई समुचित परिवर्तन न करते हुए उसे अंग्रेजी सरकार की तरह ही जारी रखा जिससे हम लगातार शिक्षा के क्षेत्र में पिछड़ते गये। जहां एक ओर शिक्षित बेरोजगारों की भीड़ बढ़ती गई वहीं दूसरी ओर गांवों में स्वतंत्रता के पूर्व की स्थिति में भारत सरकार ने औपचारिकता सी निभाई नतीजा शून्य रहा। और देश में भारी मात्रा में अशिक्षित जनता की भीड़ जमा हो गयी। भारत में आज भी 2002 में मैकाले की बनाई शिक्षा नीति जारी है। स्वाभाविक है कि परतंत्रता, शिक्षा जैसे महत्वपूर्ण क्षेत्र में व्याप्त है तो इससे कोई आशा करना बेकार है।अशिक्षित भीड़ बनाये रखने में हमारे देशी पूंजीपतियों,राजनैतिज्ञों,आर्थिक सम्पन्न

वर्ग का भी बहुत बड़ा हाथ है। लगातार शोषण और सत्ता हथियाये रखने के लिए उपरोक्त वर्गों की सोची समझी नीति के कारण शिक्षा के क्षेत्र में कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया। इस तरह से शिक्षित और सम्पन्न वर्ग ने अशिक्षितों का शोषण करने के लिए शिक्षा में उपनिवेशवाद की नीति को अंजाम दिया। परिणाम स्वरूप शिक्षा जैसे महत्वपूर्ण क्षेत्र में भी भ्रष्टाचार व्याप्त हो गया। आज शिक्षा भारत की प्रमुख समस्याओं में से एक है।

भारतीय समाज और मुख्यत: हिन्दू समाज में सदियों से व्याप्त जाति प्रथा के कारण समाज में कुछ जातियों को अछूत तथा अस्पृश्य की संज्ञा के कारण जन जातियों का विकास नहीं हो सका, तथा भारतीय समाज जाति-पांति के संकीर्ण दायरे में सिमटता गया। जाति-पांति भारतीय समाज की नयी समस्या नहीं है यह सदियों पुरानी समस्या है, किन्तु स्वतंत्र भारत में राजनेताओं और राजनीतिक दलों की संकीर्ण भावनाओं के कारण इस समस्या ने उग्र रूप धारण किया। जाति-पाति के संकीर्ण दायरे में एक जाति का समूह बनने लगता है और अन्य जातियों के हितों की उपेक्षा करने की प्रवृत्ति घर करने लगती है। परिणामस्वरूप भारत के कई प्रांतों में हिंसक संघर्ष भी देखने को मिलते हैं, जिनमें उत्तर प्रदेश, बिहार असम आदि राज्यों में जातिगत हिंसा आये दिन भड़क उठती है। कारण स्वातंत्र्योत्तर भारत में जातिगत आधार पर किया गया आरक्षण सामाजिक विभाजन संघर्ष का कारण बन गया, तथा स्वतंत्रता के पश्चात् की वोट तथा सत्ता की राजनीति ने इसमें प्रमुख भूमिका निर्वाह की।

बिहार, असम और उत्तरप्रदेश जैसे प्रमुख राज्यों में आज सत्ता के पैमाने बदल गये हैं इन राज्यों में आज शोषित, दलित, पिछड़ी जातियों ने सदियों के शोषण तथा सामाजिक अत्याचार के खिलाफ खड़े होने में सफलता पाई है किन्तु ग्रामीण परिवेश में आज भी जाति-पाति की ऊंच-नीच तथा भेदभाव व्याप्त है। यह एक प्रमुख राष्ट्रीय समस्या है जिसके निदान की दिशा में अभी बहुत कुछ करना शेष है।

निष्कर्षत: भारत में व्याप्त वे सभी प्रमुख समस्याएं जो स्वतंत्रता के पश्चात् भयावह रूप में प्रकट हुई उनका प्रमुख कारण एक नहीं अपितु अनेक हैं तथापि सभी समस्याओं के लिए प्रमुख रूप से उत्तरदायी तीन स्रोत हैं पहला भ्रष्ट और स्वार्थपरक राजनीति, दूसरा आर्थिक विषमता तथा शोषण तीसरा पुरातन सामाजिक व्यवस्था के दोष तथा अशिक्षा।

समस्त समस्याओं के सन्दर्भ में महात्मा गांधी ने कहा था कि हमें पहले ग्रामीण इकाई को मजबूत करना होगा तब हमारा राष्ट्र उन्नति कर सकेगा। किन्तु स्वतंत्रता पश्चात् हुआ उल्टा, ग्रामीण इकाई शहरी सभ्यता से सौ वर्ष पीछे चली गयी। शिक्षा की औपचारिकता से गांव की आबादी अशिक्षित होती गई। ठेकेदारों, जमीदारों, नौकरशाही और सम्पन्न वर्ग के शोषण के कारण ग्रामीण परिवेश आर्थिक सामाजिक रूप से लगातार पिछड़ता गया और स्थिति भयावह हो गयी उधर शहरी परिप्रेक्ष्य में पश्चिमी सभ्यता के अंधानुकरण के कारण सारे मूल्य दूषित होते जा रहे हैं, तथा सारा शहरी परिवेश धन के पीछे भाग रहा है। अब धन की प्राप्ति उचित माध्यम से न हो पाने पर अनुचित साधनों को अपनाया जा रहा है, जिससे भ्रष्टाचार को भारी प्रश्रय मिला है।

अत: सभी समस्याओं का उन्मूलन करने हेतु राजनीति, प्रशासन तथा समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार के विरूद्ध कोई कारगर ठोस उपाय करना होगा तथा राजनीति में अपराधिक तत्वों की घुसपैठ एवं पकड़ को समाप्त करना होगा। राजनीति को स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व की तरह राष्ट्र के हित में साफ सुथरा स्वरूप प्रदान करना होगा। गांवों की उपेक्षा को समाप्त करना होगा तथा गांव में सभी बुनियादी सुविधाओं को उपलब्ध कराना होगा। गांवों की अशिक्षा को दूर करने के लिए नारों और अभियानों की जगह एक व्यापक कार्यक्रम तैयार कर लागू करना होगा। भाषा समस्या के लिए राष्ट्र की भाषाओं को मजबूत करते

हुए हिन्दी को सम्पूर्ण भारत में राष्ट्रभाषा के रूप में स्थापित कर कार्यरूप में प्रयोग में लाना होगा। साम्प्रदायिक ताकतों पर पूर्ण प्रतिबंध लगाना होगा तथा धर्म और साम्प्रदायवाद की राजनीति को कानूनी तौर पर असंवैधानिक घोषित करना होगा।

बेरोजगारी जैसी समस्या के उन्मूलन के लिए एक व्यापक स्तर पर रोजगार के साधन जुटाने होंगे तथा सरकारी नौकरियों में व्याप्त भ्रष्टाचार को जड़ से समाप्त करना होगा। रोजगार मूलक शिक्षा की स्थापना करना होगी एवं ग्रामीण लघु एवं कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देना होगा। बढ़ती हुई जनसंख्या राष्ट्र की सभी समस्याओं की जन्मदात्री है इसलिए जनसंख्या पर नियंत्रण करने के लिए कोई सख्त कानून बना कर लागू करना होगा। वर्णित समस्याओं का निदान करने के लिए उपरोक्त सुझाव कारगर साबित होंगे।

निष्कर्ष

इस प्रकार भारतीय समाज में स्वातंत्र्योत्तर काल में जो प्रमुख सामाजिक सन्दर्भ दृष्टिगोचर हुए हैं उनमें उच्च, मध्य और निम्न वर्ग के मध्य बढ़ी दूरी प्रमुख है। जिसके कारण सामाजिक विषमता में और वृद्धि हुई जो अनेक दुष्परिणामों का कारण बनी। जिससे मध्य और निम्न वर्ग के जीवन संत्रास और बढ़ गये। सदियों अंग्रेजों की राजनैतिक दासता तथा आर्थिक सामाजिक शोषण के कारण भारत को स्वतंत्रता के पश्चात् भी इसके दुष्परिणामों से जूझना पड़ा। जिसमें सम्प्रदायिकता प्रमुख है।

स्वतंत्र भारत में तीव्र औद्योगिक विकास से ग्रामीण लघु और कुटीर उद्योग जो पहले से ही जर्जर हालत में थे बंद हो गये, जिससे गांवों का नगरों की ओर पलायन तथा बेकारी भारी मात्रा में प्रकट हुई। स्वतंत्र भारत के विगत 50 वर्षो का इतिहास भारतीय समाज के आदर्शों, मूल्यों के पतन, गरीब और अमीर के बीच चौड़ी होती खाई, स्त्री के प्रति पनपा पश्चिमी भोगवादी दृष्टिकोण, राजनीति में अपराध और भ्रष्टाचार की पहुंच, शिक्षा में अैपचारिकता, कृषि के पिछड़ेपन, जाति-पाति की भावना, तथा समाज में आर्थिक असमानता में वृद्धि का कच्चा चिट्ठा है जिसकी धड़कन हिंदी कविता में भी गहरी अनुभूति के साथ व्यक्त की गयी है।

अत: स्वतंत्र भारत में जो सामाजिक समस्यायें और सन्दर्भ उभर कर सामने आये, जिससे देश के सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक क्षितिज में भारी परिवर्तन घटित हुए जिसके कारण समाज के विभिन्न वर्गों में आपसी प्रतिस्पर्धा, संघर्ष तथा विषमता मे वृद्धि हुई भारत की पुरातन परम्पराओं, आदर्शों,मूल्यों को समाज ने स्पष्टत: नकार दिया तथा परिस्थितिजन्य ये मूल्यों, आदर्शों को ग्रहण किया।

अत: स्वातंत्र्योत्तर भारत का समाज बदलाव और अस्वीकार की कहानी है जिसमें समस्याएं ज्यादा है और समाधान कम। यह समस्यायें, विषमतायें और संघर्ष लगातार हमारे यहां कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि में व्यक्त हुये हैं। मोहभंग के बाद हिन्दी कविता में आया विद्रोह इन्हीं सामाजिक समस्याओं की पहचान कराता है इन समस्याओं ने केवल समाज को प्रभावित ही नहीं किया बल्कि समाज में अनेक परिवर्तन भी घटित कर दिये हैं जो हमारे समाज में भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिकता, स्त्री की अस्मिता पर आघात, भेदभाव, बेकारी, प्रान्तीयता और क्षेत्रीयता जैसी खतरनाक विकृतियां भी इसी वातावरण की उपज हैं किन्तु फिर भी स्वतंत्र भारत ने विगत पचास वर्षों में सामाजिक समस्याओं को काफी हद तक नियंत्रित किया है तथा विकास के मार्ग में देश की स्थिति पहले से (स्वतंत्रता के ..... पूर्व से)बहुत बेहतर है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची -

१. कृष्णदास/स्वतंत्रता संग्राम ४० वर्ष/ पृ./५
२. डॉ. वी. पट्टाभि सीतारामय्या संक्षिप्त कांग्रेस का इतिहास/पृ./११
३. डॉ. वी. पट्टाभि सीतारामय्या संक्षिप्त कांग्रेस का इतिहास भाग-1/पृ./५
४. गुरूमुख निहाल सिंह/भारत का वैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास/पृ.१२५
५. राधाकमल मुकर्जी/भारत की संस्कृति और कला/पृ. ३३४,३३५,(अनुवाद रमेश शर्मा)
६. डॉ. वी. पट्टाभि सीतारामय्या/संक्षिप्त कांग्रेस का इतिहास/पृ. ११०,१११
७. वही/पृ.६४
८. डॉ. बुच/दी राइज एंड ग्रोथ ऑफ इंडियन नेश्नलिज्म/पृ. ३१
९. रजनी पामदत्त/भारत वर्तमान और भावी/पृ.१४६
१०. राधाकमल मुकर्जी/भारत की संस्कृति और कला/पृ. ३३६
११. डॉ.केसरी नारायण शुक्ल/आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत/पृ. २५,३०
१२. डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल/हिन्दी कहानियों की शिल्प विधि का विकास /पृ. ३९
१३. भारतेन्दु ग्रंथावली/(द्वितीय भाग)/पृ. ६९९
१४. डॉ. केसरी नारायण शुक्ल/आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत/पृ. ६८,६९
१५. वही ----------/पृ. ९९,१००
१६. डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल /हिन्दी कहानियों की शिल्प विधि का विकास/पृ. ९४
१७. रामचन्द्र शुक्ल/हिन्दी साहित्य का इतिहास/पृ. २७०
१८. चण्डीप्रसाद जोशी/हिन्दी उपन्यास का समाज शास्त्रीय विवेचन/पृ. ३२२
१९. वही ---------- /पृ. ३२३
२०. संपा. रामलाल सिंह /विचारणा/पृ. ९३
२१. वही ---------- /पृ. ९७
२२. वही ---------- /पृ. ९७
२३. नंददुलारे वाजपेयी/नया साहित्य नये प्रश्न/पृ.२०
२४. सं. रामलाल सिंह/विचारणा/पृ. ९७
२५. आचार्य क्षिति मोहन सेन/भारतवर्ष में जाति भेद/ पृ.१३७
२६. डॉ. शशिभूषण सिंघल/हिन्दी साहित्य विधाएं और दिशाएं/पृ.१८
२७. वही/पृ. १८
२८. आचार्य नंददुलारे वाजपेयी/नया साहित्य नये प्रश्न/पृ.२०
२९. बच्चनसिंह/आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास/पृ. ३३१
३०. श्रीमति गायत्री वैश्य/हिन्दी काव्य में समाज/पृ.१९८,१९९
३१. डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्रा/आधुनिक सामाजिक आंदोलन और हिन्दी साहित्य /पृ.६१५
३२. अज्ञेय/आधुनिक हिन्दी साहित्य/पृ.२९
३३. देवेश ठाकुर/नयी कविता के सात अध्याय/भूमिका
३४. अज्ञेय/आधुनिक हिन्दी साहित्य
३५. डॉ. गायत्री वैश्य/आधुनिक हिन्दी काव्य में समाज/पृ.२२५
३६. वही ---------/पृ.२४५
३७. वही ---------/पृ.२२८
३८. कमलेश्वर/नयी कहानी की भूमिका/पृ.४६
३९. सं. रवीन्द्र कालिया, अमरकांत वर्ण, विश्वनाथ त्रिपाठी का लेख/पृ. १३८
४०. लोहिया/लोकसभा में लोहिया भाग ४/पृ.१६
४१. यतीन्द्र तिवारी/नवें दशक की हिन्दी कविता/पृ.११
४२. वही ---------/पृ.११

४३. वही ---------/पृ.११
४४. वही ---------/पृ.११
४५. वही ---------/पृ.१
४६. वही ---------/पृ.१२
४७. वही ---------/पृ.४
४८. वही ---------/पृ.११
४९. वही ---------/पृ.४,५
५०. डॉ. गायत्री वैश्य/आधुनिक हिन्दी काव्य में समाज/पृ.२००
५१. वही ---------/पृ.२००
५२. वही ---------/पृ.२००
५३. बच्चनसिंह/आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास/पृ.३४१
५४. चण्डीप्रसाद/हिन्दी उपन्यास : समाज शास्त्रीय विवेचन/पृ.३२७
५५. वही ---------/पृ.३२७
५६. वही ---------/पृ.३२७
५७. गायत्री वैश्य/आधुनिक काव्य में समाज/पृ.२०६
५८. एच. एस. वर्डिया/भारतीय सामाजिक समस्याएं/पृ.१६७
५९. बी. एन. गांगुली/दी चेलेंज ऑफ प्रोपर्टी ऑफ इंडिया/पृ.४
६०. एच. एस. वर्डिया/भारतीय सामाजिक समस्याएं/पृ.१७१,१७२
६१. वही ---------/पृ.१७२
६२. शंभुरतन त्रिपाठी/मार्क्सवादी समाजशास्त्र/अनुवाद/पृ.११२
६३. विजय भट्टाचार्य/बंगाल Renaissance /पृ.३९
६४. डॉ. ए. आर. देसाई/रीसेन्ट ट्रेन्डस इन इंडियन नेशनलिज्म/पृ.१०८,१०९
६५. रिपोर्ट ऑफ दी ऐजुकेशन कमीशन -१९६४-६६/पृ.२
६६. आर. के. मुकर्जी/प्राचीन भारतीय शिक्षा (१९४७) पृ. २
६७. मदन/सामाजिक विघटन /पृ.२७९
६८. रामधारी सिंह दिनकर/संस्कृति के चार अध्याय/पृ. ५०१
६९. वही ---------- /पृ.७२९
७०. वही ---------- /पृ.७२९
७१. वही ----------/पृ.७२९
७२. वही ----------/पृ. ७२६
७३. रवीन्द्र नाथ मुकर्जी/भारत में सामाजिक परिवर्तन/पृ.३२१
७४. वही----------/पृ. ३२१
७५. वही ----------/पृ. ३२२
७६. रामधारी सिंह दिनकर/संस्कृति के चार अध्याय/पृ.३२९,३३०
७७. Social Disorganisation (1941)/ Ellioll. M.A. and Merrill FF. / पृ. ४४१
७८. एच. एस. वर्डिया/आधुनिक भारत में सामाजिक समस्यायें /पृ. ८२
७९. वही ----------/पृ. ८२
८०. वही ----------/पृ. ८३, ८४
८१. वही ----------/पृ. ८४
८२. जी. आर. मदान/सामाजिक विघटन/पृ. २४५
८३. Report of the Commitee on Prevention of Corruption (1964)पृ./६
८४. R.C. Corruption in American Politics and life (1910) Also See ellioti, M.A. and Merrill F.R. Social Disorgomsation (1950)/पृ./५२५

८५. Report of the Commitee on Prevention of Corruption (1964)पृ. ६
८६. Edward P. Sallivan Rating the Cap on Crime (1929)
८७. एच. एस.वार्डिया/आधुनिक भारत की सामाजिक समस्याएं/पृ.७१
८८. वही ---------/२७०
८९. वही ---------/७१
९०. वही ---------/२४
९१. वही ---------/२२४
९२. वही ---------/२७१
९३. रवीन्द्र नाथ मुकर्जी/भारत में सामाजिक परिवर्तन/पृ.१०१,१०२
९४. वही ----------/पृ.१०२
९५. वही ---------/पृ.१०२
९६. आर. सी. अग्रवाल एवं डॉ. एस. के. जैन/भारत का आर्थिक विकास एवं नियोजन/पृ.५५
९७. वही ---------/पृ.५५
९८. वही ---------/पृ.५५
९९. वही ---------/पृ.५५
१००. वही --------/पृ.५६
१०१. वीणा अगस्त ९५/पृ.२६
१०२. वही
१०३. वही
१०४. डॉ. राधा गिरधारी/नारी दंश का दस्तावेज मालती जोशी की कहानियां लेख/वीणा मई९५/ पृ.२५,२६
१०५. रवीन्द्र नाथ मुकर्जी/भारत में सामाजिक परिवर्तन/२५०
१०६. रघुवीर सहाय/औरत और नयी पीढ़ी/वे और नहीं होंगे जो मारे जायेंगे
१०७. वही
१०८. वही
१०९. रवीन्द्र नाथ मुकर्जी/भारत में सामाजिक परिवर्तन/१०१,१०२
११०. वही ---------/पृ.१०१
१११. वही---------/पृ.१०२
११२. वही--------/पृ.३८
११३. सरला दुबे/सामाजिक विघटन/पृ.७८
११४. रामधारी सिंह दिनकर/संस्कृति के चार अध्याय/पृ.७२८,७२९
११५. सरला दुबे/सामाजिक विघटन/७८
११६. रामधारी सिंह दिनकर/संस्कृति के चार अध्याय/७२८,७२९
११७. रवीन्द्र नाथ मुकर्जी/भारतीय समाज व संस्कृति/६२९
११८. वही ----------/६२७-६३०
११९. रवीन्द्र नाथ मुकर्जी/भारत में सामाजिक परिवर्तन/३२९
१२०. वही ----------/३२९
१२१. रघुवीर सहाय/ऊबे हुये सुखी/पृ.२७
१२२. वही ----------/पृ.२८
१२३. सुदामा प्रसाद पांडे धूमिल/संसद से सड़क तक/पृ.९०,९१
१२४. वही ----------/पृ.११५
१२५. कांतिकुमार जैन/नयी कविता/३९
१२६. नागार्जुन/नागार्जुन की कविता

१२७. डॉ.गायत्री वैश्य/प्रयोग युगीन काव्य में समाज/पृ.२२४
१२८. डॉ. राम विनोद सिंह/समकालीन हिन्दी उपन्यास/पृ. ११३
१२९. डॉ.गायत्री वैश्य/प्रयोग युगीन काव्य में समाज/पृ.२३४
१३०. वही----------/२३४
१३१. वही ----------/२३५
१३२. वही ----------/२३५
१३३. चण्डीप्रसाद जोशी/हिन्दी उपन्यास का समाज शास्त्रीय विवेचन/पृ./३,४
१३४. वही ----------/४
१३५. जनसत्ता दिल्ली/१ जनवरी १९९२/४
१३६. सर्वोदय संयोजन सर्व सेवा संघ/पृ.१०८
१३७. नवभारत टाइम्स/१/१०/९४/पृ.६
१३८. राजानंद/गांधी और भारत/पृ.१०९
१३९. वही ----------/पृ.१०९
१४०. सर्वोदय संयोजन सर्व सेवा संघ/पृ.१०८
१४१. नई दुनिया भोपाल/२४/५/९३/पृ.११
१४२. इंडिया टुडे/जनवरी/१९९१/९२
१४३. दी वीक/साप्ताहिक/१६/१/९४/पृ.१६
१४४. राजेन्द्र यादव/हंस/संपादकीय/मई/९१/पृ.१७
१४५. जे. सी. कुमारप्पा/स्थायी समाज व्यवस्था/पृ. १७०,१७१
१४६. रामधारी सिंह दिनकर/संस्कृति के चार अध्याय/पृ. ६३४
१४७. सुदामा प्रसाद पांडे धूमिल/संसद के सड़क तक/पृ.४८
१४८. वही ----------/पृ ११५
१४९. नव भारत टाइम्स दिल्ली/१७/८/९१/पृ.६
१५०. रघुवीर सहाय/ऊबे हुए सुखी/पृ.१५
१५१. वही ----------/पृ.१५
१५२. नंददुलारे वाजपेयी/राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध/पृ.१२
१५३. रामधारी सिंह दिनकर/संस्कृति के चार अध्याय/भूमिका
१५४. मदन/सामाजिक परिवर्तन/पृ.१६
१५५. एच. एस. वार्डिया/आधुनिक भारतीय सामाजिक समस्यायें/पृ.६
१५६. वही ----------/पृ.७
१५७. डॉ. पी. आदेश्वर राव/दिनकर वैचारिक क्रांति के परिपेक्ष्य में /पृ. ७१
१५८. रामकुमार वर्मा/हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास/पृ.७१
१५९. वही/पृ.७१
१६०. एच. एस. वार्डिया/आधुनिक भारत की प्रमुख समस्याएं/पृ.२६
१६१. वही ----------/पृ.१३
१६२. वही ----------/पृ.१३१
१६३. वही ----------/पृ.७४
१६४. वही ----------/पृ.१७१
१६५. वही ----------/पृ.१६
१६६. रोमिला थापर/भारत का इतिहास/पृ.१७१

अध्याय - 2

सामाजिक चेतना और साहित्य का परस्पर संबंध, परिभाषा, अध्ययन और विश्लेषण

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा कि "प्रत्येक युग का साहित्य अपने युगीन परिवेश की भूमिका पर ही रचा जाता है।"[1] "साहित्य मानव जगत का सजीव चित्रण करने वाली वह सशक्त कला है जो मानव स्वप्नों और कल्पनाओं को भी एक रूप प्रदान करती है।"[2]

साहित्य के सन्दर्भ में कम से कम हिन्दी साहित्य के विद्वानों में एक बात साफ नजर आती है, वह है "साहित्य समसामयिक समाज के सन्दर्भों को किसी न किसी रूप में अभिव्यक्ति जरूर देता है। अब सवाल उठता है सामाजिक चेतना और साहित्य के संबंध का। यह सर्वभौम सत्य है कि साहित्य और सामाजिक चेतना का संबंध अटूट है, फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि साहित्य में विशेषकर आधुनिक हिन्दी साहित्य के पूर्व भारतीय भाषाओं में साहित्य में साहित्य समाज की प्रवृत्तियों का इतिहास या सूचक मात्र की भूमिका से अधिक नहीं था।"[3] किन्तु आधुनिक हिन्दी साहित्य सामाजिक चेतना का उद्देश्य लेकर प्रतिभूत होता है जिससे सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं के साहित्य में सामाजिक चेतना का प्रसार होता है। कभी हमारा साहित्य इतिहास रहा है समाज का, तो कभी उत्तेजना में वृद्धि करने का कारक और कभी प्रशंसा करने वाला चारण भाट। साहित्य आम आदमी की आवाज और पहचान आधुनिक हिन्दी साहित्य में ही बनना आरम्भ होता है जिसे हम युगीन साहित्य में सामाजिक चेतना से अभिभूत करते हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य ही भारत में सबसे पहले साहित्य के सभी छंदों-बंधों को तोड़कर समाज से एकाकार करता है और समाज में साहित्य और साहित्य में समाज तात्कालिक रूप से प्रवेश करते हैं इस तरह साहित्य और सामाजिक चेतना का संबंध उत्तरोत्तर विकसित हुआ है।

समाज और संस्कृति सदैव परिवर्तित होती रहती है अनेक समस्याएं आती-जाती रहती हैं किन्तु साहित्य समाज को आगाह करता है और मानवीय चेतना को झंकृत कर सम्पूर्ण समाज को मानवीय दृष्टिकोण से सकारात्मक दिशा की ओर गत्यमान करता है। सामाजिक चेतना और साहित्य समाज के बदलते मानदण्डों के अनुरूप परिवर्तित होते हैं। साहित्य समाज और चेतना पर हम आगे विस्तृत विचार करेंगे।

सामाजिक चेतना : साहित्य का अर्थ और परिभाषा -

साहित्य और सामाजिक चेतना पर विचार करने के पूर्व यह समझ लेना आवश्यक है कि साहित्य और सामाजिक चेतना का अभिप्राय क्या है ? समाज से साहित्य जन्म लेता है और साहित्य से सामाजिक चेतना। अत: हम सबसे पहले समाज पर विचार करते हैं।

समाज का अर्थ और परिभाषा -

1. सम-अज 1. मीटिंग विथ फालिंग इन विथ ए मीटिंग,असेंबली, कांग्रेस, कांवलेव, सोसाइटी,कम्पनी ऐसोसिएशन, कलेक्शन।

2. समाज - सं. पु. सं., 1-समूह, संघ, गिरोह दल, 2 - सभा, 3 - हाथी, 4-एक ही स्थान पर रहने वाले अथवा एक ही प्रकार का व्यवसाय आदि करने वाले वे लोग जो मिलकर अपना एक अलग समूह बनाते हैं। 5- वह संस्था जो बहुत से लोगों ने एक साथ मिलकर किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्थापित की हो। सभा, जैसे संगीत समाज, साहित्य समाज आदि।

3. समाज - पु (संवीय अतत्रेति सं.+अज +धञ 2/4/56 इति वीभावोब्रन। पशु भिन्नाना संघ: इत्यमर:। सभा इति हेमचन्द्र: यथा भागवते 10/44/9।

धर्म्म व्यति क्रमोडत्यश्च समाजस्य ध्रुवं भवेत।
यत्राधर्मः समुन्तिषठेन्न स्थेय तत्र कर्हिचित्॥

चेतना का अर्थ –

1. कान्शसनेस, अण्डरस्टेंडिंग, सेन्स, इंटेलिजेंस।
2. चेतना- सं. स्त्री (सं.)(1) बुद्धि (2) मनोवृत्ति (3) ज्ञानात्मक मनोवृत्ति (4) स्मृति, सुधियाद, चेतनता, चेतन्य, संज्ञा। होश, चेतना स्त्री, चेतयते अनया इति चित् संज्ञाने पासश्चन्येति। युच टाप च। बुद्धि। इत्यमरः। 1/5/1 यथा भागवते 4/211/34 प्रधान का शाशय धर्म्म संग्रहे शरीर एवं प्रतिपद्य चेतनाम्। एब विभुः परमानंदोअपि शरीरे विषवकारां बुद्धि प्राप्य क्रिया फलत्वेन प्रतीयते इति टीका कच्चुर्णिः। सा गर्भस्थ बालकस्य सप्तभिमासैर्भवति। इति सुखबोधः(ज्ञानात्मिका मनोवृत्तिः) यथा भगवद्गीतायाम।131/6

इच्छाद्वेष सुखं दुखं संघातश्चेतनाधृतिः।
तस्यामभित्यक्तेन्द्रियः वृत्ति तप्त इव लौह पिण्डे
अग्निशत्मचैतन्यामासरस विदा। चेतना इति शंकर भाष्यम।
ज्ञानात्मिका मनोवृत्तिरिति श्रीधरस्वामी

स्वरूप ज्ञानव्यंजिकायां प्रमाण साधारंकारणिकाया चित्तवृतों ज्ञानास्या भगवतों विभूतिमिति शब्दार्थ चिन्तामणिः। वर्णित अर्थों के आधार पर चेतना का अर्थ जीवन्तता या चेतनता स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। किसी वस्तु या प्राणी की संजीवता को भी चेतना कहते हैं। विभिन्न संस्कृत आचार्यों के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि चेतना का अर्थ चेतन्य से है,मनोवृत्ति से है, जीवन से है।

चेतना क्या है –

"सामान्यतः चेतना शब्द का अर्थ ज्ञान से लिया जाता है।"[4] "चेतन मानस की प्रमुख विशेषता चेतना है, अर्थात् वस्तुओं, विषयों व्यवहारों का ज्ञान"[5] चेतना की प्रमुख विशेषताएं हैं निरंतर परिवर्तनशीलता अथवा प्रवाह। इस प्रवाह के साथ-साथ विभिन्न अवस्थाओं में एक अविच्छिन्न एकता और साहचर्य "चेतना का प्रभाव हमारे अनुभव वैचित्र्य से प्रमाणित होता है और चेतना की अविच्छिन्न एकता व्यक्तिगत तादात्मय के अनुभव से। विभिन्न विषयों कीअलग-अलग समय पर चेतना होने पर भी हम सदा यह भी अनुभव करते हैं कि मैने अमुक वस्तु देखी थी।"[6] अतः चेतना परिवर्तनशील, प्रवाहमान और अनुभव जन्य होती है।

चेतना प्राणीमात्र में रहने वाला वह तत्व है जो उन्हें निर्जीव जड़ पदार्थों से भिन्न बनाता है और चैतन्य सम्पन्न बनाकर जीवधारी सिद्ध करता है। चेतना स्वयं को अपने आसपास के वातावरण को समझने तथा उसकी बातों का मूल्यांकन करने की शक्ति का नाम है।

भाववादी दर्शन चेतना को नियामक और एकमात्र कारण मानता है जो आदि है और जिससे सृष्टि तथा समस्त ज्ञान तत्व की उत्पत्ति व्याप्त है। यह धारणा चेतना की स्वयं तथा निरपेक्षता पर विश्वास करती है। इससे चेतना अज्ञात और रहस्यमय जान पड़ती है।

भौतिकवाद का विश्वास है कि चेतना की स्वयं सत्ता और निरपेक्षता होती है। वह पदार्थ को प्राथमिक मानता है जिससे चेतना की उत्पत्ति होती है। मनोविज्ञान की दृष्टि से चेतना मानव में उपस्थित वह तत्व है जिसके कारण उसे सभी प्रकार की अनुभूतियां होती हैं। चेतना के कारण ही हम देखते, सुनते ,समझते और अनेक विषयों पर चिंतन करते हैं इसी कारण हमें दुख-सुख की अनुभूति होती है। इसी के द्वारा हम अनेक प्रकार के निश्चय करते हैं और अनेक पदार्थों की प्राप्ति के लिए चेष्टा करते हैं ,चेतना का अपने में एक स्वतंत्र अस्तित्व है तथा यह एक सहज और प्रत्यक्ष अनुभव है। यह अनुभव या बोध युगानुकूल स्थितियों के संबंध में निर्णयात्मक भूमिका का निर्वहन करके मनुष्य का उचित मार्गदर्शन करता है। व्यवहार, अनुभव और कर्म की प्रक्रिया से मनुष्य संज्ञान प्राप्त करता है। चिंतन का आरम्भ यहीं से होता है।पश्चिमी विद्वान शेप्टुलिन के अनुसार "चिंतन चेतना के कुछ निश्चित कर्मों से अलग होकर किसी वस्तुगत नए ज्ञान के उत्पादन के लिए विशेष परिस्थितियों में शामिल होता है।"[7]

सामाजिक चेतना : परिभाषा

"पशुओं से भिन्न अर्थात् जन समूह अथवा जन समाज की ज्ञानात्मिक मनोवृत्ति का नाम सामाजिक चेतना है।"[8] समाज पशुओं से भिन्न लोगों के संघ या समूह का नाम है। हेमचन्द्र ने इसका अर्थ सभा किया है। डॉ. जंक्सन के अनुसार "समाज मनुष्यों की मैत्री या कम से कम शांति की दशा का नाम है। व्यक्तियों के समूह को समाज कहते हैं पर जनता के आकस्मिक जमावड़े को समाज नहीं कहा जाता। एकत्रित लोगों का सार्वजनिक उद्देश्य होता है, यही उद्देश्य उन्हें संगठित रखता है और उन्हें पारस्परिक सहायता और सहयोग की आवश्यकता का अनुभव कराता है, समाज के व्यक्तियों का पारस्परिक संबंध एकता तथा शांति पर आधारित होता है। समाज निर्माण के लिए व्यक्तियों की अधिक संख्या होना अनिवार्य है और उनका सार्वजनिक उद्देश्य लक्ष्य साधन के लिए शांतिपूर्वक मिलकर काम करना है।"

आज समाज में एकता का अभाव बढ़ रहा है मानव समाज राष्ट्रमात्र तक सीमित नहीं रहा है। अपितु अखिल विश्व मानव समाज बन चुका है एक ओर परिवार दूसरी ओर विश्वव्यापी मानव समूह। साधारणत: सभी समाज हैं। किन्तु समाज शब्द का प्रयोग केवल उन्हीं बहुसंख्यक व्यक्तियों के लिए होता है जिनके उद्देश्य स्थायी और निर्दिष्ट होते हैं।

समाज की अधोगति और पतनावस्था की विविध प्रतिकूल परिस्थितियों में जो प्रतिभा आकर्षक दीप्ति बनकर चमक उठे और जिसके प्रभाव से समस्त समाज में जन जागरण की लहर दौड़ जाए उसी को सामाजिक चेतना का वाहक समझना चाहिए। "सामाजिक चेतना अभावात्मक या नकारात्मक नहीं होती। वह व्यक्ति मात्र में चैतन्यमूर्त है परन्तु रूढ़ि अशिक्षा और अभावों के कारण यह दुष्प्रभावित या कुंठित हो जाती है। इस दुष्प्रभाव से युक्त रहना और कुंठा को अपनी अंतर्वृत्ति से तिरोहित बनाए रखना ही सामाजिक चेतना है।"[9] "सामाजिक चेतना के संचार के लिए जीवन का उत्सर्ग करना पड़ता है तभी रूढ़ियों में जकड़ी आध्यात्मिकता के स्थान पर नवीन आध्यात्मिकता, नयी संस्कृति को जन्म देती है। जब कोई नूतन विचारधारा समाज में प्रविष्ट होती है और निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ती है तो सामाजिक विचारधारा जाग्रत होती है। इसी जाग्रति को सामाजिक चेतना कहते हैं।"[10]

"एक काल विशेष के सामाजिक मूल्य उस काल के साहित्य मूल्य भी होते हैं। क्योंकि साहित्य अन्तत: समाज को ही तो प्रतिबिंबित करता है। मूल्यों की भांति समाज का यथार्थ भी साहित्य में अभिव्यक्त होता है। किसी काल में यदि समाज की स्थिति पतनशील रही है, यदि उसमें जीवन मूल्यों का अवमूल्यन हुआ है यदि वहां के जीवन में पलायनवादी प्रवृत्तियों की बहुलता है, समाज अराजकता से ग्रस्त है तो रचना में भी ये सारी यथार्थ स्थितियां आवश्यक रूप से रेखांकित की जायेगी। बशर्ते रचनाकार सामाजिक चेतना से संपृक्त और उसके लिए चिंतित हो।"[11] अत: साहित्य में सामाजिक चेतना का महत्व सर्वाधिक है।

साहित्य का अर्थ और परिभाषा -

साहित्य का एक अर्थ सहित का भाव सहभाव भी होता है। साहित्य के अर्थ के विषय में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार "यह शब्द संस्कृत के सहित शब्द से बना है जिसका अर्थ साथ-साथ है। साहित्य शब्द का अर्थ इसलिए साथ-साथ रहने का भाव हुआ। दर्शन के तहत एक क्रिया के साथ योग करने को भी साहित्य कहा गया है। साहित्य शब्द के अर्थ के संबंध में डॉ. गुलाबराय का कथन है- "साहित्य का अर्थ हितेन सहः सहितम् लगाते हुए हम कह सकते हैं कि साहित्य वही है, जिससे मानव हित का संपादन हो।"[12]अंग्रेजी शब्द लिट्रेचर का साहित्य शब्द का विकास भारतीय चिंतन में काव्य के विश्लेषण से हुआ है। काव्य में शब्द और अर्थ का परस्पर संबंध साहित्येतिहास से आरम्भ होता है, जबकि आम बोलचाल की भाषा में हम किसी भी छपी हुई पुस्तक को साहित्य की संज्ञा देते हैं किन्तु दूसरे से और अधिक उपयुक्त अर्थ में साहित्य से उन्हीं पुस्तकों का बोध होता हे, जिसमें कला का समावेश हो। पश्चिमी विद्वान मैथ्यू आर्नल्ड ने साहित्य को जीवन की व्याख्या कहा है। जबकि प्रो. दशरथ झा एवं प्रो. गुरूप्रसाद कपूर ने मनुष्य की आत्मभिव्यक्ति में ही उसकी सामाजिकता का मूल माना है। परिस्थितियों के आवर्तन-परिवर्तन, चढ़ाव-उतार राज्यों के उलट फेर और विचारों के संघर्ष के कारण जो भाव लुप्त

हो जाते हैं, वे अनुकूल समय पाकर फिर उदित होते हैं और नये साहित्य का निर्माण करते हैं।

साहित्य को अनेक रूपों में कई विद्वानों ने परिभाषित किया है भारतीय और पाश्चात्य साहित्यकारों ने साहित्य को बड़े व्यापक रूप में लिया है। उन्होंने इसे काव्य का समानार्थी माना है। प्राचीन प्रयोगों से यह ज्ञात होता है कि साहित्य शब्द मूल रूप में शास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त होता है, परन्तु बाद में काव्य के लिए इस शब्द का प्रयोग होने लगा। भर्तृहरि ने साहित्य, संगीत, कला की त्रयी में साहित्य को काव्य समानार्थक माना है।

कुन्तक ने वक्रोति जीवितम् (1:17) प्रसंग में कहा है -

साहित्यमनयोःशोभाशलितां प्रतिकाव्य सौ।
अन्यूनानतिरिक्तव मनोहारिण्यव स्थितिः॥

अतः जिसमें शब्द और अर्थ दोनों की एक दूसरे के अलावा, परस्पर स्पर्द्धापूर्वक मनोहारिणी, श्लाघ्यनीय स्थिति हो वह साहित्य है। कुन्तक ने साथ में यह भी कहा है कि जहां शब्द और अर्थ सब गुणों में समान हों वहां ही यथार्थ रूप में साहित्य होता है।

आचार्य वामन के अनुसार गुण तथा अलंकार से संस्कारित शब्दार्थ को साहित्य अथवा काव्य कहते हैं। आचार्य क्षेमेन्द्र के अनुसार भी अलंकार, गुण, रस, आदि का उचित सामंजस्य ही काव्य है -

अलंकारस्त्लंकाय गुणा एवं गुणा सदा।
औचित्य रस सिद्धस्थ स्थिर काव्यत्व जीवितम्॥

पंडितराज जगन्नाथ ने रमणीय अर्थ के शब्द को काव्य कहा हैं रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्द काव्यं साहित्य की संस्कृत विद्वानों ने अपने-अपने अनुसार परिभाषाएं दी हैं, किन्तु उपयोगिता की दृष्टि से साहित्य की सही परिभाषा हितेन सहः सहितम् ही अधिक सार्थक है।

हिन्दी के विद्वानों ने भी संस्कृत के विद्वानों की तरह साहित्य को अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने जीवन की अभिव्यक्ति को साहित्य की संज्ञा देते हुए कहा है "भाषा के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति का नाम ही साहित्य है।"[13]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य को भावों के प्रकट करने का एक साधन मानते हुए कहा है - "साहित्य केवल लेखन प्रणाली का नाम है, वाचालता का नहीं। भिन्नता उसकी प्रणाली उसके सर्वांगपूर्ण और दिगन्तव्यापी होने में है जो बात कही जाती है, वह सीखने वाले के पास बहुत दूर नहीं जा सकती है, वायु में उसका नाश हो जाता है। जब शब्दों को सारगर्भित और उन्नत भावों को प्रकट करने के लिए प्रयोग करना होता है और उनके द्वारा भावी संतति का उपकार करना वांछित होता है, तब उन्हें लिखना पड़ता है अर्थात् साहित्य के रूप में ढालना पड़ता है।"[14]

भारतीय विद्वान, साहित्यकारों की तरह कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भी साहित्य को परखा है और परिभाषित भी किया है - पाश्चात्य साहित्यकारों में हर्बर्ट रोड सारांशतः यह मानते हैं कि काव्य में शब्द और अर्थ का सुन्दर सामंजस्य होता है। साहित्य के अन्तर्गत शब्द और अर्थ के सहभाव से साहित्यकार या कवि जिसका सृजन करता है वही साहित्य है। "अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापति" [15] से यही बात स्पष्ट होती है। अतः यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि साहित्य में शब्दों द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। साहित्य का माध्यम ही शब्द है ,साहित्य शब्द को हम सामान्य या विशेष अर्थ में ही क्यों न लें। साहित्य कला के अर्थ में हो या लिखित रूप में, सदैव सामाजिक प्रयोजन ही समेटे रखता है। साहित्य हमेशा विचारों और भावों के वाहक का कार्य करता है और वह आत्मप्रकाशन का आत्म निवेदन का साधन भी होता है। प्रो.कमला प्रसाद पाण्डेय के अनुसार "साहित्य केवल कल्पना की उपज या मानसिक निर्माण नहीं है। उसका आधार मनुष्य का यथार्थ जीवन है।"[16]

गुरूदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार "सहित शब्द से साहित्य में मिलने का एक भाव देखा है। वह केवल भाव-भाव का, भाषा-भाषा का, ग्रंथ-ग्रंथ का मिलन नहीं है, परन्तु मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का मिलन है।"[17] अतः साहित्य का अर्थ स्पष्ट करना सरल कार्य नहीं है। इस पारिभाषिक शब्द के सम्पूर्ण अर्थ में अनेक गुणों तथा प्रयोजनों के संघात मिलते हैं।

साहित्य को हम किसी भी सन्दर्भ में क्यों न लें उसका प्रयोजन सदैव सामाजिक होता है। साहित्य के सन्दर्भ में यह कहना काफी है कि साहित्य एक उच्च श्रेणी की मानव उपलब्धि है। जरूरी नहीं की साहित्य से कुछ नयी बातें मालूम चलें, साहित्य हमारे बीच की बातों को ही नये रूप में हमारे सामने रख सकता है। साहित्य हमें जीवन के मिथ्याचारों से ही ऊपर नहीं ले जाता, बल्कि वह प्राणी मात्र के प्रति सहानुभूति का अनुभव भी कराता है। जिसे हमारे साहित्य में दिव्य आनंद की संज्ञा दी गई है। साहित्य कभी भी प्रयोजनहीन और अहितकर नहीं होता। अत: हम उसे साहित्य कह सकते हैं जो मनुष्य का हित साधन करता हो और साथ ही समाज तथा सामाजिक संबंधों को सुदृढ़ता प्रदान करता हो। सारांशत: हम कह सकते हैं कि "व्यापक जनहित में चेतना सम्पन्न कलात्मकता की अभिव्यक्ति ही साहित्य है।"[18] जो समाज का दिग्दर्शन तो करता ही है साथ ही समय के परिवर्तन के साथ समाज में आयीं कठिनाइयों, परेशानियों का निवारण करने में भी सहायक सिद्ध होता है। अत: साहित्य की सार्थकता जीवन तथा समाज से अलग रहकर नहीं है। इस प्रकार साहित्य काल्पनिकता और कलात्मकता की अभिव्यक्ति मात्र नहीं है वह समाज का प्रतिबिम्ब भी है। उत्कृष्ट साहित्य समाज और राष्ट्र की प्रगति में शक्तिशाली भूमिका निभाता है।

साहित्य और समाज -

(1) साहित्य

"साहित्य केवल कलात्मकता की अभिव्यक्ति नहीं है। साहित्य का उद्देश्य व्यक्ति का उन्नयन है और है इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसे संघर्ष की प्रेरणा देना।"[19] व्यक्ति और समाज में समय-समय पर जो घटता रहता है उसी की कलात्मक अभिव्यक्ति साहित्य है। व्यक्ति जीवन के विविध अनुभवों और ज्ञान को आत्मसात् कर उसकी योग्य शब्दावली में प्रस्तुति एक विशिष्ट प्रकार की प्रतिभा की अपेक्षा रखती है। ऐसी प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्ति ही साहित्य का प्रणेता होता है।

लेखक या साहित्यकार अपने सामाजिक परिवेश और जीवन के समस्त अनुभव और ज्ञान का पहले चेतना के स्तर पर साक्षात्कार करता है और फिर कृति के रूप में उसे कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करता है जिसे साहित्य कहते हैं।

साहित्य रचना के मूल में व्यक्ति की आत्माभिव्यक्ति की सहज इच्छा अपने आस-पास चल रहे कार्य व्यापारों के प्रति रूचि, यथार्थ जीवन और जगत के प्रति आकर्षण, अर्न्तमन के काल्पनिक व्यापारों को शब्द देने की प्रवृत्ति, कलात्मकता का मोह, जीवन के विविध आयामों में समग्रता की खोज की प्रबल आकांक्षा तथा यथार्थ को परिष्कृत करने की कामना और समाज में रहते हुए उसके हित तथा उन्नयन के लिए नित नवीन दिशा में प्रशस्त हुआ जाता है, इसके साथ ही व्यक्ति मन की संवेदनशीलता, उसकी सौन्दर्य प्रियता, कर्तव्यनिष्ठा तथा उद्देश्यपरकता की सहज प्रवृत्ति भी साहित्य रचना की दिशा देती है।

संक्षेप में साहित्य जीवन की विविधता की ऐसी समग्र अभिव्यक्ति है जिसमें व्यक्ति की सभी प्रवृत्तियों का समावेश तो होता ही है, साथ ही जो व्यक्ति के बोध को उन्नत करने में प्रेरक भी बनती हैं और जिससे व्यक्ति जीवन को सार्थक दिशा उपलब्ध होती है और जीवन मूल्यों का महत्व ज्ञात होता है। इस तरह साहित्य अपने परिवेश को प्रतिबिम्बित करता है यह उसका मुख्य और मूलयोग है। साधारणत: लेखक द्वारा व्यक्त समाज और परिवेश विशेष की अनेक घटनाओं को साहित्य के भीतर समाविष्ट किया जा सकता है किन्तु बदले हुये "अर्थों में साहित्य से हमारा तात्पर्य उस रचनात्मक ललित लेखन से है जो व्यक्ति के मुक्त अनुभवों और मुक्त प्रेरणाओं को शब्दबद्ध करके उनमें एक उद्देश्यपरकता की प्रतिष्ठा करता है।"[20] साहित्य उन प्रतिभा सम्पन्न विद्वानों के प्रयासों की देन होता है जो अपनी रचना धर्मिता में उस जन समाज की आत्मा, आकांक्षा और यथार्थ स्थिति को पूर्णत: व्यक्त और मूर्त करते हैं, जिनके बीच से जन्म लेते हैं "और जहां वे स्वयं को विभिन्न प्रकार के अनुभवों से समृद्ध करते हैं ये रचनाधर्मी उस जन समाज के जीवन को अपनी कृतियों में उसके अन्तरतम की गहराईयों और धड़कनों के साथ अभिव्यक्त करते हैं।"[21]

प्रत्येक समाज, समुदाय या जाति की अपनी कुछ मूलभूत विशेषताएं और कुछ मौलिक चरित्र होता है। अत:वहां रचे जाने वाले साहित्य में उस जाति समुदाय या समाज का प्रतिबिम्ब आवश्यक रूप से प्रकट होता है ऐसे अर्थों में साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है। साहित्य में जीवन के सभी रूपों का अवगाहन और अभिव्यक्त करने की क्षमता होती है वह समाज के किसी भी यथार्थ को मूर्त रूप देने की शक्ति से सम्पन्न होता है लेकिन साहित्य के सन्दर्भ में अभिव्यक्ति आवश्यक रूप से कलात्मक होनी ही चाहिए तभी उसको रचनात्मक साहित्य के अर्थ में ग्रहण किया जा सकता है। रचना की पूर्णता सार्थकता और उपयोगिता रचनाकार की क्षमता पर निर्भर करती है।

साहित्य के क्षेत्र में आरम्भ से ही विशेष चिन्तन धाराओं की प्रतिष्ठा होती रही है यह कार्य उन प्रतिभा सम्पन्न रचनाकारों के द्वारा रूपायित होता है जो अपनी सशक्त और प्रखर दृष्टि सम्पन्न वाणी से जनाकांक्षा को शब्द बद्ध करते हैं। इसके लिए रचनाकार को अनेक अवसरों पर जोखिम भी उठाने पड़ सकते हैं लेकिन अपने समाज के प्रति उनकी गहरी चिन्ता उनसे यह दुष्कर कार्य करा ले जाती हैं रचना मात्र साहित्यकार की आंतरिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति मात्र नहीं है इससे आगे भी रचना का कर्तव्य होता है और उसकी पूर्ति से ही उनकी रचना सामर्थ्यवान और दीर्घजीवी बनती है।

साहित्य को लेकर हमारे यहां बहुत मतभेद दिखाई देते हैं, साहित्य को अति उत्साह और भावावेश में भले ही समाज को रास्ता दिखाने वाली मशाल कह लिया जाय, वास्तविक अर्थों में वह सामाजिक यथार्थ, उसमें होने वाली विविध प्रकार की घटनाओं, अनुशासित परम्पराओं, रीति-रिवाजों और व्यवहार का इतिहास ही होता है। "वह भविष्य के लिए प्रेरणाप्रद भी होता है लेकिन यह प्रेरणा इतनी महत्वपूर्ण होती है उसको पकड़ने के लिए भी समाज में उतनी ही तीव्र संवेदनशील ग्राह्य शक्ति होनी आवश्यक है।"[22] यह शक्ति पूरे समाज में नहीं हो सकती और विशेषकर भारत जैसे देश में तो यह आवश्यक ही है।

साहित्य के इतिहास पर सूक्ष्म दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होता है कि "दार्शनिक, चिन्तक तथा विचारक की अपेक्षा साहित्यकार में काल्पनिकता स्थूलता और कलात्मकता की मात्रा अधिक होती है। इसी कारण से साहित्य एक ओर विविध प्रकार की सामाजिक समस्याओं के लिए ठोस और निश्चित समाधान का मार्ग प्रशस्त नहीं कर पाता तथा दूसरी ओर उसमें रमणीयता के गुण के कारण विशेष आनंद की अनुभूति समाहित होती है।"[23] जो जीवन की अनेक विसंगतियों का सामना करने के विरूद्ध जन आक्रोश को ठण्डा कर देती है। अत: साहित्य का अस्त्र लेकर क्रांति की दिशा में प्रशस्त नहीं हुआ जा सकता। हालाकि प्रतिबद्ध और लक्ष्य केन्द्रित साहित्य के द्वारा या माध्यम से क्रांति की प्रेरणा दी जा सकती है। साहित्य, व्यक्ति-व्यक्ति के बीच संबंध, व्यक्ति का समाज के साथ संबंध सुनिश्चित और मजबूत तो बनाता ही है समाज के निरंतर परिवर्तनशील होने के कारण समाज समुदाय या राष्ट्र के सामने उत्पन्न समस्याओं से निपटने में भी अहम् भूमिका निभाता है। उदाहरण के लिए भारत की आजादी में हिन्दी साहित्य की मृत देह में प्राण फूंक देने वाली प्रेरणा सम्पन्नता से कोई इंकार नहीं कर सकता। आजादी के संघर्ष में लिखा गया रचनात्मक साहित्य हमारे साहित्य की अप्रतिम धरोहर है जो हमेशा राष्ट्रीय एकता की प्रेरणा हमें देती रहेगी। अत: साहित्य समाज की मान्यताओं और मूल्यों में परिवर्तन की प्रेरणा प्रदान करता है। साहित्य को सदा युग की मांगों के साथ देखना आवश्यक होता है। इसी से उसकी प्रतिष्ठा बनती है, साहित्य विभिन्न कालखण्डों में प्रवाहित जीवन की विविध धाराओं का अनुसरण करता है। अत: कहा जा सकता है कि दर्शन की भांति साहित्य की सम्पूर्ण सार्थकता जनता की सारी आकांक्षाओं, शक्तियों और साथ ही सभी संभावनाओं को चेतना संपन्न बनाने के सन्दर्भ में आंकी जानी चाहिए।

सामाजिक चेतना प्रक्रिया -

सामाजिक चेतना में किसी प्रकार की नकारात्मकता नहीं होती उससे रूढ़ि, निष्प्राण परम्परा, अशिक्षा, अभाव, अन्याय, शोषण आदि के दुष्प्रभावों से मुक्ति मिलती है और सामाजिक संगठन के मुख्य उद्देश्य अर्थात् सामाजिक व्यक्तित्व के निर्माण का मार्ग प्रशस्त होता है।

किसी भी समाज के निरंतर विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसमें अपने युग और परिस्थितियों

के अनुकूल अपने लोगों के हितों की रक्षा और विकास की दृष्टि से सामाजिक चेतना की धारा सतत् प्रवाहित होती रहे। आज यह बात किसी से छुपी नहीं है कि धर्म, राजनीति, भाषा तथा अर्थव्यवस्था आदि वे मूल तत्व हैं जो समाज की एकरूपता को आधार प्रदान करते हैं। इन तत्वों के सन्दर्भ में कभी-कभी वैषम्य और असंतुलन की स्थिति आने से सामाजिक जीवन पतनशील प्रवृत्तियों को ग्रहण करने लगता है। ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति में यदि किसी विद्वान या समाज सुधारक या साहित्यकार के प्रभाव से उस वैषम्य या असंतुलन के विरूद्ध जन चेतना विकसित होती है तो उस साहित्य और साहित्यकार को सामाजिक चेतना का वाहक और स्रोत समझना चाहिए।

सामाजिक चेतना के माध्यम से समाज में व्याप्त प्रतिकूल परिस्थितियों के समाहार का ही प्रयत्न नहीं होता, बल्कि वह नए ज्ञान से पोषित किसी नयी विचारधारा की वाहक भी होती है जब यह नयी विचारधारा व्यवहारित होकर समाज की प्रगति में सहयोग देती है तो यह नयी प्रगति ही सामाजिक चेतना कहलाती है। यद्यपि यह प्रगति ही सामाजिक चेतना का परिणाम ही होता है। यहां यह भी ध्यान देने योग्य है कि सामाजिक चेतना की मूल प्रकृति समष्टिवादी है अर्थात् इसके अन्तर्गत व्यक्ति की अपेक्षा समग्र समाज को एक इकाई के रूप में देखने का भाव निहित होता हैं। इसी संदर्भ में यह भी माना जाता है कि व्यक्ति के अधिकार और उसकी शक्ति प्रतिबंधात्मक है। उस पर समाज का नियंत्रण रहता है।

व्यक्ति का विकास ही समाज का विकास है। अत: व्यक्ति के विकास से ही सामाजिक विकास संभव हो सकता है और जब-जब सामाजिक चेतना विकसित होकर प्रवाहमान होती है और समाज सुधार की आकांक्षा बल पकड़ती है तब-तब व्यक्ति वर्गवादी चेतना से असंपृक्त होता चलता है और उसकी सक्रियता स्वस्थ सामाजिक क्रांति की भूमिका का सृजन करने लगती है यही सामाजिक चेतना राष्ट्रीय सन्दर्भों में भी आवश्यक भूमिका का निर्वाह करती है और इस प्रकार राष्ट्र और समाज को नया स्वरूप प्रदान करती है।

व्यक्ति और समाज के परस्पर संबंधों को भी यही सामाजिक चेतना रूपायित करती है। सामाजिक चेतना का भी एक विशिष्ट चरित्र होता है जो आवश्यक रूप से व्यक्ति चरित्र से सम्बद्ध रहता है।

समाज में व्यवहार रूप में जो नैतिकता, दर्शन, साहित्य, विधि-विधान, एक प्रकार से संस्कृति के विभिन्न रूप और तत्व माने जाते हैं लेकिन सबका उद्गम व्यक्ति चेतना ही है। जिसे उदार अर्थों में सामाजिक चेतना का नाम दिया जा सकता है। इस सामाजिक चेतना का आधार सत्य ही सामाजिक चेतना के माध्यम से व्यक्ति की वृत्तियों को उर्ध्वगामी बनाता है। "समाज आज जिस विकसित अवस्था तक पहुंचा है उसके पीछे इसी सत्य समन्वित सामाजिक चेतना का योगदान है जो समाज को संगठित करके व्यक्तिगत हितों की अपेक्षा सार्वजनिक हितों का समर्थन और पोषण करती है।"[24] किसी भी समाज में उभरने वाली सामाजिक चेतना एक प्रकार से उस समाज के व्यक्तियों के प्रदीप्त भावों, विचारों,मतों, सिद्धांतों,रीति-रिवाजों, व्यवहारों और मूल्यों का योग होती है।

सामाजिक चेतना : साहित्य का संबंध अध्ययन और विश्लेषण -

"साहित्य मानव जीवन से सीधा उत्पन्न होकर सीधे मानव जीवन को प्रभावित करता है।"[25] "भाषा के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति का नाम ही साहित्य है।"[26]

"आदिकाल से आज तक संस्कृति और सभ्यता की प्रगति एवं साहित्यिक विकास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि भौतिक प्रवृत्तियों के विकास, अवसान और आत्मसर्ग के द्वन्द से सामाजिक चेतना की अक्षुण्ण धारा निरंतर प्रवाहमान होती रहती है।"[27] इस विकास क्रम में व्यक्ति की सत्ता और उसकी चेतना घुल-मिलकर अजस्र सामाजिकता का रूप धारण कर लेती है। मानव के सामूहिक कल्याण के लिए सामाजिक अन्तर्धारा के समुद्र में व्यक्ति का अस्तित्व बिन्दु बन विलीन हो जाता है। व्यक्तिगत आत्मलिप्सा के त्याग और सामूहिक जन कल्याण की प्रवृत्तियों से सामाजिक चेतना उद्दीप्त होती है। "समाज के द्वन्द संघर्ष और निरंतर प्रयास करने की चेतना ही सभ्यता संस्कृति और साहित्य का इतिहास है।"[28]

सामाजिक चेतना और साहित्य का संबंध अटूट है। समाज में हो रहे क्रिया-कलापों की प्रतिक्रिया ही साहित्य के रूप में अभिव्यक्त होती है साहित्य और समाज एक दूसरे के पूरक हैं। जहां एक ओर

साहित्य में सामाजिक भावों और विचारों की प्रतिच्छाया परिलक्षित होती है, वहीं समाज भी साहित्य द्वारा प्रसारित भावों से स्पष्टत: प्रभावित होता है। सामाजिक अन्त:प्रवाह से व्यक्तियों के मन में श्रृंखलाबद्ध परिवर्तन आता है।"विलियम जेम्स के अनुसार मन में निरंतर परिवर्तन चेतना के प्रवाह द्वारा मस्तिष्क के असंगठित प्रतिबिम्बों और विचारों के तारतम्य को प्रस्तुत किया जाता है ये विचार एक दूसरे से संबंधित तार्किक होने के कारण नहीं बल्कि प्रतिपल परिवर्तन के संकल्पों के अनुकूल होते हैं।"[29]

सामान्यत: मनुष्य विचारशील प्राणी है, वह निरंतर अपनी विवेक बुद्धि का उपयोग करता रहता है यदि ऐसा न होता तो अस्तित्व और प्रगति के लिए चलने वाले संघर्ष में वह कृतकार्य न होता। तथापि उसकी परंपरा प्रियता कुछ नियमों में इतनी जड़ीभूत हो जाती कि वह कुछ करना बंधी लकीर से इधर-उधर हटना नहीं चाहता।"परंपरागत प्रतिष्ठा संकेतों को ठुकराकर समाज की सुसुप्त विवेक शक्ति का जागरण साहित्य का लक्ष्य प्रेरणा और हेतु है।"[30]

समाज और व्यक्ति की क्रियाशीलता अथवा मानव में श्रद्धा रखना साहित्य का परम पुनीत कर्तव्य है। परम्परा के टूटने के कारण निराशा और बेकारी, आवारापन, बुरी से बुरी दुर्भावना और कुदृष्टि समाज को नास्तिक बनाती है और अश्रृद्धा की भूमिका रचती है। इस नास्तिकता को लेकर परम्परा नहीं पनप सकती। मानव जीवन की संजीवनी प्रतिभा होती है। वह किसी शब्द की कहानी से परे है। जहां प्रतिभा है वहां मात्र शब्द का तेज नहीं "जिस हृदय में शब्द का प्राण अनुप्राणित होता है, वहीं सच्ची प्रतिभा युग साहित्य के आयाम में सामाजिक चेतना की सह्य सृष्टि करती है, समाज को दृष्टि और जीवन देती है।"[31]

"जिस तरह शरीर और आत्मा परस्पर अन्योन्याश्रित है,ठीक उसी तरह साहित्य और समाज भी परस्पर अन्योन्याश्रित है। समाज यदि शरीर है तो साहित्य उसकी आत्मा, समाज के वातावरण की नींव पर ही साहित्य की इमारत खड़ी होती है। समाज में जैसी परिस्थितियां होंगी ठीक वैसा ही या उनसे प्रभावित उस समाज का साहित्य होगा। इस तरह हम कह सकते हैं कि साहित्य समय की कसौटी पर समाज की प्रतिध्वनि दर्ज करता है। अत: साहित्य और सामाजिक चेतना का संबंध 20 वीं शताब्दी के साहित्य की प्रमुख विशेषता है। साहित्यकार समाज का मुख और मस्तिष्क दोनों होता है उसी के द्वारा हम समाज की तह तक पहुंचते हैं जो समाज का मात्र प्रतिबिम्ब ही नहीं, अपितु नियामक और उन्नायक भी होता है।"[32]

"साहित्य सामाजिक चेतना के बिना निष्प्राण होता है तथा युग चेतना के अभाव में अंधा, जो न वर्तमान के बारे में कुछ कह सकता है और न स्वर्णिम उषाकालीन भविष्याशा: के पथ को देख कसता है।"[33] अत: साहित्य में सामाजिक चेतना होना अनिवार्य है। साहित्य समाज की चेतना में सांस लेता है। वह समाज का ऐसा परिधान है जो जनता के जीवन को सुख-दुख, हर्ष-विषाद, आकर्षण-विकर्षण के ताने-बाने से बुना जाता है। सही अर्थों में साहित्य वही है जिसमें विशाल मानव जाति की आत्मा का स्पन्दन ध्वनित होता है। वह जनता के जीवन की व्याख्या करता है इसी से उसमें जीवन को प्रेरणा देने की शक्ति आती है, वह मानव को लेकर ही जीवित है, इसलिए पूर्णत: मानव केन्द्रित है। "मनुष्य सामाजिक प्राणी है सामाजिक समस्याओं, विचारों तथा भावनाओं का जहां सृष्टा होता है वहीं वह उनसे स्वयं भी प्रभावित होता है। इसी प्रभाव का मुखर रूप साहित्य है इस प्रकार साहित्य उसी मानव की अनुभूतियों, भावनाओं और कलाओं का साकार रूप है।"[34]

सामाजिक चेतना का अध्ययन साहित्य की महत्वपूर्ण पहचान है। साहित्य की अमरता उसकी सामाजिक चेतना में होती है और चेतना स्वत: एक सौंदर्य सृष्टि है जो कि छंद, शब्द, ध्वनि, अलंकार इत्यादि से अधिक महत्व रखती है। "यदि साहित्य की सामाजिकता या सामयिक चेतना महत्वपूर्ण न होती तो रीति युग के रंगीन देहिक साहित्य को क्यों नहीं आज उतना ही महत्व प्राप्त है जितना कि कबीर की कविता को प्राप्त है या प्रेमचंद को है।"[35]

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि जो जाति जैसी होती है अपने साहित्य के दर्पण में वह वैसी ही दिखायी देगी। अत: साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है ।

सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य साहित्य की सामाजिक चेतना है। जिसके कारण

आधुनिक हिन्दी साहित्य पाश्चात्य साहित्य के समकक्ष स्वतंत्रता, समानता, संवेदनशीलता, यथार्थोन्मुख, परिवर्तनशील, बदलाव का समर्थन करता है जो भारतीय समाज में नवीन संचार और मनुष्य कल्याण का हेतु बनकर आता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण परिवेश की लगभग सभी विधाओं में किसी न किसी रूप में सामाजिक चेतना का स्वर प्रधान है।

साहित्य के सन्दर्भ में रचनाकर का जीवन उसके साहित्य से अलग नहीं किया जा सकता। समाज के सन्दर्भ में लेखक की भूमिका नाजुक और संवेदनशील होती है। साहित्य और समाज का घनिष्ठ संबंध होते हुए भी वह समस्यामूलक है।"साहित्य व्यापक समाज से अपना जो संबंध स्थापित करता है उसमें सृजन और कला के रचना विधान का महत्व है। साहित्य समाज की अवहेलना नहीं कर सकता क्योंकि लेखक स्वयं एक सामाजिक प्राणी है।" रचनाकार अपनी रचना को सशक्त एवं समृद्ध बनाने के लिए अनुभवों को अनुभूति में परिवर्तित कर अपनी चिंतन क्षमता द्वारा समाज का सही चित्र प्रस्तुत करता है। अत: समाज और साहित्य का संबंध दोहरा होता है एक ओर साहित्य में समाज से प्राप्त अनुभव हैं तो दूसरी ओर साहित्य समाज को अपनी दृष्टि और उद्देश्य से सामर्थ्यवान बनाता है। इस तरह समाज साहित्य की रचना के पूर्व एवं पश्चात् दोनों समय उपस्थित रहता है। विशुद्ध साहित्य और साहित्यकार वह होता है जो समाज में हो रहे शोषण, अत्याचार, विषमता, अन्याय और दुराचार आदि के प्रति सदैव चिंतित रहता है तथा समाज में संतुलन, विकास, सामंजस्य एवं विषमताओं को दूर करने का प्रयत्न करता है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में सामाजिक चेतना -

लेखक या रचनाकार का भी एक समाज होता है जिसमें वह जीता है जो उसे घेरे हुए रहता है परिवेष्ठित किये रहता है "जो उसकी नियति है उसका दूसरा समाज वह है जो रचना को जमीन देता है, यह उसका प्रेरक समाज है, लेखक की संवेदना का समाज है। रचनाकार का तीसरा समाज वह है जिसमें वह संप्रेषित होता है अथवा जो उसे पढ़ता है। फिर एक समाज रचनाकार के भीतर होता है युक्तियों, कल्पनाओं, संरचनाओं,अवधारणाओं, रूचियों, शब्दार्थों, सपनो और आदर्शों का। ये चारों समाज ताश के पत्तों की तरह अलग-अलग होकर भी मिल-जुलकर चरितार्थ होते हैं। और अपनी अर्थवत्ता और सार्थकता प्रकट करते हैं।"[36]

आधुनिक हिन्दी साहित्य और रचना प्रक्रिया के सन्दर्भ में अज्ञेय ने कहा है कि "परिवेश की चेतना आज की एक प्रबल आवश्यकता है।"[37] लेखक या रचनाकार के परिवेश से तात्पर्य है "जिसके बीच वह जीता है, जिससे वह प्रभावित होता है जिसके दबावो- तनावों के बीच उसकी सर्जनात्मक प्रवृत्तियां रूप लेती हैं, पनपती हैं और विकसित होती हैं।"[38] इन सब के साथ-साथ रचनाकार के समय की राजनीतिक मानसिकता भी उसी तरह उसके परिवेश को प्रभावित करती है जिस तरह सामाजिक अथवा सांस्कृतिक मानसिकता। इसमें शिक्षा, इतिहास, दल, सम्प्रदाय, भाषा आदि पूर्वग्रह भी हैं।"साहित्य पर सामाजिक प्रभाव को रूपायित करने में मार्क्सवादी विचारधारा का योग सबसे अधिक महत्वपूर्ण है।"[39]

"व्यापक स्तर पर आधुनिक साहित्य का पूरा आंदोलन मनुष्य के आस-पास घूमता है।"[40] लगातार जनता के आंदोलन मनुष्य के अधिकारों की मांग करते हैं। उसके अस्तित्व की पहचान होती है। जिसके परिणाम स्वरूप मनुष्य का आत्मविश्वास दूसरी शक्तियों से टूटकर अपने श्रम के प्रतिमानों की आधारशिला रखता दिखाई देता है। यह परिवर्तित मान्यता का उदय खोखले आदर्शवाद और भाववाद के विरोध में यथार्थवाद की स्थापना है। "निरपेक्ष आदर्श की दिशाएं वायवीय होती हैं। यथार्थवादी आंदोलन का अस्तित्व प्रमाणिकता पर आधारित है। इसलिए उसे कल्पना से उतारकर जमीन में लाने में काफी घुमावदार रास्तों से गुजरना पड़ता है।"[41] यह कार्य सरल नहीं है।

भारतेन्दु युग के नाटक लोकगीत द्विवेदी युग का आर्थिक, राजनीतिक और भाषिक आंदोलन क्रमश: बढ़ते हुए यथार्थवाद के ही विभिन्न रूप थे। अत: यह कहना असंगत न होगा कि आधुनिक हिन्दी साहित्य की समूची रचनाएं कहीं न कहीं से मार्क्सवादी चेतना से संपृक्त हैं, हिन्दी साहित्य भी समानता, वर्ग विषमता और क्रांति की आवाज देता है।

भारत के लिए बीसवीं शताब्दी अत्यधिक घटनापूर्ण और विशिष्ट रही है। वैसे तो भारत ही क्या, समस्त विश्व में इस युग की तुलना किसी अन्य युग से नहीं की जा सकती। इसी सदी में केवल 20-21 वर्षों के अंतर पर दो विश्व युद्ध हुए। विज्ञान की नयी से नयी आविष्कृतियां इसी युग की देन हैं। विश्व स्तर पर इतनी राजनैतिक चेतना पहले कभी नहीं देखी गयी। विभिन्न देशों के सामाजिक, नैतिक तथा धार्मिक दृष्टिकोण इसी सदी में परिवर्तित-परिवर्द्धित हुए।

इस शताब्दी की विशेषता इस बात को लेकर भी है कि इसमें एक ओर भयंकर संघर्ष और प्रतिस्पर्धा का अतिरेक दिखाई देता है तो दूसरी ओर उदात्त भावनाओं का चरम विकास। संघर्ष और विनिमय की इन दोनों प्रवृत्तियों का भारतीय समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा। यह समूचा युग व्यावहारिक स्तर पर व्यक्ति की महत्ता को प्रतिष्ठित करने का युग रहा है। विश्व के साथ-साथ हमारा देश भी परिवर्तन के विभिन्न आयामों से निकलता हुआ आगे बढ़ा है। हमारी संस्कृति में निहित उदात्त प्रवृत्ति विश्व के लिए युगों तक श्रद्धास्पद और प्रेरणादायक रही है फिर भी आधुनिक काल तक आते-आते हम अपनी ही सामाजिक और धार्मिक संकीर्णता तथा राजनीतिक दास्ता के कारण प्रगति की होड़ में विश्व के अनेक देशों से बहुत पीछे रह गए और ऐसी स्थिति आ गई जब कि कुछ विशेष घटित होने को था, और वस्तुत: यह विशेष सामाजिक और राजनीतिक क्रांति के रूप में घटित भी हुआ। सामाजिक क्षेत्र में राजाराम मोहनराय ने और राजनीतिक क्षेत्र में 1857 की क्रांति ने हमारी घुटन और परम्परा तथा दासता के प्रति विरोध की भावना को अभिव्यक्ति दी। इन दो बिन्दुओं से आरम्भ होकर हमारा आगे का इतिहास स्वतंत्रता प्राप्ति, सामाजिक सुधार और सार्वजनिक प्रगति तथा विकास का इतिहास रहा है। इस काल की सामाजिक और राजनीतिक चेतना के परिप्रेक्ष्य में जिस साहित्य सृजन का उपक्रम हुआ, उसमें हम मानवतावादी दृष्टि का विशिष्ट विकास पाते हैं और सम्पूर्ण सामाजिक परिवेश में सामाजिक चेतना का विकास उत्तरोत्तर विकसित होता दिखाई देता है।

आधुनिक युग का हिन्दी साहित्य अपने विभिन्न काल खण्डों में विभिन्न स्थितियों और भूमिकाओं पर अभिव्यक्त सामाजिक चेतना से समन्वित है, जिससे सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में एक जाग्रति का, सामाजिक सुधार का,परम्परा के अन्वेषण का युग बन गया। आधुनिक हिन्दी साहित्य का आधार आधुनिक भारत की सामाजिक, धार्मिक, नैतिक तथा राजनीतिक स्थितियां रही हैं साथ ही विदेशी साहित्य और सामाजिक राजनैतिक चेतना और घटनाओं से भी उसने प्रभाव ग्रहण किया है।

भारत में 1854 से अंग्रेजी शिक्षा का आरम्भ होता है। पाश्चात्य शिक्षा में दीक्षित भारतीयों ने पश्चिमी साहित्य और विचारों का अध्ययन किया। उन्होंने रूसो, कार्लाइल,रस्किन न्यूमैन, इमरसन, थ्यूरो, दोस्तोव्स्की, गोर्की और टॉलस्टाय आदि की कृतियों से प्रेरणा ग्रहण की।" रूसो ने फ्रांस की जनता को शोषण के खिलाफ संगठित होने की प्रेरणा प्रदान की थी। उसको व्यक्ति की स्वतंत्रता में अमिट विश्वास था।"[42] इस प्रकार शिक्षा से सामाजिक और नैतिक आदर्शों की अनुगूंज भारतीयों को भी अपने लिए सोचने पर मजबूर करने लगी।

पाश्चात्य शिक्षा और साहित्य का भारतीयों पर व्यापक प्रभाव परिलक्षित हुआ और इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि भारत के शिक्षित लोगों का एक बड़ा वर्ग पाश्चात्य विचारों से प्रेरित होकर अपने समाज तथा राष्ट्र के उत्थान और विकास तथा समाज के बारे में गम्भीरता से सोचने लगा। "भारत की सामाजिक और राजनीतिक अवस्था उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक आते-आते अतिशय दयनीय हो चुकी थी। समाज, धर्म और राजनीति सभी में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी थी तभी पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार ने भारतीयों को एक दिशा प्रदान की और परिणामस्वरूप उन्होंने केवल अंग्रेजी सरकार के प्रशासनिक कार्यों में सहयोग देने में ही अपनी बुद्धि का उपयोग नहीं किया, वरन् अपनी सामाजिक दुरावस्था को भी उन्नत बनाने का संकल्प ले वे एक नये उत्साह के साथ इस पवित्र कार्य में तत्पर हो गए।"[43] इसका परिणाम यह हुआ कि उन्नीसवीं सदी के अंत में तथा बीसवीं सदी के आरम्भिक दशकों में समाज सुधारकों का तांता सा लग गया और उन्होंने उन सभी क्षेत्रों में सामाजिक चेतना और सुधार कार्य आरम्भ किया जिनमें भारत और भारतीय समाज पिछड़ा हुआ था। यह सामाजिक चेतना शिक्षा

प्रचार, नारी स्थिति के सुधार, अछूतोद्धार तथा उदार धार्मिक दृष्टि के विकास आदि कई दिशाओं मे सम्पन्न हुई। समाज सुधारों के साथ-साथ समाज में राष्ट्रीय और राजनीतिक चेतना भी फैली और उन्हें अपने देश की परतंत्रता चुभने लगी। "इस सबका समन्वित प्रभाव साहित्यकार पर भी पड़ा और उसने भी इसी विकसित होती सामाजिक चेतना को अपनी रचनाओं में स्थान दिया"[44] जिसे हम सामाजिक चेतना कहते हैं।

इसी सदी के दूसरे दशक में ही भारतीय लेखकों पर पश्चिमी रोमान्टिसिज्म का पर्याप्त प्रभाव देखा जा सकता है, इसे हमारे यहां स्वच्छंदतावाद की संज्ञा दी गई है। इस उदारवाद के अन्तर्गत साहित्य और समाज दोनों स्तरों पर रूढ़ियों को तोड़ने का संकल्प और सौन्दर्य के पर्यवेक्षण की ललक है। स्वच्छंदतावाद में वैयक्तिक स्तर पर विद्रोह का भाव निहित है। इसके अंतर्गत प्रकृति, देशप्रेम, वन वैभव एवं एकान्त प्रणय की भावनाओं को प्रमुखता मिली है। स्वच्छंदतावाद भी देश भक्ति की प्रवृत्ति से सम्पृक्त है, इसमें उदारवादी दृष्टि विकसित हुई है। कुछ और आगे चलकर हम पाते हैं कि हमारे साहित्यकारों ने अंग्रेजी स्वच्छंदतावादी काव्यधारा से, जिसके प्रणेता शैली कीट्स वायरन आदि कवि थे, प्रेरणा लेकर जिस काव्य की सर्जना की उसमें आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति, सौन्दर्य के प्रति अतिशय ललक, एक ही सूक्ष्म चेतना का समस्त विश्व में दर्शन तथा सामाजिक, धार्मिक राजनीतिक एवं साहित्यिक सीमाओं और रूढ़ियों से विद्रोह आदि के भाव विशेष थे। अत: दूसरे और तीसरे दशक में जिस साहित्य का प्रणयन हुआ, उसमें भी सामाजिक चेतना की सूक्ष्म धारा प्रवाहमान होती है।

उधर पूर्वी यूरोप में मार्क्सवादी विचारधारा अत्यंत प्रभावशाली सिद्ध हुई। रूस इस दिशा में नेता था। अत: लोगों की रूचि रूसी जीवन, समाज और साहित्य की ओर उन्मुख हुई। भारत भी इस प्रभाव से अछूता नहीं रहा। भारत में रूसी साहित्य का अध्ययन आकर्षण बढ़ा। "जार कालीन रूसी समाज में उसी प्रकार शोषण,असमानता, वैषम्य और सामाजिक समस्यायें व्याप्त थी, जिस प्रकार की हम परतंत्र भारत में पाते हैं।" रूस के उस समाज को 19वीं सदी के लेखकों ने पर्याप्त अभिव्यक्ति प्रदान की थी। दोस्तोव्स्की, टालस्टाय, मैक्सिम गोर्की का साहित्य इसका प्रमाण है।

"गांधी जी के विचारों में टालस्टाय के साहित्य की प्रेरणा सहज ही देखी जा सकती है।"[45] जो भारतीय समाज के लिए गांधी जी के जन आंदोलनों में साकार हुई।

आधुनिक युग में हमारे देश के बुद्धिजीवियों ने उपर्युक्त विचारकों और साहित्यकारों का बड़े मनोयोग से अध्ययन किया और उन्होने पाया कि सामाजिक चेतना की दिशा में पश्चिम में जो प्रयत्न हुए हैं और उसके परिणाम स्वरूप वहां की सामाजिक और राजनैतिक स्थिति में जो विकास हुआ है, वह भारत के लिए प्रेरणादायक था "इसी प्रेरणा से आधुनिक युग के आरम्भिक काल में ही हम देखते हैं कि सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर कार्य किये जाने लगे।"[46] यह शिक्षा द्वारा विकसित दृष्टि का ही परिणाम था। इस प्रकार शिक्षा के विकास ने हमारी दृष्टि को व्यापक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन और निरीक्षण की प्रेरणा दी। पाश्चात्य साहित्य और विचारों के साथ सम्पर्क स्थापित होने से एक तरफ हमारा मानसिक विकास हुआ और दूसरी ओर हमें सामयिक समस्याओं से निपटने में महती प्रेरणा मिली और उनके समाधान के लिए प्रयत्न आरम्भ हुए। राष्ट्रीयता की भावना और सामाजिक रूढ़ियों के उन्मूलन की प्रेरणा में शिक्षा की प्रेरणा सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। शिक्षा के प्रसार द्वारा सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर जिस व्यापक और उदार दृष्टि तथा नवचेतना का विकास हुआ उसने स्वाभाविक रूप से हिन्दी साहित्य को भी प्रभावित किया और हिन्दी साहित्य में सामाजिक पक्ष का उद्घाटन हुआ ।साहित्यकार की दृष्टि अपने सामाजिक परिवेश और उसकी विषमताओं की ओर उन्मुख हुई।

साहित्य में जनवाद एवं सुधारवादी भावनाओं के संप्रेषण और प्रकाशन में प्रेस ने बड़ी भूमिका अदा की। समाचार पत्र-पत्रिकाएं इस युग की जन चेतना का प्रमुख स्तंभ थी। भारतीय समाज के जन जागरण में प्रेस (समाचार पत्र-पत्रिकाओं) ने अभूतपूर्व भूमिका निभाई। भारतेन्दु युग साहित्यिक तथा सामाजिक पत्र-पत्रिकाओं का युग कहा जाता है।

1857 की क्रांति से भारत में जन जागरण की जो व्यापक प्रक्रिया आरम्भ हुई थी, उसने समाज में आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, क्षेत्र में सुधारवादी आंदोलनों की नींव रखी, जिससे भारत में आधुनिकता का उदय हुआ। जिससे भारत के धर्म, समाज, संस्कृति, सभ्यता आदि मध्ययुगीन आदर्शों का नवीनीकरण हुआ, उसमें समय की कसौटी पर संशोधन एवं परिवर्तन की चेतना जाग्रत हुई। इस समय समाज में व्यापक बदलाव की प्रक्रिया तेज हुई। स्त्रियों की स्थिति में सुधार, कुरीतियों का विरोध, शिक्षा का प्रचार, पुरातन जाति व्यवस्था में परिवर्तन, स्वदेशी प्रेम, अंध विश्वासी रूढ़ियों का समापन, देश की दुर्गति के कारणों का विवेचन प्रमुख थे।

परिणाम यह हुआ कि साहित्य की सर्वकालीनता, समसामयिकता का बाना पहनकर जनचेतना में प्रवृत्त हुई।" सुधार युगीन काव्य में समाज एवं तत्सम्बन्धी विविध विषयों का समावेश जिस ढंग से हुआ उसका एक पूर्ण चित्र हमें मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' में देखने को मिलता है।"[47] इस युग के साहित्य में भारत के अतीत के गौरव के साथ-साथ भारत की तत्कालीन दशा, आर्थिक स्थिति, अशिक्षा, धार्मिक संकीर्णता, सामाजिक हीनता, भविष्य के लिए प्रेरणा, पारिवारिक जीवन की स्थिति, धार्मिक आदर्श, भाग्यवादी आस्था का खंडन, अवतारवाद के प्रति अनास्था, सामाजिक चेतना की प्रतिष्ठा, नैतिक आदर्शों की व्यंजना, कर्मकाण्डों की भर्त्सना, भेदभाव का खण्डन, चरित्र पर बल, नारी उत्थान, दहेज प्रथा, पर्दाप्रथा, विधवा समस्या एवं देश भक्ति की भावना का विकास आदि में सुधार हुआ और चेतना की नई लहर फैली तथा इन समस्याओं को पर्याप्त अभिव्यक्ति मिली।

हिन्दी साहित्य में जागरण, सुधार और परिवर्तन युग की प्रतिष्ठा के लिए शिक्षा, पाश्चात्य विचारों और साहित्य की प्रारम्भिक प्रेरणा से स्थापित विभिन्न सामाजिक संगठनों की प्रमुख भूमिका है, इनमें ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसॉफिकल सोसायटी जैसे समाज सुधार संगठनों के साथ-साथ ईश्वरचन्द्र विद्यासागर,महादेव गोविन्द रानाडे, गोपाल कृष्ण गोखले आदि लोगों का भी मत्वपूर्ण योगदान है। इस तरह 1920 के बाद भारतीय समाज और साहित्य पुरातनता की जंजीरे तोड़कर नूतन परिस्थितियों का सामना करता दिखाई देता है।

साहित्य और सामाजिक चेतना आधुनिक सन्दर्भ में अध्ययन और विश्लेषण -

वैसे तो साहित्य और समाज का संबंध अटूट है, किन्तु विरल और अविरल रूप में यह संबंध परिवर्तित होता रहता है। साहित्य और समाज के इस संबंध के पक्ष युग सापेक्ष होते हैं। हम इतिहास के पन्नों में पाते हैं कि समाज और साहित्य का जो संबंध दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक रहा वह 15 सौ से 17सौ के बीच बदल गया और 17 सौ से भारतेन्दु काल तक उसका रूप बिल्कुल दूसरा ही दिखाई देता है। "इन युगों की प्रवृत्तियां इसका प्रमाण हैं, फिर भी युग प्रवृत्तियों में एक युग से दूसरे युग में एक अन्तः सलिला अन्वेषित की गयी है।"[48] हिन्दी साहित्य के आकाश में भारतेन्दु बाबू एक युग प्रवर्तक के रूप में अवतरित होते हैं, "जिन्होंने समाज के अछूते पक्षों की ओर दृष्टिपात किया, जिससे रीतिकाल की काव्य रूढ़ियों में कुछ हलचल हुई।"[49] इस प्रकार विषयान्तर प्रोत्साहित हुआ, तथा अभिव्यंजना में भी स्फूर्ति और चमक आयी। गद्य सशक्त हुआ और समाज संवेदना का आश्लेष प्राप्त किया इससे "भारतेन्दु युगीन कवियों और गद्य लेखकों का हौसला बढ़ा। वे समाजोन्मुख हुए।"[50] रचनाओं में स्पष्टतः परिवर्तन झांकने लगा। समाज में फैली कुरीतियों पर उनकी वक्र दृष्टि पड़ी। समकालीन पत्र-पत्रिकाओं ने इस दिशा में पूर्ण सहयोग किया और लगा कि साहित्य में एक नयी चमक आने लगी है। फिर भी काव्य रीतिकालीन प्रवृत्तियों से पूर्णतः मुक्त न हो सका। "इस समय सरस्वती साहित्य की एक प्रकार से मुख पत्रिका थी और उसकी बागडोर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के हाथों में थी।"[51]

द्विवेदी जी साहित्य में व्याकरण को लेकर अत्यंत कठोर थे उनकी इस कठोरता का तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि काव्य में इतिवृत्तात्मकता का असर बढ़ने लगा।" इतिवृत्तों में सामाजिक अभिलक्षणाओं के बावजूद उसमें सद्यता का अभाव अखरता था, रस के इस प्रवाह को न तो अवसर मिल रहा था और न नियम दिशा ही। इदम् के इस पटपरपन को अहं की विक्षेप शक्ति सहन न कर सकी"[52] और इसकी पूर्ति स्वरूप छायावाद अवतरित हुआ। छायावाद को शीघ्र ही भूमि मिल गयी और

उसे पाश्चात्य साहित्य से तथा रवीन्द्र साहित्य से उर्वर प्रेरणा मिली। महाराष्ट्र गुजरात आदि प्रदेशों में भी छायावाद को स्थान मिला। देश की तात्कालीन परिस्थितियों ने भी कवि की आत्मकेन्द्रीयकरण की वृत्ति को तीव्रता से प्रोत्साहन दिया ।इससे दमित इच्छाएं फूट पड़ी। दृप्त प्रेम की कातरता के साथ-साथ तलवर्ती निराशा और अवसादों की गूंज भी सुन पड़ने लगी। जिसकी खूब असहिष्णुतापूर्ण आलोचना हुई। छायावाद पर पलायनवादी और देश समाज के प्रति उदासीन होने का आरोप लगाया जाता है यह आक्षेप निराधार है कि छायावाद ने समाज के प्रति उपेक्षा का भाव दिखलाया। हिन्दी साहित्य में छायावाद एक नवीन साहित्यिक शैली के रूप में आया जिसका उन्मेष गद्य और पद्य दोनों में समान रूप से दिखाई देता है। इस युग में कामायनी, राम की शक्तिपूजा और तुलसीदास जैसी रचनाओं का सृजन हुआ तथा वहीं गद्य मे कंकाल, तितली, चतुरी चमार, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी जैसी उत्कृष्ट रचनाएं अस्तित्व में आयी। अत: छायावाद को सामाजिक दृष्टि से विमुख और निष्पंद कहना उसके साहित्यिक और सामाजिक मूल्यों के प्रति छायावाद के साथ अन्याय करना ही होगा।" विश्व के किसी भी साहित्य का जन्म उस देश के समाज की आवश्यकता का प्रतिफल है।"[53]

अत: निष्कर्ष औचित्य विहीन नहीं है कि "छायावादी कवियों की वैयक्तिक कही जाने वाली रचनाओं में भी सामाजिक रूढ़ बन्धनों के प्रति जिस प्रकार कवियों की करूण विवशता एवं आक्रोश की भावना प्रकट हुई है, प्राकारान्तर से वह युगीन समाज की कठोरता, अपरिवर्तनशीलता के विपरीत एक उदात्त एवं सक्रिय परिवर्तनवादी दृष्टिकोण है इनमें भारत के नवोदित सांस्कृतिक जागरण का स्वर सर्वत्र सुनाई देता है।"[54] कुछ इनी-गिनी रचनाओं को छोड़ दें तो छायावादी साहित्य को पलायनवादी या समाज विमुख ठहराना अनुचित प्रतीत होता है।" वस्तुत: छायावादी कवियों में सामाजिक उत्कर्ष और नव्यता की उतनी ही उत्कट ललक है जितनी भारतेन्दु या द्विवेदी युग के साहित्यकारों में।"[55]

छायावाद की नवीन काव्य चेतना में प्रेम, सौन्दर्य तथा नारी के प्रति सदियों से चली आ रही धारणाओं को बदलने का अभूतपूर्व कार्य किया। छायावाद को नवीन जीवन दृष्टि और आधुनिक बोध प्रदान करने का भी श्रेय है। छायावाद के उपरान्त या यूं कहें की छायावाद के उत्तरार्द्ध में ही प्रगतिवाद का बीजारोपण होता है। ये दोनों धाराएं समसामयिक सी रहीं। "सुधार और क्रांति दोनों काव्य धाराओं का लक्ष्य रहा। छायावादी कवि ने प्रेम और सौन्दर्य की वीथियों में घूमकर सांस्कृतिक और आचरिणक मूल्यों की झांकी दी, किन्तु प्रगतिवादी कवि अर्थपरक विलासों और अभावों की आक्रोशमय नाप जोख करता रहा। एक ने स्वच्छन्दता से शक्ति संचित की और दूसरे ने पश्चिम मे जन्मे हुए भौतिक अर्थवाद की अनुगतिकता में अपने अहम् को संजोया। एक के अहम् में वैयक्तिक दृष्टि का प्राधान्य था और दूसरे के अहम् मे दलगत अहम् की चमक-दमक थी। एक की अभिव्यक्ति शिष्ट और दूसरे की गाली-गलौच की सीमा तक पहुंचने वाली थी।"[56] प्रगतिवाद जो नहीं है उस आदर्श की कभी चिन्ता नहीं करता और जो है उसकी उपेक्षा नहीं करता। कुछ लोग छायावाद पर समाज की उपेक्षा का आरोप लगाते हैं, किन्तु निराला की सरोज स्मृति और कुकरमुत्ता को कौन नकार सकता है क्या यह रचनाएं प्रगतिवादी नहीं है ? जो लोग प्रगतिवाद को छायावाद की प्रतिक्रिया मानते है, मैं उनसे सहमत नहीं हूँ। "वास्तव में छायावाद और प्रगतिवाद सामाजिक लक्ष्य साधन के दो पृथक् दृष्टिकोण हैं एक भाववादी, दूसरा वस्तुवादी एक आदर्शवादी दूसरा यथार्थवादी,एक अहंवादी दूसरा इदंवादी।"[57]

डॉ. गायत्री वैश्य ने हिन्दी साहित्य के सौ वर्षों को पांच युगों में विभाजित किया हैं जिसके अनुसार हिन्दी काव्य की विभिन्न धाराओं को आसानी से समझा जा सकता है।" आधुनिक हिन्दी काव्य में समाज" ग्रंथ में डॉ. गायत्री वैश्य का विभाजन सर्वथा उपयुक्त है। उन्होने 1850-1900 तक के काव्य को जागरण युग, 1900 से 1920 तक के काव्य को सुधार युग, 1920 से 1940 तक के काव्य को परिवर्तन युग, 1940 से 1950 तक के काव्य को प्रयोग युग की संज्ञा दी है।

हिन्दी साहित्य में सामाजिक चेतना का आरम्भ तो भारतेन्दु युग से हो जाता है और क्रमश: उसके पश्चात् के साहित्य में वह निरंतर आगे बढ़ी है। भारत के सामाजिक, धार्मिक क्षेत्रों में जिस क्रांति का

प्रादुर्भाव हुआ, उसकी प्रेरक शक्तियां निम्न हैं -

1. ब्रह्म समाज - राजाराम मोहन राय
2. आर्यसमाज - स्वामी दयानंद
3. प्रार्थना समाज - केशवचन्द्र सेन
4. रामकृष्ण मिशन- स्वामी रामकृष्ण, विवेकानंद
5. थियोसॉफिकल सोसाइटी - एनीबीसेन्ट

आधुनिकीकरण की उपर्युक्त प्रबल शक्तियों से साहित्य क्षेत्र में नई विचारधारा उद्‌भूत हुई। युग के व्यापक प्रभाव से साहित्य और समाज की दिशा बदलने लगी। पुराने विषय और सिद्धांत क्रमश: बदलने लगे और भारतीय समाज में सुधार और नवीन चेतना के युग ने पैर जमाने आरम्भ किये। 1920 से 1940 के हिन्दी साहित्य में जो परिवर्तन के स्वर प्रबल होते हैं, उसके लिए युगीन परिस्थिति के प्रभाव के साथ-साथ निम्न प्रेरक तत्वों ने भी महती भूमिका निभाई। 19वीं शताब्दी में जबकि समाज में चहुंओर जाग्रति और चेतना की लहर फैल रही थी लोगों का ध्यान सामाजिक, धार्मिक तथा नैतिक मर्यादाओं की ओर अधिक था। परिवर्तन युगीन काव्य के प्रेरक तत्वों में ललित कलाओं का पुनरूत्थान, नवीन दार्शनिक चेतना, अंग्रेजी रोमेण्टिसिज्म, प्रकृति के प्रति प्रेम, निराशा और वेदना की अभिव्यक्ति, प्रेम की स्वच्छंद प्रतिष्ठा, स्थूल धर्म एवं नीतियों के प्रति विद्रोह, सांस्कृतिक सुधार, दुख की उदात्त व्याख्या, जीवन के प्रति नवीन दर्शन, पुरातन के प्रति अश्रद्धा प्रमुख है।

1935 के पश्चात् हिन्दी साहित्य में पुन: नवीन विचारधारा का सूत्रपात हुआ जिसने पूर्ववर्ती काव्य धारा के कल्पित सामाजिक आदर्शों एवं व्यक्तिमन के सौन्दर्यघाटन द्वारा नयी समाज रचना के लक्ष्य से भिन्न जीवन की यथार्थता की ओर आकृष्ट किया। इस समय से काव्य में ऐसी रचनाओं का प्राधान्य हो गया जो महाक्रांति, प्रलय और विध्वंस की भावनाओं से भरी थी। इस काल की रचनाओं में तत्कालीन अर्थव्यवस्था एवं सामाजिक ढांचे के प्रति द्वेष और घृणा की भावना व्याप्त थी जो नया संसार बसाने के लिए बैचेन दिखाई देती है। इसी युग में मार्क्सवाद का उदय होता है। असल में शुद्ध साहित्य की अपेक्षा यह साहित्य मार्क्सवादी साहित्य अधिक है।

साहित्य एक स्थान या प्रवृत्ति पर स्थिर नहीं रहता। उसका स्वरूप समय अनुसार बनता बिगड़ता रहता है। "चूंकि मनुष्य की अनुभूतियों और विचारधाराओं में निरंतर परिवर्तन होता रहता है इसलिए समय सापेक्ष साहित्य का परिवर्तित होना आवश्यक है नये सन्दर्भ, नये मूल्य, नयी भाषा इन सभी का साहित्य में प्रवेश करना स्वाभाविक है।"[58] हिन्दी साहित्य में छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता और अकविता मनुष्य की अनुभूतियों और विचारधाराओं में निरंतर परिवर्तन का ही परिणाम है।1936 में छायावाद की समाप्ति के उपरान्त साहित्य में समाजिक चेतना का आरम्भ होता है और क्रमश: प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता और अकविता तक यह धारा प्रवाहित होती है। स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में सामाजिक विघटन और प्रतिरोध की व्यवस्था का राजनयिक खोखलापन अधिक दिखाई देता है। नयी कविता की प्रवृत्ति उपर्युक्त परिस्थितियों से काफी कुछ मेल खाती है नयी कविता ने अपने नयेपन के साथ नये भाव बोध को ग्रहण किया। नयी कविता अपने आस-पास के परिवेश को उसकी यथार्थता में ग्रहण करती है। नयी कविता यथातथ्य अभिव्यक्ति के लिए प्रयासशील रही है। अत: नयी कविता का यथार्थ जीवन को उसके समग्र रूप में देखने में निहित है।" मनुष्य जैसा है, सुख-दुख, जय-पराजय, हास-विलास, सृजन और संघर्ष आदि समस्त किया व्यापारों में उसकी जो मूर्ति उभरती है नयी कविता उस संपूर्ण संभावित मानव मूर्ति को चित्रित करना चाहती है। नयी कविता का कवि जीवन को इसी व्यापक धरातल पर ग्रहण करता है और भोगे गये क्षणों की यथार्थ अनुभूति के आधार पर उसके खंड रूपों की सार्थक अभिव्यक्ति करता है।"[59]

लक्ष्मीकांत वर्मा ने लिखा है "जब हम मनुष्य को मनुष्य के रूप में ग्रहण करने की चेष्टा करेंगे तो निश्चय ही हमारी दृष्टि में सुपरमैन या अधिनायक का रूप न आकर उस व्यक्ति का रूप आयेगा जो अपनी लघुता को लिये हुए अपने लघु परिवेश में सतत् गतिशीलता के साथ अपनी दृष्टि और वाणी में आज भी

अपने प्रति आस्था जीवित रखे है।" नयी कविता इसी का प्रतिनिधित्व करती है। अत: हिन्दी साहित्य के अध्ययन में सामाजिक चेतना और साहित्य का जो सूक्ष्म बीजारोपण भारतेन्दु युग से आरम्भ होता है वह निरंतर आगे बढ़ता जाता दिखाई देता है। छायावाद में भी यह चेतना विद्रोह और स्वच्छंदता के रूप में विद्यमान है। प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता सामाजिक चेतना का पर्याय है। इस तरह बीसवीं शताब्दी का हिन्दी साहित्य भारतीय समाज के विकासमान जागरूकता का दस्तावेज है।

निष्कर्ष -

उन्नीसवीं सदी के भारतीय समाज के उत्थान के इतिहास का पृष्ठ-पृष्ठ बतलाता है कि जब यूरोप वाले भारत में आये तब यहां के धर्म, संस्कृति और साहित्य पर रूढ़ि की पर्तें जमी हुई थी एवं यूरोप के मुकाबले में उठने के लिये यह आवश्यक हो गया था कि ये पर्तें उखाड़ फेंकी जायें और भारतीय समाज को अंग्रेजों से मुक्ति के लिये उठ खड़ा किया जाय। इस उत्थान में भारतीय धर्म, दर्शन और साहित्य की दिशाएं बदलीं और भारत में सर्वत्र चेतना का माहौल गरम हुआ, परम्पराओं रूढ़ियों और पुरातनता की बेड़ियां टूटी और समाज में नयी चेतना ने जन्म लिया। सर्वत्र हो रही क्रांति से साहित्य कैसे अछूता रह सकता था, साहित्य भी अपनी रीतिकालीन दैहिक वासनाओं से छटपटाकर समाज के साथ हो गया। उसने पहली बार समाज से एकाकार किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र युग प्रवर्तक के रूप में हिन्दी साहित्य में अवतरित हुए जिन्होंने समाज के अछूते पक्षों की ओर दृष्टिपात किया और हिन्दी साहित्य में सामाजिक चेतना का आरम्भ हुआ। गद्य और पद्य दोनों ने समाज संवेदना को मुखरित करना आरम्भ किया। साहित्य में एक नयी स्फूर्ति और चमक आने लगी जिसने साहित्य को समाज के करीब लाकर खड़ा कर दिया।

डॉ. राम रतन भटनागर ने लिखा है, "साहित्य संस्कृति की देन है वह उसी का अनिवार्य पक्ष है जो अपने भीतर, सृजन के अन्य माध्यमों की शैलियों और भूमिकाओं को भी आत्मसात करता रहा है उसमें विचार, भावना,कल्पना, अतीन्द्रिय चेतना तथा अपरोक्ष के सभी आयाम सिमट आते हैं।" व्यक्ति, वर्ग और समाज की त्रिमूर्ति ही साहित्य के रूप में प्रकट होती है।

साहित्य और समाज दो महत्वपूर्ण इकाईयां है और इन दोनों की पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया का मानव संवेदना और चेतना के विकास मे महत्वपूर्ण योगदान रहा है। आधुनिक हिन्दी साहित्य इसका सशक्त प्रमाण है। साहित्य से हमारा तात्पर्य उस कलात्मक चेतना से है जो वाणी के द्वारा अभिव्यक्ति और आकार ग्रहण करती है और जिसमें भावसत्य और वस्तुसत्य दोनों को समान रूप से स्थान प्राप्त होता है। इस प्रकार मनुष्य के भीतर बाहर का समस्त प्रसार साहित्य की प्रेरणा बन जाता है। सच तो यह है कि समाज और साहित्य दो भिन्न वस्तुएं है ही नहीं, क्योंकि कवि अथवा साहित्यकार के द्वारा दोनों एक सूत्र में बंध जाते हैं। साहित्य समाज का दर्पण है, कहने से यही अभिप्राय है कि साहित्य में समाज से उत्पन्न विचार रखना, अंत:प्रेरणा तथा संवेदना अनायास ही स्थान पा जाते हैं। साहित्य चेतना की विशिष्टता के कारण सांस्कृतिक संदर्भों को भेद कर अपने स्वतंत्र और परिपूर्ण जीवन का आग्रही होता है। अत: हम कह सकते हैं कि जल में पड़े स्पंज की भांति साहित्य समाज के सम्पूर्ण परिवेश को सोख लेता है और यही जल सामाजिक चेतना के रूप में प्रकट होता है, कि सामाजिक चेतना और साहित्य का संबंध अभिन्न है अटूट है। सामाजिक चेतना के अभाव में साहित्य समाज के प्रति वैसे ही होता है जैसे रोशनी के प्रति अंधत्व। सामाजिक चेतना और साहित्य, समाज के बदलते मानदण्डों के अनुरूप परिवर्तित होते हैं। इस बदलते हुए समाज की प्रतिध्वनि को साहित्यकारों ने बखूबी पहचाना है और इसलिए उनकी रचनाओं में जिस समाज के दर्शन होते हैं उसमें परिवर्तन की यह धारा सतत् प्रवाहमान होती दिखाई देती है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची -

१. रत्नाकर पाण्डेय/हिन्दी साहित्य सामाजिक चेतना/१०/११
२. रत्नाकर पाण्डेय/हिन्दी साहित्य सामाजिक चेतना/११
३. हजारी प्रसाद द्विवेदी/साहित्य सहचर/पृ.१३
४. वही
५. रत्नाकर पाण्डेय/हिन्दी साहित्य सामाजिक चेतना/१५४-५५
६. वही /पृ. १५५
७. वही /१५५-१५६
८. वही /पृ. १५७
९. डॉ. प्रभुलाल डी. वैश्य/रांगेय राघव के उपन्यासों में युग चेतना/२७
१०. डॉ. बैजनाथ प्रसाद शुक्ल/भगवती चरण वर्मा के उपन्यासों में युग चेतना/पृ. ९
११. डॉ.प्रभुलाल डी. वैश्य/रांगेय राघव के उपन्यासों में युग चेतना/१४
१२. देवेश ठाकुर/साहित्य की सामाजिक भूमिका/४१
१३. डॉ. जयश्री शुक्ला/साठोत्तर हिन्दी नाटकों की सामाजिक चेतना/पृ./१२-१३
१४. डॉ. रमाकांत शर्मा/समाजोन्मुख यथार्थवादी काव्य/६१
१५. राम विलास शर्मा/साहित्यिक निबंध प्रगतिशील साहित्य/४९५
१६. वही /पृ.६६-६७
१७. सं. रामचंद्र वर्मा/संक्षिप्त हिंदी शब्द सागर/सप्तम् संस्करण/३३०
१८. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा/हिन्दी साहित्य कोश प्रथम/१९५८/पृ. २८९
१९. वही
२०. सं. रामप्रसाद त्रिपाठी/हिन्दी विश्व कोष खण्ड -४/ पृ./२८२
२१. ए. पी. शैप्टुलिन/मार्किस्ट लेमिनिस्ट फिलॉसफी पृ.१४०
२२. वही
२३. नंददुलारे वाजपेयी/आधुनिक साहित्य/२१/३०
२४. वही
२५. कमला प्रसाद/छायावादोत्तर हिन्दी काव्य की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि/पृ./१४७
२६. सुरेन्द्र विक्रम/प्रयोगवाद नयी कविता और अकविता/भूमिका
२७. वही
२८. गायत्री वैश्य/आधुनिक हिन्दी काव्य में समाज/भूमिका
२९. वही
३०. वही
३१. वही
३२. कमला प्रसाद/छायावादोत्तर हिन्दी काव्य की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि/१५
३३. वही /१६
३४. वही /२०
३५. डॉ. रामरतन भटनागर/साहित्य और सर्जना / पृ. १,२,३,
३६. देवेश ठाकुर/आधुनिक हिन्दी साहित्य की मानवतावादी भूमिकाएं/१०९से ११५
३७. अज्ञेय/साहित्य का परिवेश/पृ.३३,१३
३८. हजारी प्रसाद द्विवेदी/भाषा साहित्य और देश/५३,६०,६४,७८,९९,१०८,११५.

३९. अज्ञेय/सामाजिक यथार्थ और कथा भाषा/९,२८,४६,१०२
४०. रामधारी सिंह दिनकर/संस्कृति के चार अध्याय/५३१
४१. हजारी प्रसाद द्विवेदी/हिन्दी साहित्य की भूमिका
४२. जय श्री शुक्ला/साठोत्तर हिन्दी नाटकों की सामाजिक चेतना/९,२७,२८,२९,
४३. अज्ञेय/आधुनिक हिन्दी साहित्य/१२४
४४. रघुवंश/साहित्य का नया परिपेक्ष्य/१६७
४५. आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन/१७
४६. रामकुमार वर्मा/साहित्य शास्त्र/७२
४७. देवेश ठाकुर/साहित्य की सामाजिक भूमिका/२६
४८. डॉ. गायत्री वैश्य/आधुनिक हिन्दी काव्य में समाज/भूमिका
४९. वही
५०. वही
५१. वही
५२. वही
५३. रामधारी सिंह दिनकर/संस्कृति के चार अध्याय/उपसंहार
५४. वही
५५. अज्ञेय/आधुनिक हिन्दी साहित्य /१२४
५६. गायत्री वैश्य/आधुनिक हिन्दी काव्य में समाज/भूमिका
५७. वही
५८. देवेश ठाकुर/साहित्य की सामाजिक भूमिका /२७
५९. वही

अध्याय -3

रचना में व्यक्ति का समाज में तथा समाज का व्यक्ति में रूपांतरण

"रचनाकार का कर्म अपनी भावनाओं में अपनी प्रेरणा में,अपने आंतरिक संस्कारों में समाज सत्य के मर्म को ढालना उसमें अपने को पाना है और पाने को अपनी पूरी कलात्मक क्षमता से पूरी सच्चाई के साथ व्यक्त करना है" (शमशेर बहादुर सिंह)

'क्रोचे' के अनुसार "व्यक्ति के मन में बाहरी संसार के प्रभाव स्वरूप उत्पन्न अनेक भाव चित्र रहते हैं, उसमें अनुभूति की तीव्रता के कुछ क्षण ऐसे आते हैं जब व्यक्ति इन छायाचित्रों को अपने पर प्रकट करने के लिए विवश हो जाता है।" व्यक्ति की इसी विवशता में साहित्यिक सृजन का मूल प्रेरणा केन्द्र स्थित होता है। जिसके द्वारा रचना में व्यक्ति और व्यक्ति में समाज का रूपांतरण होता है। इस तरह जब व्यक्ति के चित्त में घूमने वाले छाया चित्रों को अपने पर प्रकट करता है तो मानो आवेगों और आंदोलनों को बस में कर लेता है।

गहन अनुभूति के क्षणों में हमारी आत्मा और मस्तिष्क में आनंद की प्रसव वेदना अविभूत होती है,उसी का उच्छलन रचना होती है साहित्य का मूल धर्म आत्माभिव्यक्ति है। आत्माभिव्यक्ति वह मूल तत्व है जिसके कारण कोई व्यक्ति, साहित्यकार और उसकी रचना साहित्य बन पातीहै। साहित्य का संबंध दार्शनिक अतिवादों से नहीं बल्कि मानव जीवन से है, उसके आसपास से है, उसके समाज से है। बाहरी दुनिया, समाज के कुछ प्रभाव घटनाएं या दृश्य जो बहुत गहरे स्तर पर व्यक्ति मन को प्रभावित करते हैं और अनुभूति के चरम पर पहुंचकर अभिव्यक्ति का माध्यम बनते हैं रचनाकार के मनोहृदय में फिर पुन: प्रविष्ट होता है और अपने अनुभव को मस्तिष्क के साथ विचार स्थिति में रखकर अभिव्यक्त करता है तो वह एक नये रूप में,नये अर्थ में रचना में व्यक्ति तथा व्यक्ति में समाज को ध्वनित करती है।

आत्मा की अभिव्यक्ति का माध्यम एक नहीं अनेक हैं किन्तु आत्मा की जो अभिव्यक्ति शब्द और अर्थ द्वारा होती है उसे साहित्य कहते हैं। आमतौर पर रचना में देखा जाए तो रचनाकार ही आर्थिक दृष्टव्य होता है किन्तु ऐसा नहीं कि उसमें समाज नहीं होता, होता है। व्यक्ति अकेला कोई इकाई नहीं है वह अकेला समाज भी नहीं है तब रचना में व्यक्ति अकेला कैसे हो सकता है। उसके साथ उसका जीवन उसके अनुभव सुख-दुख आदि की अनुभूतियां भी संलग्न रहती हैं जो एक व्यक्ति में ही उसका परिवार, गांव और समाज बसाऐ होती है। यही जीवन का समाज रचनाकार के हृदय को गहरे अनुभूति के धरातल पर प्रभावित करता है जिसके परिणामस्वरूप रचना होती है और उस रचनाकार की रचना में हमें रचनाकार से सम्बद्ध उसका समाज, उसकी पड़ताल, उसका अन्वेषण, उसके निष्कर्ष आदि भी दिखाई देते हैं जो इस बात को स्वत: सिद्ध करते हैं कि रचना में होता शामिल एक व्यक्ति ही है किन्तु उस व्यक्ति में समाज आवश्यकतानुसार रचना के द्वारा रूपांतरित होता है, इस तरह एक रचनाकार में,रचना के सृजन के मूल में समाज,रचनाकार का सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और प्राकृतिक समाज रूपांतरित होकर रचना के केन्द्र में उसका विषय बनता है।

अत: रचना में व्यक्ति के द्वारा उसकी चेतना के माध्यम से उसके सम्पूर्ण परिवेश का रूपांतरण होता है। अकेले व्यक्ति के साधन के लिए शब्दों के विधान में भी बाहरी समाज के रूपांतरण के बगैर रचना संभव ही नहीं है। मैंने इस अध्याय में इसी बात का विश्लेषण करने का प्रयास किया है।

साहित्य और जीवन -

साहित्य और जीवन का संबंध अटूट है। अत: साहित्य जीवन से अलग नहीं है बाबू गुलाबराय लिखते हैं "साहित्य जीवन से भिन्न नहीं है वरन् वह उसका ही मुखरित रूप है। वह जीवन के महासागर से उठी हुई उच्चतम् तरंग है। मानव जाति के भावों, विचारों और संकल्पों की आत्मकथा साहित्य के रूप में प्रसारित होती है। वह जीवन का चरम विकास है किन्तु जीवन में बाहर उसका अस्तित्व नहीं साहित्य

में पाचन, वृद्धि, गति और पुनरूत्पादन आदि जीवन की सभी क्रियायें मिलती हैं। अंग ही अंग से भिन्न गुणों वाला नहीं होता इसलिए जीवन की मूल प्रेरणाएं भी साहित्य की मूल प्रेरक शक्तियां हैं। जो वृत्तियां जीवन की और सब क्रियाओं की मूल स्त्रोत हैं वे ही साहित्य को भी जन्म देती हैं।"[1] प्रसिद्ध कथाकार और हिन्दी साहित्य के स्तम्भ प्रेमचन्द्र ने साहित्य को जीवन की आलोचना माना है। उन्होने लिखा है "हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें सच्चा चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, जो हममें गति और संघर्ष और बैचेनी पैदा करे।"[2] जिसमें सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाईयों का प्रकाश हो ऐसा साहित्य समाज से, जीवन से अलग कैसे हो सकता है। साहित्य और जीवन एक सिक्के के दो पहलू हैं। हैनरी हडसन के अनुसार "साहित्य जीवन के भावों और विचारों को भाषा के द्वारा व्यक्त करने का माध्यम है।" मैथ्यू आर्नल्ड के अनुसार "Porty at bottem is a criticism of life" साहित्य और जीवन दोनों का क्षेत्र बहुत व्यापक है, किन्तु मैं कह सकता हूँ साहित्य और जीवन दोनों एक दूसरे में समाहित होते हैं। अत: साहित्य सीधा जीवन से आता है इसीलिए साहित्य में किसी न किसी रूप में जीवन ही व्यक्त होता है। जीवन या समाज से परे साहित्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती। आध्यात्म, दर्शन, भक्ति, प्रेम, योग कुछ भी जीवन से परे नहीं सब जीवन के ही अंग हैं। साहित्य प्रत्येक देश के मानव मन के भावों, विचारों, अनुभूतियों का चित्र होता है। अत: प्रत्येक देश का साहित्य उस देश के समाज और जीवन का दर्पण होता है हम कह सकते हैं कि साहित्य और कुछ नहीं, जीवन की ही आत्म कहानी है तो अन्यथा न होगा। अत: साहित्य की सार्थकता जीवन से अलग रहकर नहीं है। न ही उसकी रचना। व्यक्ति से समाज निर्मित होता है और समाज में साहित्यकार रहता है, अत: समाज से जीवन से साहित्य का बचकर निकलना संभव नहीं। साहित्यकार भी समाज का एक व्यक्ति है इस प्रकार वह भी उसी समाज के साथ जीवन जीता है जिसमें रहकर वह लिखता है अत: साहित्य में जीवन स्वत: ही अभिव्यक्त हो जाता है।

रचना का परिवेश -

"जिस प्रकार व्यक्ति अपने इतिहास का निर्माण उसी परिवेश विशेष में करता है जिसमें वह रहता है अथवा जिससे वह प्रतिबद्ध है, उसी प्रकार साहित्य की रचना भी रचनाकार के परिवेश में ही रूपाकार ग्रहण करती है।"[3] रचना के समय के परिवेश की सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक, धार्मिक स्थितियों तथा उसमें मान्य सांस्कृतिक और दार्शनिक सिद्धांतों के साथ-साथ रचनाकार के परिवेश की आर्थिक परिस्थितियां भी रचना को प्रभावित करती हैं। इन सबका मिलाजुला प्रभाव रचनाकार के मनोमस्तिष्क पर पड़ता है और वह एक ऐसे बिन्दु पर पहुंच जाता है जहां रचनाकार संवेदनशील होकर उस समग्र प्रभाव को किसी न किसी रूप में व्यक्त करने के लिए विवश हो जाता है यहां यह बात महत्वपूर्ण है कि रचना परिवेश और काल के धरातल पर रचित जरूर होती है, किन्तु वह परिवेश और काल की ही वस्तु नहीं होती अपितु वह सार्वदेशिक और सार्वकालिक भी हो सकती है।

रचनाकार सावधान और संवेदनशील होता है। उसकी संवेदनशीलता सामान्य व्यक्ति से व्यापक होती है वह अपने समस्त परिवेश से लगातार जुड़ा रहता है। जिसमें वह रहता हैं। रचनाकार केवल अपने तक सीमित नहीं होता उसका कल्पित संसार और स्थूल संसार दोनों से घनिष्ठ संबंध होता है। इस तरह वह समाज तथा प्रकृति के सम्पूर्ण परिवेश से रचना की सामग्री का रूपांतरण करता है।

रचनाकार का समाज -

समाज एक व्यापक इकाई है। जिसमें रचनाकार जीता है लेकिन यह इकाई अनेक वर्गों में विभाजित रहती है। रचनाकार भी समाज के किसी वर्ग से सम्बद्ध होता है। "उस वर्ग विशेष की विशिष्टताएं, न्यूनताएं, परम्पराएं, रूढ़ियां, विश्वास प्रचलन उसे निरंतर प्रभावित करते चलते हैं।"[4] इन सब से रचनाकार की मानसिकता का निर्माण होता है, "इससे उसकी दृष्टि एक निश्चित आकार ग्रहण करती है।"[5] रचनाकार के परिवार का भी उस पर काफी प्रभाव पड़ता है। अत: रचनाकार भी उस समाज का अभिन्न अंग होता है जिसमें रहकर वह आरम्भ से लेकर अंत तक जीवन जीता है इस अर्थ में केवल लेखक ही समाज को उसकी अच्छाईयो - बुराईयों को समझता है समाज में उसके साथ जीने वाले सभी लोग अपने

समय के समाज से पूर्णत:परिचित होते हैं,लेखक या रचनाकार समाज को उसकी पूरी संवेदना के साथ आत्मसात कर अभिव्यक्त करता है इसलिए रचनाकार की अनुभूति पुनः समाज में प्रसारित होती है। रचनाकार केवल निजी अनुभवों को ही आत्मसात नहीं करता बल्कि वह दूसरे लोगों के अनुभवों को भी अपने भीतर समेटता है और अभिव्यक्त करता है ये अनुभव ही उसकी रचना और संवेदना को समाज से जोड़कर समृद्ध बनाते हैं। अत: मैं कह सकता हूँ कि रचनाकार अपने समाज को ही रचना में अपनी कल्पना और बुद्धि के संयोग से उद्घाटित करता है। रचना का परिवेश वह समाज है जिसमें, जिसके साथ रचनाकार जीता है और जिससे वह प्रभावित होता है।" जिसके दबाबों-तनावों के बीच उसकी सृजनात्मक प्रवृत्तियां रूप लेती हैं, पनपती हैं और विकसित होती हैं।"[6] रचनाकार के समय का समस्त राजनैतिक सामाजिक और आर्थिक परिवेश भी रचना को किसी न किसी रूप में प्रभावित करता है इसके साथ-साथ शिक्षा, इतिहास, दर्शन, भाषा आदि भी परिवेश के मुख्य अंग होते हैं जो रचना को भी प्रभावित करते हैं।

"रचनाकार जिस संस्कृति में जीता है उस का विश्व दर्शन भी उस के परिवेश का एक अंग होता है"[7] क्योंकि वह उसकी मानसिकता को बनाता है, वह रचना का ढांचा खड़ा करता है जिसके भीतर उसके मनोभावों का घात-प्रतिघात एक ऐसा तनाव पैदा करता है जो रचना की सर्जना का कारण बनता हैं समाज और उसके परिवेश के सभी प्रभाव रचनाकार द्वारा रचना में व्यक्त हों जरूरी नहीं वे अदृश्य रूप में भी काम करते रहते हैं और रचना को परिवेश की ध्वनि से परिपूर्ण करते हैं हम परिवेश को रचना में व्यक्त होने तक ही सीमित नहीं रख सकते क्योंकि समाज के परिवेश की बहुत सी बातें सिर्फ अनुभूति तक ही अनुभूत होती हैं और उसी रूप में रचना में व्यक्त होती हैं किन्तु उनकी उपस्थिति का संकेत रचना में प्रतिष्ठित रहता है। रचना में व्यक्त और अव्यक्त परिवेश अलग-अलग ढंग से कार्य करते हैं और उनकी क्रियाशीलता के क्षेत्र और उन की विधियों को समझ लेने पर पूरे परिवेश के साथ रचनाकार का संबंध एक नया रूप ले लेता है। और नवीन आधार भूमि पर स्थापित हो जाता है। एक बात मैं स्पष्टत: कह सकता हूँ कि जहां तक रचना कर्म का सवाल है हमारे परिवेश की चेतना एकाधिक स्तरों पर सक्रिय होती है इन क्रियाओं को समझना ही सही मायने में परिवेश को समझना है।

रचना के परिवेश के अन्तर्गत समाज के साथ-साथ प्राकृतिक परिवेश भी सम्मिलित होता है प्राकृतिक परिवेश से मनुष्य के संबंध का विस्तार से विचार हुआ है। पश्चिम की चिन्तन परम्परा और उन्नीसवीं सदी तक का तथाकथित वैज्ञानिक चिन्तन, जिसने मनुष्य और प्रकृति के बीच विरोध का ही संबंध देखा, यह चिंतन हमें जिस विनाश के कगार पर ले आया उसे आज सभी देख रहे हैं। प्राकृतिक और सामाजिक परिवेश के साथ भाषिक परिवेश भी रचना में प्रमुख रूप से ध्वनित होता है, भाषिक परिवेश अपनी बहु आयामी कठिनाईयों के साथ रचना कर्म से जुड़ा हुआ है और रचनाकार को अन्य परिवेशों से गहराई के साथ व्यक्त करने में सहायता करता है अत: रचना में रचनाकार की अनुभूतियों के द्वारा सम्पूर्ण समाज का परिवेश अभिव्यक्ति की आधार सामग्री है जिसके अभाव में रचना संभव ही नहीं है।

अनुभूति और अभिव्यक्ति -

'आलोचक की आस्था' ग्रंथ में डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है "साहित्य को आत्माभिव्यक्ति मानने का अर्थ ही यह है कि वह जीवन की अभिव्यक्ति है विज्ञान, दर्शन, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि द्वारा व्याख्यात जीवन की नहीं वरन् साहित्यकार के आत्म अनुभूत दूसरे शब्दों में आत्मसात् जीवन की अभिव्यक्ति है।"[8] रचनाकार दृष्टा, सृष्टा और भोक्ता तीनों होता है वह अंत: और बाह्य परिवेश समाज में जो देखता है अनुभूत करता है,उसे ही रचना के रूप में रूपांतरित करता है। हिन्दी साहित्य के प्रख्यात आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "रचनाकार की अनुभूति सबकी अनुभूति होती है।"रचनाकार अपने स्व में समस्त समाज की अनुभूतियों को अनुभूत करता है इस तरह वह अपने परिवेश के साथ एकाकार होता है "जिस प्रकार जगत अनेक रूपात्मक है उसी प्रकार हमारा हृदय भी अनेक भावात्मक है इस अनेक भावों के व्यायाम और परिष्कार के द्वारा समाज के भिन्न-भिन्न रूपों ,व्यापारों तथा तथ्यों की अनुभूति को शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है।"[9]

रचनाकार के हृदय का संसार के साथ जितना गहरा संबंध होगा रचना में उतनी ही गहराई से अनुभूति अभिव्यक्ति के रूप में प्रस्फुटित होगी। इस तरह रचनाकार की अनुभूतियों के द्वारा बाह्य संसार अनेक रूपों, रंगों में अभिव्यक्त होता हैं रचनाकार जीवन और जगत की अनुभूतियों को पहले हृदय में सृजित करता है फिर इस विश्व के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष तथ्यों को भावनाओं के विषय बनाकर उन्हीं मूल रूपों व्यापारों में परिणत कर अभिव्यक्त करता है।

"रचनाकार ही विचारों अनुभूतियों की छुपी हुई शक्ति को केन्द्रस्थ कर उसे कार्यरूप में रचना के माध्यम से प्रकट करता है। रचनाकार समाज में रहकर ही अपनी रचनाओं की सामग्री ग्रहण करता है, अपने जीवन के प्रत्येक अंश में वह जो कुछ देखता है, सुनता है, जीता है और इन सबसे जो अनुभूत करता है उससे उसकी एक धारणा निर्मित होती है जो अभिव्यक्ति का कारण बनती है।"[10] रचनाकार का संवेदनशील हृदय उसके विस्मय, प्रेम और कल्पना के संसार की प्रत्येक वस्तु की अनुभूति के साथ अपना संबंध अनुभव करता है। समाज के सन्दर्भ, उसकी नियति, स्थिति, उसकी भयावहता, उसका सौन्दर्य, प्रेम, दुख, हर्ष और बदलाव भी अनुभूति के स्तर पर रचनाकार के लिए उसके हृदय की अभिव्यक्ति का विषय बनते हैं। एक ओर रचना अपने समय के सामाजिक प्रभाव को ग्रहण करती है तो दूसरी ओर समाज को प्रभावित भी करती है।

रचना पहले घटना होती है वह रचनाकार के मनोजगत में प्रभावशाली रूप में अंकित हो कर रचनाकार की अनुभूति में और सहयोगी अनुभूतियों के साथ अभिव्यक्ति का कारण बनती है। प्रत्येक रचनाकार की अनुभूति का समाज, रचनाकार के समाज से प्रभावित होकर ही अभिव्यक्त होता है। इसका कारण उसके आस-पास के सम्पूर्ण समाज और परिवेश का उसके प्रति किया गया बर्ताव प्रमुख रूप से उत्तरदायी होता है। रचनाकार को अपने हृदय की अनुभूति के सन्दर्भों के समाज से परहेज कर अभिव्यक्त करना संभव नहीं है। अत: अनुभूति से अभिव्यक्ति जन्म लेती है। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय की अनुभूति का समाज भिन्न होता है इसीलिए एक ही बात को विभिन्न रचनाकार अपनी-अपनी निजी अनुभूति के द्वारा व्यक्त करते हैं जिससे किसी की अभिव्यक्ति प्रभावोत्पादक अधिक होती है किसी की कम।

रचनाकार के जीवन के उतार-चढ़ाव उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति के मील का पत्थर होते हैं। जो रचना में उसके द्वारा प्रसारित होते हैं। अनुभूति के बाहय प्रस्फुटन के लिये रचनाकार में एक प्रकार की प्रसव वेदना होती है जिसे आनंद की संज्ञा दी गई है। यही रचनाकार के भीतर बाह्य समाज के रूपांतरण की दशा होती है रचना की अभिव्यक्ति के समय ही व्यक्ति के हृदय में अनुभूतियां बाह्य समाज के रूप में तरंगायित होती हैं। साहित्य का जन्म पूर्णरूपेण समाज से ही संबंध रखता है, सामाजिक संदर्भों से ही रचनाकार के हृदय में जो अनुभव और घटनाएं संकलित हो जाती हैं वही साहित्य का रचना आधार ग्रहण करती हैं। समाज से, उसकी घटनाओं से, अनुभूतियों से दूर रहकर रचना की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। रचना के लिए रचनाकार का समाज दृष्टा के साथ-साथ समाज का भोक्ता होना भी आवश्यक है और यही स्थिति उसे समाज की वास्तविकताओं, सूक्ष्म संवेदनाओं और रहस्यों को समझने में सहायक होती है। जिसके फलस्वरूप उसकी बुद्धि और ज्ञान संपादित संशोधित होते रहते हैं और समाज अनुभूतियों के द्वारा रचना में दर्ज होता रहता है। रचनाकार अपने अनुभूतियों के चेतन प्रतिबिम्ब रचना में उद्घाटित करता है। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार "साहित्य मानव चेतना की जीवित प्रतिक्रिया है अत: वह समाज का प्रतिबिम्ब मात्र प्रस्तुत नहीं करता वरन् उसकी विवेचना करता है।"[11] अदोल्फो संकेज के अनुसार "महान कला मानव जीवन की सार्वभौम सत्ता की प्रतिष्ठा करती है।"[12]

"रचना (साहित्य) और समाज दो महत्वपूर्ण इकाईयां है और इन दोनों की पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया का मानव संवेदना के विकास में महत्वपूर्ण योगदान होता है।" रचना व्यक्ति की वह कलात्मक चेतना है जो शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त होकर आकार ग्रहण करती है और जिसमें भावसत्य और वस्तुसत्य दोनों को समान रूप से स्थान प्राप्त होता है। इस तरह व्यक्ति या रचनाकार के भीतर की समस्त अनुभूतियां रचना की प्रेरणा बन जाती हैं।

अनुभूति अभिव्यक्ति और सन्दर्भ अलग-अलग क्रियाएं हैं किन्तु इनका एक दूसरे से अभिन्न संबंध

है जो कभी टूट ही नहीं सकता। इस संबंध के अभाव में रचना का प्रणयन संभव नहीं। ये तीनों तत्व रचनाकार के व्यक्तित्व के द्वारा एक सूत्र में बंध जाते हैं वस्तु जगत या संदर्भ जगत क्षण-क्षण रचनाकार का भाव जगत बनता जाता है। जो विभिन्न प्रतीकों के द्वारा अभिव्यक्ति के माध्यम से रचना में उद्भूत होता है और अनुभूति को साकार करने की, व्यंजित करने की कोशिश करता है। जैसे निराला की 'सरोज स्मृति' में कवि का वस्तु जगत भाव जगत बनकर अभिव्यक्त हुआ है।

रचना में आत्माभिव्यक्ति -

डॉ. नगेन्द्र के अनुसार "साहित्य का मूल धर्म आत्माभिव्यक्ति है।" "आत्माभिव्यक्ति ही वह मूल तत्व है जिसके कारण कोई रचनाकार और उसकी रचना साहित्य बन पाती है।"[13]सीधी सी बात है साहित्य का संबंध दार्शनिक अतिवादों से नहीं है, साहित्य का संबंध सीधा जीवन से है। आत्माभिव्यक्ति अनेक रूपों में व्यक्त होती है इसमें आत्म की जो अभिव्यक्ति शब्द और अर्थ के माध्यम से व्यक्त होती है उसे साहित्य कहते हैं। रचनाकार भी एक व्यक्ति होता है जब वह व्यक्ति अपने अनुभवों को शब्द और अर्थ के द्वारा अभिव्यक्त करता है तो वह साहित्य का निर्माण करता है। इसमें अनुभूति शब्द और अर्थ का संबंध अनिवार्य और प्रमुख होता है। रचनाकार को आत्माभिव्यक्ति के सृजन में सृजन का सुख मिलता है अब वह रचना चाहे साहित्य की कृति हो या मूर्ति या चित्र यहां सभी में अभिव्यक्ति की स्थिति और प्रक्रिया एक ही होती है। श्रेष्ठ आत्माभिव्यक्ति को रचनाकार के व्यक्तित्व की पूर्ण सफलता माना गया है। आत्माभिव्यक्ति के लिए आवश्यक तत्वों में रचनाकार में भावनाओं की कोमलता, शक्ति सामंजस्य सूक्ष्म-ग्राहकता, अनुभूति क्षमता आदि होना जरूरी है।" साहित्य अपने शुद्ध रूप में अहं का विर्जन है।" इसलिए आत्माभिव्यक्ति की निश्छलता ही साहित्य का पहला और अनिवार्य लक्षण है। अत: समाज के व्यक्ति में और व्यक्ति के समाज में रूपान्तरित होने के साथ-साथ रचना में आत्म रूपांतरण भी होता है। जिसे आत्माभिव्यक्ति कहते हैं।

रचना किसी एक ही समय के, एक ही घटना के उद्वेग से रचित नहीं होती, बल्कि रचनाकार के अनेक अनुभवों,वस्तुओं,घटनाओं के सम्मिश्रण के फलस्वरूप व्यक्त होती है रचनाकार जिस घटना परिस्थिति और वस्तु के संबंध में जो नियति रखता है वह उसकी कृति में स्वत: ही स्थान पा जाती है अत: रचना में बाह्य जगत के साथ रचनाकार का निजी व्यक्तित्व भी सदैव मूर्तिमान होकर अभिव्यक्त होता है।

रचना की उत्पत्ति के संबंध में प्रसिद्ध आलोचक डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं कि "यह प्रेरणा व्यक्ति के अंतरंग अर्थात् उसके भीतर होने वाले आत्म और अनात्म के संघर्ष से उत्पन्न होती है।" कहीं बाहर से जान बूझकर प्राप्त नहीं की जाती। व्यक्ति का आत्मनिर्माण जिन प्रवृत्तियों से होता है उसमें कामवृत्ति का प्राधान्य है। अतएव व्यक्ति में होने वाला आत्म-अनात्म संघर्ष मुख्यत: काममय है। पश्चिमी मनोविज्ञानी फ्रायड, एडलर,युंग आदि ने तो रचना के मूल में कामवृत्ति को माना है उनके अनुसार"समस्त कलाओं की आधार भूमि काम की प्रवृत्ति का प्रस्फुटन है।" अत: समस्त कलाओं का मूल काम है। यह सर्वथा सत्य नहीं है। एक संवदेनशील व्यक्ति अपने आस-पास की प्रत्येक घटना के प्रति सजग होता है। वह अपने परिवेश से अभिन्न रूप से हृदय और बुद्धि दोनों रूपों में जुड़ा रहता है रचनाकार और उसका परिवेश उसकी आत्म अनुभूति में जीवंत होती है। रचनाकार प्रत्येक घटना, परिस्थिति से प्रभावित होकर अपने आत्मसंघर्ष को आत्माभिव्यक्ति के रूप में रचना में प्रकट करता है।

रचना और सृजनात्मकता -

साहित्य मानव जीवन की जातीय स्मृतियों का अंकन है, उसमें मनुष्य के इतिहास और उसके द्वारा किये गये समस्त सामाजिक क्रियाकलापों का लेखा-जोखा होता है। रचना मनुष्य की आत्मोपलब्धि है इसलिए वह मानवीय आचरण के सर्वोत्कृष्ट पक्ष को प्रस्तुत करती है। रचना रचनाकार के उच्चतर अनुभवों का कलात्मक प्रकाशन है।

साहित्य समाज से आता है और पुन: समाज को प्रभावित करता है। रचनाकार अपनी कृति के द्वारा जिस समानान्तर समाज की रचना में रचना करता है वह जीवन के प्रति उसकी सापेक्ष कल्पना दृष्टि है इसमें वह जिस समय की रचना में तल्लीन होता है उस समय के समाज मूल्यों का निर्धारण करता है।

साहित्य समाज का एक सांस्कृतिक अंग होता है। वह उस व्यवस्था से, समाज से प्रभावित होता है और उसे प्रभावित करता है। साहित्य का संबंध शब्द से है और शब्द स्रजन व्यापार का प्रारम्भिक बिन्दु है, शब्द से सृष्टि का जन्म हुआ है। जैसे नाद बह्म को सृष्टि का आरम्भ माना गया है।रचना की सर्जना सृष्टि की सर्जना से जुड़ी है, अग्निपुराण में तो कवि को 'ब्रह्म सहोदर' कहा गया है। संसार का रचनाकार ईश्वर है साहित्य का रचयिता मनुष्य है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यदि संसार एक सतत् कविता है तो उससे ही उद्भूत भाषागत कविता मनुष्य की सृजन चेष्टा का उच्चतम परिणाम है। यही कारण है कि कवि को प्रजापति का स्थान दिया गया है। यद्यपि कवि या साहित्यकार अपने मन के संसार रचने के लिए स्वतंत्र है। परन्तु काव्य की सृजनात्मक शक्ति सामाजिक दृष्टि से ही प्रौढ़ होती है।

साहित्य की समस्त सृजनात्मक शक्तियां समाज से ही प्रस्फुटित होती है। रचनाकार तो मात्र एक माध्यम होता है वह सामाजिक गतिविधियों, क्रिया-कलापों को यद्यपि स्वयं भोक्ता बनकर अपने कला माध्यमों के द्वारा प्रस्तुत करता है, किन्तु उसकी रचना निरी वैयक्तिक नहीं रहती। उसके अनुभव उसकी संवेदना उसकी भाषा सामाजिक चेतना से परिपूर्ण होते हैं, इसी कारण रचना में सम्प्रेष्णीयता का गुण आता है और इसी कारण उसकी रचना समाज की होती है। सृजनात्मकता का लक्ष्य भी प्रमुखता नही होता है कि वह व्यक्ति द्वारा रची जाकर समाज के आस्वादन योग्य हो और समाज उसमें अपना अनुभव तलाशने लगे। इस तरह रचना व्यक्ति की होते हुए भी समाज की बन जाती है। संवेदना, शिल्प और भाषा इन तीनों स्तरों पर रचना समाज की सृजनात्मक शक्तियों से पूर्ण होती है। अनुभूति मनुष्य का नेसर्गिक और प्रकृति प्रदत्त गुण है इसलिए वह दूसरे के अनुभव जगत को विस्तारित करके अपनी व्यक्तिगत सीमाओं से मुक्ति करके उसे व्यापक समाज के अनुभव जगत में प्रवेश कर सकता है और अपने अनुभव जगत को विस्तारित करके अपनी व्यक्तिगत सीमाओं से मुक्त करके उसे व्यापक समाज के अनुभव जगत का हिस्सा बना सकता है। असल में अभिव्यक्ति प्रक्रिया का मुख्य काम अनुभव और विचार को अधिक सार्थक और प्रभावी बनाना है। सृजन करता हुआ रचनाकार अनुभव और विचार के माध्यम से सार्थक सघन एवं प्रभावी रचना प्रस्तुत करना चाहता है। रचनाकार अपने चारों ओर के जीवन से प्रभावित हुये बिना नहीं रह सकता। रचनाकार जिस जीवन को अपने चारों ओर हिलोरें मारता हुआ देखता है उसी से वह प्रेरणा पाता है उसका संसार कोई अदृश्य संसार नहीं है। अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हुए भी उसकी भावनाओं का संसार निरंतर बाह्य जगत की घटनाओं से प्रतिध्वनित होता है।

भावानुवेश की क्षमता सृजनात्मकता से ही संभव होती है व्यक्ति की सीमाओं को लांघकर समष्टि में समाहित होना ही सृजनात्मकता का अनिवार्य लक्षण है जरूरी केवल यह है कि लेखक का व्यक्तित्व सांस्कृतिक दृष्टि से सम्पन्न हो। ऐसी सम्पन्नता वही लेखक पा सकता है जिसकी जीवन के प्रश्नों में गहरी रूचि हो, जिसमें तीखी और बड़ी जिज्ञासायें हों और जिसमें प्रश्नों का समाधान पाने की छटपटाहट हो। रचना संवेदना की सृजनात्मकता में सामाजिक अनुभव बन जाती है, साहित्य मनुष्य को अकेला नहीं रहने देता मनुष्य साहित्य के माध्यम से निरंतर आत्मविस्तार करता रहता है, अपने आत्मविस्तार की प्रक्रिया में वह निरंतर समाज के करीब आता जाता है। सृजन से पहले आकांक्षा जागृत होती है। फिर प्रसव वेदना, सृजन में भावना का दबाव पड़ता है जो रचनाकार की सामाजिकता का प्रतिफलन होती हैं सृजन वैयक्तिक नहीं सामाजिक होता है।

साहित्य में सामाजिक मूल्य -

मुक्तिबोध के अनुसार " जो परिवार के मूल्य होंगे वे जीवन में होगें और साहित्य में भी उतरेंगे हां यह सही है कि साहित्य में आकर इनकी रूप रेखा बदल जायेगी लेकिन उनके तत्व कैसे बदलेंगे। जिन्दगी के जो रूप है,जो रवैये हैं, जो एटीट्यूट्स हैं वे साहित्य में अवश्य प्रकट होंगे।" [14]

इस प्रकार मुक्तिबोध ने साहित्य को मूल्य समन्वित रचना माना है साहित्य के रास्ते ही जीवन के तत्व और मूल्य की अभिव्यक्ति ग्रहण करते हैं।" साहित्य आवश्यक रूप से सामाजिक जीवन से प्रेरित और संबद्ध होता है।" इसी के द्वारा जीवन के मूल्य साहित्य में स्थान पाते हैं। साहित्य में सामाजिक मूल्यों को समकालीन राजनीति, अर्थ, धर्म तथा संस्कृति भी गहरे स्तर पर प्रभावित करते हैं। आज का युग

विज्ञान का युग है विज्ञान ने मानव जीवन में अभिन्न जगह बना ली है इसलिए विज्ञान का भी सामाजिक और साहित्यिक परिवेश पर असर होना स्वाभाविक है। मूल्य भी दो प्रकार के होते हैं व्यावहारिक मूल्य और आदर्श मूल्य। इनमें व्यावहारिक और सामाजिक मूल्य साहित्य के मूल्यों का रूप धारण करते हैं अत: कहा जा सकता है कि साहित्य के मूल्य जीवन और समाज के मूल्यों के समानान्तर चलते हैं। किन्तु मूल्यों की निर्माण संस्था समाज ही है रचनाकार इन मूल्यों का परीक्षण परिशोधन करके उनके परिष्कृत रूप को रचना में अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

रचना और बाह्य संसार -

बाहर का संसार ज्यों ही हमारे भीतर प्रवेश करता है वह एक दूसरे ही संसार में परिवर्तित हो जाता है। इस दूसरे जगत में बाहर के जगत के विभिन्न रूप रंग और ध्वनि आदि ही नहीं होते हैं अपितु उसमें व्यक्तिगत रूचि हमारा अच्छा बुरा अनुभव, हमारा भय, विस्मय और हमारा सुख-दुख आदि भी उसमें शामिल हो जाता है। यह बाहर का संसार हमारे मानसिक भावों के साथ मिलकर अनेक रूपों में प्रकाशित होता है। जिसे हम कविता या रचना या साहित्य कहते हैं। रचनाकार अपनी बाह्य संसार को अपनी मानसिक भावनाओं में जब आत्मसात् कर उनसे एकाकार कर उन्हें पुन: अभिव्यक्त करता है जिसमें वह स्वयं भी व्यक्त होता है। जिस तरह जिनके उदर में पाचक रस पर्याप्त मात्रा में नहीं होता वे खाद्य पदार्थ को अच्छी तरह अपने शरीर की वस्तु नहीं बना सकते। उसी तरह जिनके हृदय की भावनाओं में आत्मसात करने की शक्ति पर्याप्त मात्रा में नहीं होती वे बाह्य जगत को अंदर का जगत, अपना जगत अर्थात मानुषीय जगत नहीं बना सकते। ऐसी स्थिति में व्यक्ति के भीतर रचना के मूल में बाह्य समाज का रूपांतरण तो संभव है ही नहीं बल्कि स्वयं व्यक्ति का भी रचना मे अभिव्यक्त होना संदिग्ध रहता है। प्रत्येक रचनाकार की अनुभूति और अभिव्यक्ति का कैनवास भिन्न होता है। रचनाकार के हृदय में बाहर का समाज और प्रकृति जिस सीमा तक ध्वनित होती है रचना भी उसी परिधि में विचरण करती है। अत: साहित्य एक प्रतिभाशाली व्यक्ति के मुक्त का उत्कृष्ट लिपिबद्ध लेखा है। जो उसके निजी व्यक्तित्व के साथ-साथ समकालीन समाज के सन्दर्भों, प्रकृति से उसके संबंधों को रचना के रूप में अभिव्यक्ति प्रदान करता है।"व्यक्तिगत साधना को भी सामूहिक साधना में बदल देने का कार्य साहित्य करता है।" रचना केवल कहना या अभिव्यक्त करना ही नहीं बल्कि सन्दर्भों को अपना बनाकर हृदय और मस्तिष्क के साथ उसका योगकर अभिव्यक्त करना है। साहित्य समूचे और सर्व सामान्य मनुष्य से संबंध रखता है। रचनाकार का मनुष्य होना ही इस बात के लिए पर्याप्त है कि रचना का संबंध मनुष्य से होता है। क्योंकि रचनाकार भी प्रकृति का एक अभिन्न अंग है। मनुष्य प्रकृति और समाज से अलग होकर रचना करना संभव नहीं है। क्योंकि आध्यात्म की सत्ता भी मनुष्य, प्रकृति और समाज से पूर्णत: अलग नहीं होती। इस प्रकार रचना जीवन और जगत की क्रीड़ा स्थली होती है जिसमें रचनाकार अपनी जीवनानुभूति और जगत से बचकर नहीं निकल सकता। रचना का बीज रचनाकार के हृदय में अंकुरित होकर फलीभूत अवश्य होता है किन्तु वह खाद-पानी, प्रकृति और समाज से ही प्राप्त करता है।

निष्कर्ष -

समाज की सबसे छोटी इकाई परिवार है और परिवार की सबसे छोटी इकाई व्यक्ति। अत: व्यक्ति परिवार और समाज दोनों का केन्द्र बिन्दु है इसलिए व्यक्ति, परिवार और समाज दोनों का सदस्य होता है और दोनों से गहरे स्तर पर प्रभावित भी होता है। परिवार और समाज के मूल्य और मान्यताएं, आवश्यकताएं, और कठिनाइयाँ, उत्तरदायित्व, अधिकार और कर्तव्य, प्रेम और स्नेह, दया, घृणा और जुगुत्सा, हास-परिहास विनोद, विसंगतियां और विरोध,अभाव आदि एक व्यक्ति के स्तर पर रचनाकार के जीवन को भी प्रभावित करते हैं,और रचनाकार की अनुभूति का कारण बनते हैं। उपरोक्त कारकों को संतुलित निर्धारित करने का कार्य संस्कृति और साहित्य का है। संस्कृति और साहित्य दोनों परिवर्तनशील होते हैं। साहित्य अन्य कार्यों के अलावा समाज और संस्कृति के पहरेदार की भूमिका भी निभाता है समाज का सत्य व्यक्ति सत्य से टकराकर अभिव्यक्ति का कारण बनता है। इसलिए रचनाकार का संघर्ष अप्रत्यक्षत: समाज के मूल्यों, मान्यताओं और विषमताओं, विसंगतियों का संघर्ष बन जाता है। जैसे निराला,

मुक्तिबोध, धूमिल, रघुवीर सहाय, दुष्यंतकुमार आदि आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रमुख कवियों की रचनाओं में इस संघर्ष ने मार्मिक और तीखी अभिव्यक्ति पायी है।

रचनाकार यदि जीवन के उज्जवल पक्षों को रचना में अभिव्यक्ति देता है तो उसके यहां जीवन की विद्रूपतायें और विसंगतियां भी अभिव्यक्ति पाती हैं। (मुहरों की लालच मे लिखे गये रीतिकालीन साहित्य के कुछ भाग को छोड़कर) सामान्यत: रचनाकार जो देखता है अनुभूत करता है, उसको अपनी समझ के धरातल पर हृदय और बुद्धि से एकाकार कर भरसक सच लिखने या रचने की कोशिश करता है और अपनी क्षमता भर वह अनुभूति को शब्दों मे परिवर्तित करता है। यही वह प्रक्रिया है जहां रचना में व्यक्ति के साथ समाज का आवश्यक रूपान्तरण होता है क्योंकि रचना आती भी समाज से ही है और जाती भी समाज में ही है। रचनाकार अप्रत्यक्षत: कुछ सवालों से भी जूझता है जैसे क्या है ? क्यों हो रहा है ? क्या हो सकता है ? और क्या होना चाहिए ? इन्हीं सब प्रश्नों के भीतर आवश्यकतानुसार समाज और व्यक्ति रचनाकार में घटित होता है। इस प्रकार रचित समाज में रचनाकार के भीतर का समाज साकार हो उठता है, यह समाज रचनाकार के भीतर धीरे-धीरे एकत्रित होता है और आवश्यकता पड़ने पर अनुभव के रूप में जाग उठता है, यह वह समाज है जो उसने भोगा है, जाना है, अत: व्यक्ति की अंत: और बाह्य प्रतिक्रियाएं मिलकर एक नये रचनाकार के दूसरे समाज का निर्माण करते हैं जो वास्तविक समाज का आदर्श समाज होता है।

अत: जीवन और जगत की प्रत्येक अनुभूति रचनाकार व्यक्ति के मनोमस्तिष्क पर अपने प्रभाव अंकित करती है यही प्रभाव रचना के कारण बनते हैं। समाज संस्कृति और समय के दायरे में रचनाकार का जीवन विचरण करता है,इसलिए रचना का इनसे बचकर निकलना मुश्किल है । आदिकाल रीतिकाल,भक्तिकाल, छायावाद और आधुनिक (हिन्दी काव्य, उपन्यास, नाटक और कहानी) साहित्य युगों की रचनाओं पर तत्कालीन समाज और संस्कृति के प्रभाव स्पष्ट देखे जा सकते हैं।

रचनाकार रचना में अपने समय और समाज से असहमति के कारण ही अपने से बहुत आगे और बहुत पीछे तक के समय को अपने भीतर अनुभूत कर घटित होते देख लेता है, रचना इसी असहमति का पॉजेटिव परिणाम है।

अत: इस विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि रचना में व्यक्ति तथा व्यक्ति में समाज का रूपांतरण होता है। समाज में रचनाकार का रूपांतरण नहीं होता। रचनाकार में समाज का रूपांतरण होता है जो रचना के प्रणयन में व्यक्ति के रूपांतरण के साथ अभिव्यक्ति पाता है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची -

१. नगेन्द्र/निबंध नवनीत/पृष्ठ-६२
२. जय श्री शुक्ला/साठोत्तर हिन्दी नाटकों की सामाजिक चेतना/पृ. १०
३. वही /पृ. २९
४. देवेश ठाकुर/साहित्य की सामाजिक भूमिका/पृ. ३४-३५
५. वही/पृ.३५
६. अज्ञेय/साहित्य का परिवेश/पृ. १०४-१०५ (नेशनल पब्लिशिंग हाऊस १९८५)
७. वही /पृ. १०५
८. रत्नाकर पाण्डेय/आधुनिक हिन्दी साहित्य में सामाजिक चेतना/भूमिका
९. हजारी प्रसाद द्विवेदी/साहित्य सहचर/भूमिका
१०. रामकुमार वर्मा/साहित्य शास्त्र/भूमिका
११. निबंध नवनीत/६२
१२. जयश्री शुक्ला/साठोत्तर हिन्दी नाटकों की सामाजिक चेतना/पृ.१०
१३. डॉ. नगेन्द्र/निबंध नवनीत/पृ.६३
१४. देवेश ठाकुर/साहित्य की सामाजिक भूमिका/पृ. ७२

अध्याय - 4

अशोक वाजपेयी के कविता संसार पर एक विहंगम दृष्टि

चालीस वर्षों में फैला अशोक वाजपेयी का रचना संसार स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में उसके चालू मुहावरों, मान्यताओं और प्रसिद्धि के दायरों से सर्वथा अलग और अनोखी पहचान का रहा है। समकालीन हिन्दी कविता में अशोक वाजपेयी के काव्य संग्रह "इस सब कुछ को लीलती सार्वजनिकता के विरूद्ध निजीपन, आत्मीयता और अंतरंगता के पक्ष में एक अथक सत्याग्रह की तरह हैं।"[1] "शब्द के प्रति उदासीन और भाषा से लापरवाह समय में अशोक वाजपेयी शब्द की अदम्यता,असमाप्यता और पवित्रता के कवि हैं।"[2] अपने समय और समाज का बखान करने और उसे कविता संसार में शामिल करने का उनका अंदाज निराला है, चालू कविता के बहाव में वे बहे नहीं हैं ,डटे रहे हैं। अशोक वाजपेयी के यहां कविता, पोस्टर, नारा, चीख या पुकार नहीं है उसके स्थान पर "उनके यहां प्रेम और रति में, आसक्ति और जिजीविषा में, प्रकृति और भाषा में, उसमें चरितार्थ मानवीय रिश्तों में समय और समाज की अधिक सूक्ष्म, प्राय: अप्रत्यक्ष और विचार मौलिक उपस्थिति है।"[3]

अशोक वाजपेयी की रचना यात्रा उन्हीं के अनुसार 1950 में पहले गणतंत्र दिवस पर चार पंक्तियों की तुकबंदी से अंकुरित होकर आरम्भ होती है। पहली बार उनका छोटा सा और पहला गद्य काव्य ग्वालियर से हरिहरदास द्विवेद्वी की पत्रिका 'भारती' में छपा। तत्पश्चात् उनकी पहली कविता - "द्वारिका प्रसाद मिश्र की पत्रिका 'सारथी' में छपी थी।"[4] इस पत्रिका में उन दिनों मुक्तिबोध, श्रीकांत वर्मा जैसे लोगों की रचनाएं छपती थी। इसी समय अशोक की एक कविता बंबई से प्रकाशित साप्ताहिक धर्मयुग में छपी। मुक्त छंद में लिखी पहली कविता हरिशंकर परसाई की 'वसुधा' से प्रकाशित हुई। फिर तो अशोक वाजपेयी की कविताओं के छपने का सिलसिला जैसे टूटा ही नहीं, 1957 में तो वे देश की श्रेष्ठ पत्रिकाओं में प्रकाशित अपनी कविताओं के कारण साहित्यकारों की चर्चा का विषय बनने लगे। इस समय तक अशोक की कविताएं कल्पना, ज्ञानोदय, सुप्रभात, राष्ट्रवाणी और युग चेतना आदि प्रसिद्ध पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी थी।

"1956-57 के आस-पास हिन्दी में नये साहित्य का संघर्ष अपने शिखर पर था।"[5] इसी समय अशोक वाजपेयी ने 'समवेत' निकाला, जिससे उनकी समीक्षा आलोचना की शुरूआत हुई और यह क्रम आज तक 'समास' और पूर्वग्रह (102) द्वारा जारी है। अशोक वाजपेयी सबसे ज्यादा चर्चा में तब आये जब उन्होंने समकालीन कविता के हस्ताक्षरों की कविताएं पहचान सीरीज के माध्यम से (1970-74)प्रकाशन का सिलसिला आरम्भ किया।'पहचान सीरीज' के प्रथम अंक में विष्णु खरे, जितेन्द्र कुमार, और ज्ञानेन्द्रपति के पहले कविता संग्रह,शमशेर बहादुर सिंह की षष्ठिपूर्ति पर उनकी नयी कविताएं और उनके काव्य पर रमेशचन्द्र शाह का लेख तथा सीधी (म.प्र.) में आयोजित लेखक शिविर में पढ़े गये श्रीराम वर्मा, निर्मल वर्मा, और मलयज के निबंध प्रकाशित हुए थे।

इस प्रकार अशोक वाजपेयी की रचना यात्रा का आरम्भ तो छठे दशक के आरम्भ में ही हो गया था। किन्तु रचना में परिपक्वता और भाव संप्रेषण छठे दशक के लगभग अंत में ही आकार ग्रहण करता है। स्वयं अशोक वाजपेयी ने कल्पना,ज्ञानोदय,सुप्रभात,राष्ट्रवाणी और युग चेतना में प्रकाशित अपनी कविताओं को बहुत ही खराब, निन्दनीय कविताएं कहा है। रघुवीर सहाय के संपादन काल में कल्पना में छपी तीन कविताएं (1958)उनकी फुटकर कविताओं में श्रेष्ठता की श्रेणी में आती हैं, जो बाद में उनके पहले कविता संग्रह में भी संग्रहीत हैं।

यह वह समय था जब साहित्य और समाज में स्वतंत्रता के लिये किये गये संघर्ष का पसीना भी नहीं सूखा था कि आजादी के संघर्ष में संजोए गये स्वप्न धूल-धूसरित होने लगे थे। चीन युद्ध से नेहरू युग के विकास, वैभव और समाजवाद आदि शब्दों के अर्थ छिन्न-भिन्न हो गये, परिणामस्वरूप हिन्दी कविता

में एक बड़े बदलाव की जो चिनगारी सुलग रही थी मोहभंग के कारण पूरी तरह फट पड़ी। साठोत्तरी हिन्दी कविता मोहभंग, निराशा, अविश्वास और आक्रोश के धरातल पर खड़ी दिखाई देती है। किन्तु अशोक वाजपेयी ने तो पहचान सीरीज के आरम्भ ही घोषणा कर दी थी "कि वे कविता में बड़बोलेपन और छद्म विद्रोह के खिलाफ है, राजनीति से इनको सरोकार है पर संगठित राजनैतिक दलों से नहीं।"[6]

साहित्य के मूल्य और मान्यताएं मानव मूल्यों की तरह शाश्वत हैं। किन्तु इनका आवरण समय के साथ परिवर्तित होता रहता है। छायावाद के उपरांत प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के बाद 1954 में जगदीश गुप्त द्वारा सम्पादित 'नयी कविता' से नयी कविता एक पुख्ता आंदोलन ग्रहण करती है। नयी कविता में (1964) तार सप्तक के प्रकाशन से लगातार बदलाव की लहर चलती आ रही थी, इसमें साठोत्तर में भारी फेरबदल सामने आया। यह परिवर्तन शिल्पगत और काव्यगत दोनों स्तरों पर दिखाई देता है। नयी कविता में इस समय जहां पीड़ा थी मूल्यों के टूटने का दर्द था, भविष्य के प्रति आशा और विश्वास की पतली रेखा थी। साठोत्तर कविता में विद्रोह में बदल गयी। देश की सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक परिवेश की कुरूपता ने कवि के मन में विद्रोह की आग सुलगाई। "स्वतंत्रता के बाद का पूरा युग ही लगभग बैचेनी का युग है और अधिकांशत: मोहभंग के पश्चात् यही बैचेनी हिन्दी काव्य में प्रमुखत: से अभिव्यक्ति हुई।"[7] इस समय धूमिल जैसे कवियों पर कल्पना में सतीश जमाली ने तीखी भाषा में लिखा था, "मुझे तो ऐसा भी लगा कि धूमिल जैसे लोग कवि तो हैं ही नहीं किन्हीं विज्ञापन कम्पनियों के एजेन्ट हैं यदि ऐसे लोगों में प्रतिभा नहीं है तो यह जरूरी नहीं कि वे लेखक बने रहें, वे कोई और धंधा भी कर सकते हैं।"[8]

साठोत्तरी कविता पीढ़ी के पूर्व के जो विद्रोही लेखक थे उनके विद्रोह के स्वर में वह सब कुछ सम्मिलित था जिसे सही अर्थ में विद्रोह की संज्ञा दी जा सकती है। वे कवि अपने विद्रोह को पंक्तियों में उभारते हुए अपने परिवेश और अपने आस-पास का सही प्रतिनिधित्व करते थे। ऐसे कवियों की रचनाओं में प्रामाणिक तत्व मिल जाते हैं, और उनका भोगा यथार्थ भी। मोहभंग के पश्चात् की कविता ने अनगिनत रूप और रास्ते पकड़े किन्तु शब्दों की उठापटक ,चीख, शोर-शराबे, जीभ और जांघ के भूगोल से आगे नहीं बढ़ सकी, इस तरह वह तूफान धीरे-धीरे दूसरी और मुड़ गया।

इसी आक्रोश विद्रोह और निराशा के चरम की कविता के समय नयी कविता में सब कुछ ठीक हो जाने की संभावनाएँ लिये अशोक वाजपेयी का पहला कविता संग्रह 'शहर अब भी संभावना है' 1966 हिन्दी कविता के क्षितिज पर अवतरित हुआ। अशोक वाजपेयी ने जिन संभावनाओं की आधार शिला रखी उसकी समकालीन आलोचना में खूब चर्चा हुई है।

विद्रोह को लेकर जो रचनाएं इस बीच सामने आयीं वे (कल्पना 210 वे अंक में सतीश जमाली के लेख के अनुसार) निन्यानवें प्रतिशत विदेशी कविताओं के प्रभावस्वरूप आयीं। अत: आक्रोश, विघटन, संत्रास, तनाव जैसे शब्द भी कविता में आयात की देन स्वरूप आये। इस काल में बंगला के रास्ते खूब विदेशी कविता की हिन्दी कविता में तस्करी हुई। जिसके फलस्वरूप हमारे यहां अस्वीकृत पीढ़ी, विद्रोही पीढ़ी, अकविता पीढ़ी, शमशानी पीढ़ी, भूखी पीढ़ी, जैसी अनेकों पीढ़ियां सामने आयीं। किन्तु इस दौर में भी जो लोग शुद्ध सृजन का रास्ता अपनाये रहे उनमें अशोक वाजपेयी, रघुवीर सहाय, विष्णु खरे, विनोद कुमार शुक्ल, चद्रकांत देवताले, शमशेर बहादुर आदि प्रमुख थे।

अशोक वाजपेयी के अब तक निम्न काव्य संग्रह प्रकाशित हुए हैं -

1. शहर अब भी संभावना है (1966)
2. एक पतंग अनन्त में (1984)
3. अगर इतने से (1986)
4. तत्पुरूष (1989)
5. कहीं नहीं वहीं (1991)
6. बहुरि अकेला(1992)
7. थोड़ी सी जगह (1994)

8. घास में दुबका आकाश (1994)
9. होना पृथ्वी न होना आकाश (1994)
10. आविन्यो(1995)

हिन्दी कविता में पहचान -

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन से 1966 में प्रकाशित कविता संग्रह अशोक वाजपेयी का पहला काव्य संग्रह था। जिससे हिन्दी कविता में उनकी पहचान हुई। इस काव्य संग्रह में विभिन्न विषयों पर लिखी उनकी इक्यावन कविताएं प्रकाशित हैं। जिन पर हिन्दी साहित्य में खूब चर्चा हुई है। 'शहर अब भी संभावना है 'के प्रकाशन पश्चात् वे शीघ्र ही हिन्दी काव्य और खासतौर से समकालीन हिन्दी कविता के सशक्त हस्ताक्षरों में गिने जाने लगे। डॉ. कांतिकुमार ने अपने 'नयी कविता' ग्रंथ में अशोक वाजपेयी को मुक्तिबोध मण्डल के कवियों में शामिल किया है यह मोहभंग का समय था। इस समय कविता में असहमति, विद्रोह और आक्रोश के स्वर फूट रहे थे। ''साठोत्तरी पीढ़ी की एक और प्रवृत्ति रही है जिसमें नयी कविता से असहमति का वैचारिक मुद्दा उतना नहीं उठा, जितना कथ्यविस्तार, काल बद्धता, अनुभव की तीव्रता और उसकी शब्दावली के खिलाफ प्रासंगिक शब्दावली के प्रयोग का आग्रह था।''[9] ऐसे कवियों में श्रीकांत वर्मा, अशोक वाजपेयी, प्रयाग शुक्ल, श्रीराम वर्मा, विष्णु खरे आदि थे। सोमदत्त, नीलाभ, कुमार विकल, आग्नेय, भगवत रावत जैसे कुछ नाम और थे जो कविता से प्रतिबद्धता की मांग करते हुए उत्तेजना और रोमान से मुक्त कविता लिखते थे। अशोक वाजपेयी व्यापक रूप से किसी आंदोलन में शामिल नहीं हुए।''इस समय साठोत्तरी कविता ही नहीं बल्कि समूचा साठोत्तरी साहित्य ही मोहभंग और आक्रोश की अभिव्यक्ति से भर गया था, इस माहौल में 'शहर अब भी संभावना है' के लिये अशोक वाजपेयी को आलोचकों ने संभावना का कवि कहा है।''[10] युवा कवि होते हुए भी उस समय के प्रभाव से विपरीत उनकी कविता में युवोचित आक्रोश अथवा आवेश, विद्रोह का सम्पूर्ण अभाव दिखाई देता है। इस संदर्भ में कहा गया है कि ''ये ऐसी कविताएं हैं जो मानवीय होने के अनुभव और तनावों को आत्मीय स्तर पर परिभाषित तो करती ही हैं, दुनिया के सारे विनाश के विरूद्ध कुछ गहरे मानस संबंधों में अर्थ और संभावना की लगातार खोज भी करती हैं।''[11] इसी खोज ने इन कविताओं को जन्म दिया है जो बिना शोर मचाये वहां शब्द रखने का प्रयास करती हैं जहां वे पहले नहीं रहे थे। निराशा, विद्रोह और आक्रोश की कविता के विरूद्ध उस समय अशोक वाजपेयी ही एक ऐसे व्यक्ति है जिन्होंने तात्कालिक कविता की तेज तूफानी धारा के विरूद्ध प्रेम और आसक्ति से रिक्त होते स्थान पर शब्द रखने की हिम्मत की। उनकी कविताओं में यह तथ्य स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है -

अंतरिक्ष को प्रेम जैसे
एक संक्षिप्त अनन्त में ढालते हुए
वहां क्या मैं रख सकता हूँ शब्द
उनका कोई संयोजन जो काव्य हो सके

(शहर अब भी संभावना है/88पृ.)

स्वतंत्रता के पश्चात् की हिन्दी कविता में आधुनिकता का बोध इस काल की आवश्यकता के विपरीत दिखाई देता है। साथ ही इसमें पर्याप्त अंतर भी स्पष्टत: नजर आता है। समूचे स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी काव्य में आधुनिकता का बोध कभी व्यंग्य शैली में मिलता है तो कभी कोलाज की चित्र शैली में। इसमें अवचेतन की असम्बद्ध स्थितियों का चित्रण है। श्याम परमार ने तो इसे आजमाने की कोशिश भी की है और उनका दावा है भीतर का बिखराव कविता में खण्डित बिम्बों को अपनाता है। इसलिए वे मुक्तिबोध तक को बीता हुआ मानते हैं। बिम्ब एक दूसरे के करीब विसंगतियों में आते हैं इसीलिए काव्य बिम्ब और बिम्ब कविता का विरोध हुआ है और सपाटबयानी को महत्व मिला ''यह बाहर भीतर का बिखराव नगर बोध की उपज अशोक वाजपेयी की दृष्टि में 'शहर अब भी संभावना है 'और कोलाजियों के अनुसार यह मौजूद है।''[12]अशोक वाजपेयी की कविता इसलिए आधुनिकता का दिशा संकेत लिए हुए है इसे ठण्ड की एक शाम पागल औरत कविता में आंका जा सकता है - यह औरत कहीं जाना चाहती है

ठीक वैसे जैसे साठोत्तरी कविता -

मैं कहीं जाना चाहती हूँ
मैं एक बंगले में घुस आई हूँ
मेरे पास एक दिल है
जो किसी के साथ रहना चाहता है
मेरे पास एक भाषा है
जो किसी युवा कवि के हाथों रचना चाहती है
और मैं कहीं जाना चाहती हूँ .....।

(शहर अ.भी.सं./44/45)

'आधुनिकता और सृजनात्मक साहित्य' ग्रंथ में इन्द्रनाथ मदान ने लिखा है "इस कविता (पागल औरत)में अगर निश्चित दिशा संकेत नहीं है, तो कहीं जाने का संकेत अवश्य है। ठहरने से परहेज है। इस तरह लोगों को घेर लेने और युवा कवि को पाने की चाह में मानवीय बोध अशोक वाजपेयी को आधुनिकता का बोध कराता है। इसलिए अराजकता, मृत्यु, दृष्टिहीनता, दिशाहीनता आदि के बोध से बच निकलने की वह सलाह देते हैं।"[13] मेरी राय में 'शहर अब भी संभावना है' के अशोक वाजपेयी की एक 'पागल औरत' का संकेत समकालीन कविता की ओर है जो तमाम मुहावरों से बचकर निकलना चाहती है, और एक युवा कवि के हाथों में संवरना चाहती है। जिसकी संभावना लिए हुए अशोक वाजपेयी हिन्दी कविता में दाखिल होते हैं और उन सभी अनुपस्थितियों के स्थान पर वे शब्द रखने का दुस्साहस करते है जहां कभी स्पर्श था, हाथ थे, कुछ लोग थे, कुछ चीजें थी जिनकी रिक्तता में शब्द रखने की पर्याप्त कोशिश अशोक वाजपेयी अपनी आरम्भिक कविताओं से करते आ रहे हैं, जैसे यह उनकी कविता-

मैंने दुखी होकर देनी चाही अपनी करूणा
तो याद आए वे हाथ
जो अभी थोड़ी देर पहले उनमें थे,
उनसे जुड़ा वह शरीर जो प्रतिफलित हो चुका है
एक और शरीर में
फिर मुझे मिल गये कुछ शब्द
जिन्हें मैं वहां रख सकता था
जहां पहले वे हाथ थे .....

(शहर अ .भी.सं.है।)

समकालीन कविता के संदर्भ में एक बात तो साफ है कि मनुष्य के लिए मनुष्य का खतरा अधिक है। किन्तु इस स्थिति के बावजूद अशोक वाजपेयी अपने को इस खतरे में शामिल नहीं करते बल्कि वहां खुले धरातल पर कुछ संभावनाएं लिए जीवन की वकालत करते हैं। वे अपने को इस घर्षण से बचाते हुए संवेदनशीलता को सुरक्षित रखते हैं, शब्द को संघर्ष के स्थान पर कोमलता से रखते हैं और आशा विश्वास के साथ जीवन की विसंगतियों में सब कुछ ठीक हो जाने की संभावना लिये हिन्दी कविता के धरातल पर 'शहर अब भी संभावना है' अपने पहले काव्य संग्रह से ही गहरी पैठ बनाते हैं। 'शहर अब भी संभावना है'समकालीन कविता में एक दस्तावेज की तरह अवतरित होता है।

अशोक वाजपेयी की कविताओं में प्रेम -

समकालीन हिन्दी कविता के क्षितिज से ऐसे समय जब प्रेम और श्रंगार लगभग अपदस्थ हो चुका है अशोक वाजपेयी ने अपनी कविताओं के केन्द्र में उसे जगह दी है। अशोक वाजपेयी की कविताओं मे "प्रेम की अनेक सूक्ष्मताएं खड़ी बोली में इन कविताओं के माध्यम से पहली बार कविता के परिसर में प्रवेश करती हैं "[14]अशोक वाजपेयी ही मुक्तिबोध और अज्ञेय के बाद की समूची पीढ़ी में एक मात्र ऐसे कवि हैं जिनकी कविता में बहुत गहरे स्तर पर एक तरह की श्रृंगारिक संवेदना है। यह संवेदना केवल इस बात से प्रमाणित नहीं है कि उन्होंने अनेक श्रृंगारिक कविताएं लिखी हैं बल्कि जब मैं संवेदना शब्द का

इस्तेमाल कर रहा हूँ तो कुछ कुछ उसी अर्थ में जिस अर्थ में मैं यह कह सकता हूँ कि शमशेर की कविता बहुत गहरे स्तर पर चाक्षुष संवेदन की कविता है किन्तु अशोक वाजपेयी की कविता आरम्भ से ही स्पर्श संवेदन को सक्रिय और बध्य बनाती है।"[15]

आज का दिन पूरा का पूरा बसन्त है
और तुम एक वृक्ष हो
अपनी हर उग सकने वाली पत्ती के
और अपने हर खिल सकने वाले फूल के साथ
और सिर्फ इतनी झुकी हुई
कि मैं तुम्हें उठगकर छू सकता हूँ .....

(बसन्त दिन/श.अ.भी.सं.है/18)

साठोत्तर हिन्दी कविता के चालू मुहावरों से कोसों दूर अशोक वाजपेयी कविता में एक भरे पूरे प्रेम की आधार शिला रखते हैं। वे जीवन से भागकर किसी एकान्त में जाकर प्रेम नहीं करते "बल्कि इसी अच्छी बुरी दुनिया में अपने लिए थोड़ी सी जगह पाने की दुर्लभ कोशिश करते हैं।"[16] जो उनकी असमाप्य जिजीविषा का प्रमाण है।

समकालीन कविता के पटल से हासिये पर फेंक दिये जाने वाले उस शाश्वत प्रेम को जो जीवन का, संसार का मूलाधार है अशोक वाजपेयी उसके लिए जीवन के लिए थोड़ी सी जगह मांगकर नारों, चीखों और पोस्टरों के भयावह समय में प्रेम को स्थापित करने की सार्थक पहल करते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि प्रेम का पर्याय है, प्रतीक है। सम्पूर्ण प्रकृति मे प्रेम ही ऐसा सर्वव्याप्त तत्व है जो जड़ चेतन में एक सा ध्वनित होता है। वे प्रेम के लिए इस बृहत संसार में थोड़ी सी जगह हर कहीं चाहते हैं।

आकाश गंगाओं के तुमुल के बीच
थोड़ी सी जगह,
थोड़ी सी जगह
चट्टानों के बीच,
जड़ें जमाने और फिर
आकाश की ओर जाने के लिए
अन्तिम शब्द और
मौन के बीच
फूल से फल होकर
टपकने से पहले
ओस गिरने
ठंड में उत्तप्त खिलने
नीले आकाश के रक्ताभ होने
मेघों के कामातुर झुकने,
हर सिंगार के फूल चूने की जगह
थोड़ी सी जगह .....

(थोड़ी सी जगह/19)

यह थोड़ी सी जगह प्रेम के लिए कहकर अशोक वाजपेयी प्रेम की पुर्नस्थापना हेतु धरती आकाश सब कुछ प्रेममय कर देना चाहते हैं। वे थोड़ी सी जगह ही समकालीन कविता के धरातल पर प्रेम के विन्यस्त करने के लिए प्रस्ताव करते हैं। संसार के लिए प्रेम कितना आवश्यक है और हर कहीं होना इस प्रेम का कितना जरूरी है जैसे प्रेम के बिना संसार चल ही नहीं सकता। प्रेम वहां भी जरूरी है जहाँ से उसे हटाया गया है और जहाँ वह नहीं पहुँचा। यह थोड़ी सी जगह साधारणत: -

जरा सी जगह ही थी
प्रेम के लिए
पूरी की पूरी पृथ्वी
पूरी की पूरी पृथ्वी, (थोड़ी सी जगह/22)

"प्रेम करना भले ही बहुत टेढ़ा न हो परन्तु प्रेम, कविता लिखना निश्चित ही टेढ़ी खीर है शायद इसीलिए निराला के बाद ललचाई नजरों से उसे देखने वालों की संख्या तो बहुत है लेकिन उसे पा सकने की क्षमता रखने वाले कवियों की संख्या निश्चित ही अल्प है।"[17] "इन अल्पसंख्यकों में अशोक वाजपेयी और नागार्जुन प्रमुख हैं। जिन्होंने प्रेम की अनुभूति को बहुत सधे हाथों कलात्मक अनुभव में रूपांतरित किया है।"[18] आधुनिक हिन्दी काव्य में तो तथाकथित सामाजिक यथार्थ के अतिक्रमण के कारण बहुत कम जगह प्रणय भावना के लिए बची दिखाई देती है। हिन्दी काव्य में जिन लोगों के खासतौर से समकालीन साठोत्तर कवियों के बड़े नाम हैं उनमें से बहुतों ने कविता के क्षेत्र में प्रवेश प्रेम मार्ग की कविता से हो कर ही किया, किन्तु प्रेम मार्ग आसान तो नहीं है और फिर लिखने के लिए जिस पर सूर, मीरा सरीखे लोग लिख चुके हों उस पर लिखने के लिए काफी गहरे डूबे बिना नहीं लिखा जा सकता। श्रृंगार को लेकर रीतिकाल चुनौती देता है और हालत यह होती है कि समकालीन कवि एक दो गहन प्रेमानुभूति की कविताएं लिखकर समाज की तथाकथित यथार्थवादी विसंगतियों को अपना काव्य विषय बनाकर खेमों में रट्टू तोते जैसा पिंजरे में अनाप-सनाप कुछ भी बकता रहता है, और उसके समकक्षी लोग तालियां बजाकर उसको पश्चिम के किसी बड़े कवि की श्रेणी में उठाकर रखने का यत्न करने में लग जाते हैं।

श्रृंगार विषयक लिखने के लिए प्रेम के स्फूर्त और आत्मीय स्पंदन की आवश्यकता होती है। हृदय की मुक्तावस्था के लिए वाणी द्वारा किये गये विधान को आचार्य शुक्ल जी ने कविता कहा है किसी प्रपंच के साधन को नहीं, इधर हिन्दी कविता में खासकर समकालीन कविता में इस तरह के दोयम दर्जे की कविताएँ भी खूब लिखी गईं। यह कविता के साथ किया गया छल है। जो ज्यादा समय नहीं ठहरता। समाज केवल यथार्थता, विसंगतियों और विद्रूपताओं में ही नहीं बसता। समाज घर में, मुहल्ले में, गांव में, परिवार में, हृदय में भी बसता है जिसे भीतर से,अंत:मन से,हृदय से भी गहराई के साथ ध्वनित किया जा सकता है। गली में खड़े होकर सड़कों पर दौड़-दौड़कर चिल्लाकर ही नहीं। बकौल अशोक वाजपेयी आज के व्यापक जीवन में प्रेम के लिए जगह नहीं बची है। हिन्दी कविता में भी थोड़ी सी ही बची है "चूंकि उसका अधिकांश देश तथाकथित सामाजिक सच्चाई ने घेर रखा है। इसलिए वे एक अलग और अनंत कविता समय में वह कविता देश, थोड़ी सी जगह रचना चाहते हैं जहां प्रेम संभव हो सके।"[19]

"उसने याद किये कई चेहरे
शहरों की कई ओझल खिड़कियाँ
कड़ी धूप में भी झुरमुट में
बचा अंधेरा
पुराभाषाओं के लुप्त शब्द
उसने अनादि से अनंत तक
प्रेम के लिए जगह बनाई।
प्रेम के लिए जगह" (थोड़ी सी जगह)

अशोक वाजपेयी हिन्दी कविता या "बेख्त की तरह जुल्मतों के समय में जुल्मतों के नहीं बल्कि काफका और नीत्शे की प्रसिद्ध सूक्तियों की पद्धति अपनाते हुए नरक में स्वर्ग के निष्पाप गीत गाना चाहते हैं।"[20] जो लोग हिन्दी की काव्य परंपरा से वाकिफ हैं उन्हें इस पर कोई एतराज नहीं होगा। तुलसी ने सामाजिक अराजकता के दौर में आदर्श समाज व्यवस्था का अपना यूटोपिया रचा था। भक्त कवियों की सामाजिक मुक्ति की छटपटाहट निर्गुण-सगुण प्रेम की आध्यात्मिक पदावली में प्रकट हुई थी। राष्ट्रीय

नवोन्मेष की सामाजिक सच्चाई का सर्वश्रेष्ठ काव्यात्मक प्रतिफलन छायावाद में हुआ था। मिलान कुन्देरा कहते हैं कि "हमारे समय में महानतम प्रेम की परिणति भी निसंवेद स्मृतियों के कंकाल में होती है तब इस अत्यंत भयावह सामाजिक समय में विशुद्ध प्रेम का इडिल रचना, विस्मरण के दौर में कविता के जरिये प्रेम की स्मृति को उसकी जीवंतता और उत्कृष्टता में अक्षुण्य रखना भी प्रतिरोध का एक प्रभावी तरीका हो सकता है।"[21] फिर इससे परहेज क्यों और किसके लिए। प्रेम अपदस्थ होकर आखिर कहां जायेगा जीवन से, मनुष्यता से। वह इस तथाकथित सामाजिक सच्चाई से कहीं अधिक प्रासंगिक और जरूरी है।

"आकाश कैसे भागेगा ब्रह्माण्ड से ?
कहां जायेगी पृथ्वी अपनी कक्षा से ?
नक्षत्र कहां दीप्त होंगे सौर मंडल छोड़कर ?
फूल हरी पत्तियों और झूमती डालों पर नहीं तो कहां फूलेंगे ?
तुम कहीं नहीं जा सकते
अपनी त्वचा और अस्थियों से
अपनी भाषा से
अपने प्रेम से।"

(थोड़ी सी जगह/ कहीं नहीं/150)

अशोक वाजपेयी की कविताओं में हिन्दी काव्य का अतीत जिसका मूलाधार प्रेम है, अपनी पूरी उत्कटता और सघनता के साथ ध्वनित होता है। वह शाश्वत् प्रेम अशोक वाजपेयी की कविताओं में कोमल शब्दों की दस्तक के रूप में सुनाई देता है - मनुष्य जिसमें कभी प्रेम रहा करता था उसमें बरसों बाद पुन: उसे बसाने का वे प्रयत्न करते हैं -

"मैं एक पुराना मकान हूँ
जिसमें बरसों बाद कोई रहने आया है।
क्या दरवाजे पर दस्तक
तुम्हें सुनाई दे रही है ?
एक अकस्मात् अतिथि की तरह
जो संयोगवश तुम्हारे दरवाजे पर आ गया।" (थोड़ी सी जगह/अकस्मात/132)

अशोक वाजपेयी के यहां कविता तुमुल कोलाहल कलह में हृदय की, प्रेम की, प्रार्थना की, शरीर के अन्त: स्वप्न की, शब्द की उत्तरजीविता पर एकाग्र संभावना की कविता रही है। "अकविता के उन्मेषकाल में 1966 में जब हिन्दी कविता, कविता से बाहर जाकर भूखी पीढ़ी से शमशानी पीढ़ी तक की सकरी गली का रास्ता नाप रही थी, आलोच्य कवि ने एक आदिम कवि का प्रत्यावर्तन का विवाद करते हुए 'शहर अब भी संभावना है' का जयघोष किया था।"[22] अशोक वाजपेयी ने तब के भीषण विपरीत समय में "पूरे आत्मविश्वास के साथ एक दुनिया समानांतर बसाने का साहस अथवा दुस्साहस किया था।"[23]

"सिर्फ मेरे हाथ हैं
जो भाषा संभाले हैं
सिर्फ मेरे होंठ हैं
जो गान थामें हैं"

अशोक वाजपेयी में परम्परा और मानवीयता का सम्बल इतना सशक्त रहा है कि कोई समकालीन वादों के थपेड़े उनकी काव्यतरी को डावांडोल नहीं कर पाए। प्रेम के प्रस्थान बिन्दु कामना और उसके सुन्दरतम प्रतिफल कविता के प्रति कवि की आस्था अक्षुण्ण रही।"[24] प्रेम के लिए जहां अशोक वाजपेयी थोड़ी सी जगह का प्रस्ताव रखते हैं वहीं देखते ही देखते प्रेम के लिए प्रेम की कविता के लिए पूरी की पूरी पृथ्वी छोटी पड़ जाती है।

बकोल कवि "जीवन में अभी सुन्दरता, कोमलता और ऐन्द्रिकता काफी है और उन्हें अपनी रसिकता के चलते नजर अंदाज करना मुझे न तो जरूरी लगा, न ही कविजनोचित छोटे से छोटे सच को भी खराब नहीं जाना चाहिए। कुछ ऐसे सच इधर की कविता से अक्सर छूट जाते हैं। मुझे लगा कि उन्हें समेटने की चेष्टा मेरी कविता को कुछ अलग रंगत शायद दे सकती है कुछ अलग औचित्य भी।"[25] और पत्थर से केलि करने लगता है पत्थर/पत्थर करता है /पवित्र/पत्थर को, और सुख अपनी जगह बदलता है तब पता चलता है कि मैं फूल खिला सकता हूँ इस तरह कवि प्रेम के रूप को आधुनिक और पुरातन जैसे शब्दों के अर्थों से अलग सिर्फ प्रेम की स्थापना और उसकी स्वाभाविक परिणति को जीवित करता है -

"पत्थर में
एक प्राचीन स्वप्न
उसका लावण्य
प्रेम में
नाचते हुए
खिला देता है
एक आदिम ऋतु"

(तिनका-तिनका/2/157)

कवि नश्वरता के प्रति भी बेखबर नहीं है सब कुछ सजग रहते हुए भी जीवन में प्रेम की ओर लौटने और सब कुछ नष्ट होने के पश्चात् प्रेम के शेष रहने का विश्वास प्रेम ही दिखाई देता है -

सब कुछ नष्ट नहीं होगा
कुछ तो बच ही जायेगा।

(तिनका-तिनका/2/कुछ तो/299)

तथाकथित सामाजिक सच्चाई और छदम उपक्रमों की बाढ़ के द्वारा जीवन से न तो एकाकार संभव है और न ही किसी समस्या का हल। यदि ऐसा होता तो अब तक हमारे यहां क्रांति हो गयी होती या परिणाम में राम राज्य की स्थापना, किन्तु ऐसा कुछ भी घटित नहीं हुआ। हां सामूहिक संवेदनायें भोथरी अवश्य हुई हैं। कविता में हुई इस हिंसा से कुछ ऐसा प्राप्त नहीं हुआ, जिसकी बड़े जोर-शोर से भूमिका रखी जा रही थी। एक दुष्परिणाम यह और देखने को मिला कि आम आदमी के दुखों की पैरवी करने वाली सारी विद्रूपताओं को कविता जैसे कोमल हृदय में जबरन ठूँसने वाली इस कलाकारी के कारण लोगों का कविता से विश्वास ही खण्डित होने लगा है और कविता जो दुखों में भी जीने की लालसा देती है, कड़ी धूप में भी घनी छाया बनकर हमारे सिर पर पसर जाती है, दुनिया को आगे ठेलती है। आज राजनीति से भी बदतर राजनैतिक छलों का अखाड़ा बन गई है। ऐसे में अशोक वाजपेयी जैसे कवियों का एकला चलो-रे घोर अंधकार में भी बिना घबराये अंधेरों के खिलाफ दिया जलाने का साहस अपराध कैसे हो सकता है। क्योंकि-

"जब हम प्यार करते हैं
तो दुनिया को छोटे-छोटे अंशों में सिद्ध करते हैं
और सुन्दर भी और समृद्ध भी
जब हम प्यार करते हैं
तब यह नहीं कि आकाश अधिक दयालु हो जाता है
या कि सड़कों पर अधिक खुशी चलने लगती है
बस यही कि कहीं किसी बच्ची को
अपनी छत से उगता सूरज
और पड़ोस की बछिया देखना अच्छा लगने लगता है .....

(जब हम प्यार करते हैं /थोड़ी सी जगह/57)

मध्यकाल में सामाजिक विषमताओं के दौर में कबीर जिस ढाई अक्षर की स्थापना को विद्वान होने की योग्यता प्रतिपादित करते हैं उसी के लिए रसखान तीनों लोकों की सत्ता को ठोकर मार कर कृष्ण की 'लकुटि और कमरिया' को अपनाने की बात करते हैं। उसी प्रेम की आभा के प्रणयन के धरातल पर सूर और मीरा अमर हो जाते हैं जिसके लिए अशोक वाजपेयी लौटकर आने की ललक रखते हैा -

"जब हम वापस आएंगे
तो पहचाने न जायेंगे
हो सकता है हम लौटे
पक्षी की तरह
और तुम्हारी बगिया के किसी नीम पर बसेरा करें
फिर जब तुम्हारे बरामदे के पंखे के ऊपर
घोंसला बनाएं
तो तुम्हीं हमें बार-बार बरजो
या फिर थोड़ी सी बारिश के बाद
तुम्हारे घर के सामने छा गई हरियाली
की तरह
वापस आएं हम .....

(कहीं नहीं वहीं/वापसी/ तिनका-तिनका/29)

इस कविता में कवि मरणोपरान्त फिर उसी जगह लौटकर आने की गहन आकांक्षा व्यक्त कर रहा है जिस जगह, जिस जीवन और जिन लोगों के साथ वह इस जीवन में बिखरा हुआ है, वह कहीं किसी और जगह नहीं जाना चाहता। भले ही वह रसखान की तरह जो खग हो तो बसेरो, मिली कालिंदी कूल कदंब की डारन पर ही रहना चाहते हैं। कवि अगले जन्म में वहीं हरी घास तक के लिए अपने जीवन का ठौर देखता है कवि की तुलना हम यहां रसखान से कर तो रहे हैं, फिर भी कुछ ऐसा लगता है कि अशोक वाजपेयी इस कविता में किसी हद तक रसखान को भी पीछे छोड़ रहे हैं, क्योंकि रसखान का आलम्बन कृष्ण के विशाल व्यक्तित्व, शक्ति सामर्थ्य को केन्द्र बनाकर भले ही इसी संसार के प्रति लौकिक जीवन में ही निहित क्यों न हो। उन्होने बहुत बड़े चरित्र का सहारा तो लिया ही है, जबकि अशोक वाजपेयी सीधे बीतते जीवन और उसमें मिली जगह और लोगों को ही अपनी वापसी के लिए उपयुक्त पाते हैं। यह उनके प्रेम की निष्ठा की अनन्त जिजीविषा का ही विन्यास है जो अगले जन्म में वहीं फिर लौटकर आने और वहीं बगिया के किसी नीम पर बसेरा करने, बरामदे के पंखे के ऊपर घोंसला बनाने, घर के सामने की हरियाली में छा जाने, पलाश के पेड़ पर नई छाल की तरह उग आने, और वहीं कहीं फिर खुद को विलीन कर देने में ही अगले जन्म की सार्थकता समझता है और सिद्ध भी करता है। वह चाहे जिस रूप में आये आना वहीं चाहता है जहाँ प्रेम है जीवन है -

"हो सकता है हम आएं
पलाश के पेड़ पर नई छाल की तरह
जिसे फूलों की रक्तिम चकाचौंध में
तुम लक्ष्य भी नहीं कर पाओगे।
हम रूप बदलकर आएंगे
तुम बिना रूप बदले भी
बदल जाओगे
हालाकि घर, बगिया, पक्षी, चिड़िया
हरियाली फूल पेड़ वहीं रहेंगे
हमारी पहचान हमेशा के लिए
गड्ड-मड्ड कर जायेगा

वह अंत
जिसके बाद हम वापस आएंगे
और पहचाने न जाएंगे।"

(कहीं नहीं वहीं/वापसी/तिनका-तिनका/2/29-30)

अंत के बाद कवि किसी हालत में चुपचाप नहीं बैठना चाहता है वह उस भ्रम को चुनौती देता है जिसमें लोगों को अंत के पश्चात् पुर्नस्थापना पर संदेह ही नहीं पूर्ण अविश्वास है। वह तुलसी के 'क्षिति जल पावक गगन समीरा' को लक्ष्य कर सीधे प्रकृति से, प्राकृतिक सत्ता से संवाद करता है और (गौतम बुद्ध के पहले) सिद्धार्थ की तरह अंत से जीतने और उसके बाद भी खुद को बचा ले जाने की बात सहज रूप में कह रहा है

"क्षिति जल पावक
गगन समीर से
फिर कहेगे
चलो
हमको रूप दो
आकार दो
वही जो पहले था
वही
जिसके बारे में
अंत को भ्रम है
कि उसने सदा के लिए मिटा दिया।"

(कहीं नहीं वहीं/अंत के बाद /1/ तिनका- तिनका 2/31)

वे किसी भी तरह मिटने को ओढ़ नहीं पाते और अंत या समाप्त के फुलस्टाप को धकेलकर उसकी जगह मध्य या सेन्टर शब्द रखना उचित मानते हैं जन्म और जन्म के बीच में अंत को मध्य की परिभाषा निरूपित करते हैं। और जीवन के बाद फिर जीवन की आधारशिला रखते हैं -

अंत के बाद/हम समाप्त नहीं होगे/यही जीवन के आस पास/मंडराऐगे/यही खिलेगे गंध बनकर/ बहेगे हवा बनकर/अन्ततः/हम अंत को बरकरार/फिर यहीं आएंगे/अंत के बाद/हम चुपचाप नहीं बैठेगें।

(तिनका तिनका/2/वहीं) यह अदम्य जिजीविषा समकालीन कविता की समूची पीढ़ी में प्रेम के धरातल पर स्वेच्छा से वहीं लौट आने की एक तरह से प्रार्थना और चुनौती कहीं प्राप्त नहीं होती। जहां समकालीन जीवन कविता में भी वह छल विषमता और विद्रोह के साथ ध्वनित हो रहा है, वहीं अशोक वाजपेयी अंत के बाद भी यही कहीं अपने को बरकरार रखने की चेष्टा कर रहे हैं। समकालीन कविता जहां समकालीन कविता जीवन की तरह पलायन करती इधर उधर भटक रही है वहीं पर अशोक वाजपेयी इसी संसार में लौटकर आने को बैचेन हैं जहां सब अपने-अपने स्तर पर जीवन से टूटकर बिखर जाने की स्थिति में अपने को मूक दर्शक की भांति देख रहे हैं। जीवन के संत्रास सीधे उठकर कविता में टहल रहे हैं सो आदमी के लिए न जीवन में आशा की किरण बची है और न कविता में। कविता के स्पंदन में प्रेम की जगह आक्रोश, निराशा, टूटन, घुटन के अतिक्रमण के कारण जीवन और जिजीविषा दोनों के लिए जगह ही नहीं बची है। फिर भी कवि ने अपने आरम्भ में जो संभावना रखी थी वह प्रेम का बीज अंकुरित होकर लगातार एक वृक्ष बनता गया है और जीवन को उसके स्पंदन को अपनी छाया में विश्राम दिया है, जो आई नदी के विरूद्ध अपनी नाव खेने से कुछ कम नहीं है।

प्रेम का अतिक्रमण करने वाले तत्व कई हैं जैसे घृणा,आक्रोश,अराजकता, निराशा, विद्रोह आदि किन्तु इन सभी विरोधी तत्वों का अतिक्रमण अकेले प्रेम कर लेता है। आक्रोश को आक्रोश से नहीं जीता जा सकता,अराजकता को अराजकता से नहीं जीता जा सकता। घृणा को घृणा से नहीं जीता जा सकता, निराशा को निराशा से नहीं जीता जा सकता किन्तु हां इन सभी को आशा, विश्वास और स्नेह के अपनत्व

से अवश्य नष्ट किया जा सकता है। जबकि हमारे यहां समकालीन कविता में अधिकतर आक्रोश को आक्रोश से, निराशा को निराशा से,और अविश्वास को अविश्वास से नष्ट करने का उपक्रम किया गया है। जिसका परिणाम यह हुआ है कि इन विषमताओं में कमी की बजाय और वृद्धि ही होती गई है। और स्थिति यह हो गई कि कविता सिर्फ कवि के इर्द-गिर्द ही सिमटकर रह गई है। एक क्षणिक आवेश के अलावा उसमें अंत:ध्वनियों का ऐसा एहसास बचा ही नहीं है जो किसी को स्थायी रूप से प्रभावित कर सके। और ऐसा भी नहीं है कि कविता में प्रेम और विश्वास का अकाल पड़ गया हो, हां इसकी संभावना खत्म नहीं हुई है। फिर भी अशोक वाजपेयी जैसे लोग निरंतर अपने रचना कर्म में उन शाश्वतताओं को बनाये हुये हैं जो जीवन को जोड़ने की तरफदारी करती हैं। और आज के लगभग बर्बर सामाजिकता के दौर में भी प्रेम की स्नेहमयी पगडंडी का विन्यास बनाये रखती है। कवि उम्मीद लगाये हुये है कि कविता कुछ न कुछ करेगी, क्योंकि उसने किया है और उसमें शक्ति भी है कुछ करने की। इस सब कुछ जीर्णशीर्ण होते जा रहे समय में कविता ही है जो कुछ उम्मीद बनाये हुये है जीवन में, संसार में, कविता में, प्रेम की-

"यहां जीर्णशीर्ण है मंदिर
प्रार्थना घर में पुराना धुआं कैद है
पता नहीं पूजा का या चिता का
देवता कर चुके हैं कूच
बची है सिर्फ यह कविता
जिससे हम पूछ रहे हैं
अपनी उम्मीद की कांपती रोशनी में
हमें अब कहां जाना है ?"

(तिनका तिनका 2/आविन्यो/246-247)

परिवार -

जीवन के यथार्थ में केवल राजनीति की ही हिस्सेदारी नहीं होती, उसमें व्यापक मानव संबंध भी आते हैं, "जिसमें हमारा निजी सुख-दुख, घर-द्वार, परिवार भी शामिल है,"[1] जिसे अशोक वाजपेयी ने भी बड़ी उत्कटता से अपने काव्य संसार में महसूस किया है। उनकी "कविता आस-पास की चीजों में अंतर्संबंध स्थापित करती है और उन्हें अपनी संवेदनशीलता से नयी अर्थवत्ता देती है "[2] अशोक वाजपेयी के यहां कविता एक हथियार नहीं है यहां वह जीवन के छोटे-छोटे सत्यों, वस्तुओं और अपने आसपड़ोस के जीवित संसार का मुक्तिबोध के शब्दों में ज्ञानात्मक संवेदन अथवा संवदेनात्मक ज्ञान का विदित विन्यस्त है। इस अर्थ में अशोक वाजपेयी की कविताएं अपने "आस-पास की चीजों में अंतर्संबंध स्थापित करती हैं।"[3] तथा संवेदना के गहरे स्तर पर जीवन को ध्वनित करती है।

समकालीन कविता में "यह विचारणीय है कि एक ओर समय के दृश्य हैं तो दूसरी ओर पारिवारिक इकाई की भी स्वीकृति है।"[4] कविता में कवि के जीवन की उपस्थिति-अनुपस्थिति को लेकर लम्बी वैचारिक बहसें चल चुकी हैं, और आगे भी चलती रहेंगी। किन्तु कविता ही क्यों कोई भी सार्थक रचना बिना रचनाकार की उपस्थिति के, सर्जनात्मक कलाकृति कैसे बन सकती है ? पर इसके लिए व्यक्तित्व चाहिए। "प्रश्न इसका है कि कविता में हम अपने अनुभव को कितनी ऊर्जा और संवेदन के साथ रूपांतरित कर उसे एक कलाकृति का रूप दे सके हैं।"[5] चीजें कहीं से भी उठाई गई हों पर उन्हें एक तरह की निर्वैयक्तिक निजता के साथ प्रस्तुत करने की क्षमता होना भी आवश्यक है जिससे अनुभूति का साधारणीकरण हो सके।

प्रत्येक रचनाकार अपने सृजन में कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में अपने परिवार से प्रभावित अवश्य होता है तथा उसकी रचना में उसका जीवन ध्वनित हुए बिना नहीं रहता। इस अर्थ में समकालीन कविता के सन्दर्भ में हम पाते हैं कि प्रत्येक रचनाकर ने अपने पारिवारिक संबंधों को अपने सृजन में स्थान दिया है। इस काल में अनेक महत्वपूर्ण रचनाकारों ने मां, पिता को अपनी कविताओं का विषय बनाया है। अशोक वाजपेयी ने भी रघुवीर सहाय की 'पिता कविता' के समान पारिवारिक स्मृतियों को अपनी

रचना में पूरी अंतरंगता के साथ शामिल किया है। मां पर लिखी गयी अशोक वाजपेयी की कविताएं सम्पूर्ण हिन्दी कविता पटल पर प्रतिनिधि रचनाओं में गिनी जाती हैं। पारिवारिक रिश्तों की अनुभूतिमय अभिव्यक्ति और सहजता कवि की रचनाओं में आरम्भ से ही स्थान बनाये रही है पहले काव्य संग्रह 'शहर अब भी संभावना है' से लेकर 'आविन्यो' तक मां, बहिन, बेटी, पुत्र, पिता आदि पारिवारिक संबंधों को कवि ने गहरी आत्मीयता के साथ कविता में स्थान दिया है। अपने पहले काव्य संग्रह में अपनी आसन्नप्रसवा मां के लिए तीन गीत लिखते हुए कवि ने मां के सौन्दर्य का गौरवपूर्ण वर्णन किया है। हिन्दी साहित्य में मां पर लिखी सर्वश्रेष्ठ कविताओं में से यह एक है -

"तुम्हारी बाहें ऋतुओं की तरह युवा हैं
तुम्हारे कितने जीवित जल
तुम्हें घेरते ही जा रहे हैं।
और तुम हो कि फिर खड़ी हो/अलसायी, धूप तपा मुख लिये/
एक नये झरने का कलरव सुनती/एक घाटी की पूरी हरी महिमा के साथ .....

(तिनका-तिनका/1/29)

जीवन की भागम भाग और सभ्यता के बदलते तेवरों के बीच जीवन और कविता दोनों के पटल से निष्कासित होते जा रहे पारिवारिक संबंधों के माहौल में कवि इन संबंधों को जीवन से अभिन्न और गहरी आत्मीयता के साथ उनसे एकाकार करता है। पश्चिम की धुआंधार आयात होती जीवन शैली की वैयक्तिकता के अंधकार में जो चमक या रोशनी का छलावा दिख रहा है, वह धोखा है। जीवन यही अपने परिवार और उसके आस-पास है। जहां जीवन के हर्ष विषाद हैं -

"एक भारी ठण्डक में सहमा हुआ
तुम्हारा शरीर याद करता है
अपना निरंतर अपमान
कि तभी तुम्हारे हाथ अचानक छू लेते हैं
बगल में सोये पांचवे बच्चे का शांत
सरल शरीर
तुम्हारी आंखों में तिर आती है जन्मकथा"

(तिनका-तिनका/1/33)

आलोच्य कवि जीवन के छोटे से छोटे सत्य को भी बेकार नहीं जाने देना चाहता वह जहां से आया है वह जीवन ही उसकी रचना के मूल में स्पंदित है। वही उसकी काव्य सामग्री है वह उन्हीं सुखों-दुखों को रचना की कसौटी पर कस रहा है। जिससे वह प्रभावित रहा है या जिसका उसने साक्षात्कार किया है। नारे पोस्टरों और बयानबाजी के दौर में जीवन का अतिक्रमण कर चुकी सामाजिक सच्चाई की तथाकथित कविता के आतंक के विरूद्ध जीवन के लगभग भुला दिये गये पहलुओं को स्थान देना, उन्हें पुनजीर्वित करने का उपक्रम करना एक भारी भरकम सेना के मुकाबले निहत्थे डटे रहने की जीवटता का ही प्रमाण है। जो कवि स्वयं से पूछने लगता है कि लौटकर जब आऊंगा तो क्या लाऊंगा और मां से क्या कहूंगा

"मां
लौटकर जब आऊंगा
क्या लाऊंगा
यात्रा के बाद की थकान
सूटकेस में घर भर के लिए कपड़े
मिठाईयां, खिलौने,
बड़ी होती बहनों के लिए अंदाज से नई फैशन की चप्पलें ?
या रक्त की एक नई सिद्धि
और गढ़ी हुई वीरगाथाएं ?

मां
लौटकर जब आऊंगा
क्या लाऊंगा ?"

(तिनका-तिनका -1/34)

कवि अपनी कविता के माध्यम से जीवन की पूरी किताब खोलना चाहता है जो स्वाभाविक और अनुभूति के स्तर पर गहरी संवेदना से भरी सच्चाई का सामना करने की बात करती है। अपने धीरे-धीरे बदलते समय की छवियों को समेटे यह कविता कवि को जीवन के साथ-साथ समाज के जीवन से भी एकाकार करती है।

पारिवारिक संबंधों में आलोच्य कवि ने सर्वाधिक कविताएं मां पर लिखी है जो अत्यंत मार्मिक बन पड़ी हैं। करूणा,दया, और ममता की साक्षात् जीवित मूर्ति का नाम ही मां है जिससे समकालीन कविता का प्रत्येक कवि प्रभावित है और थोड़ा बहुत उसने अपने सृजनधर्म में उसे स्थान भी अवश्य दिया है। किन्तु अशोक वाजपेयी की पारिवारिक संवेदनाएं साधारण होते हुये भी सीधे अतः मन को छू लेने वाले भावों और बिम्बों के कारण मन को गहरे स्तर पर प्रभावित करती हैं। मां की स्मृति में लिखी गई उनकी यह कविता 'स्वर्ग में नरक' एक ऐसी संवेदना भूमि पर रची गयी है जहां एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार का दृश्य है और जिसमें साधारणीकरण और सम्प्रेषणीयता का दूर-दूर तक जरा भी अभाव नहीं है। यह कविता नहीं एक जीवंत चित्र है जिसे शब्दों में देखा जा सकता है।

"दूसरों के लिए
जीवन भर मरने के बाद
अब वह जरूर स्वर्ग में होगी
अब उसे टीन के सन्दूक में
नीचे तहाये कागज के नीचे
रूपये नहीं खोजने पड़ते होंगे
अभी भी अभ्यास या आस्था से
अपने बेटे-बेटियों
उनके बच्चों के लिए
सप्ताह में तीन चार दिन
वह करती होगी
उपवास
अभी भी स्वर्ग के ऐश्वर्य के आतंक को
वह सहती होगी
रामचरित मानस के पाठ से
लेकिन हमारा
उसके आस-पास न होना
क्या उसके लिए नरक नहीं होगा ?"

(तिनका-तिनका -1 स्वर्ग में नरक/124)

मां के चरित्र को परिभाषित करती यह कविता उसके अथक स्नेह और करूणा का जीवित दस्तावेज है। कविता में विन्यस्त एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार की जीवन स्थिति और ऐश्वर्य के आतंक से उसकी सुरक्षा में किया गया 'रामचरित मानस' का पाठ विषम परिस्थिति में भी अपने को बचाये रखने की हिम्मत देता है। यह अकेली कविता प्रेम, करूणा, साहस, अभावों के जीवन, अथकश्रम, विषमता आदि मायने में किसी तथाकथित सामाजिक सच्चाई की कविता से भी आगे की कविता है।

"मां के लिए या मां पर अशोक ने जो कविताएं लिखी हैं, उनमें करूणा और प्रेम दोनों के चरम उत्कर्ष का बोध और अनुभूति है।"[6]अपनी आसन्न प्रसव मां के लिए तीन गीत कविता में कालिदास,

भास और अज्ञेय की भी अर्थ छटाएं हैं तो 'सूर्य की करूणा तुम्हारे मुड़ेरों भी रोज बरस जाती है' में ऋग्वेदीय उषा सूक्ति को जैसे नये रूप में रचा गया है। अत: आलोच्य कवि की रचनाओं में घरेलू संबंधों की कविताओं में भी ऐतिहासिक प्राचीन ध्वनियों को साकार अर्थ, प्राण-रूप से प्रतिष्ठित किया गया है।

कवि पारिवारिक स्मृतियों से सघन आत्मीयता स्थापित करने में कविता के धरातल पर अपनी स्मृतियों को साकार रूप में दृश्यावरण कर देने की उसकी क्षमता अद्‌भुत है। रघुवीर सहाय की 'पिता कविता के समकक्ष अशोक वाजपेयी पिता का स्मरण गहरी बिम्बीय उपस्थिति में मानस के गहरे स्तर पर ध्वनित करने में सफल होते हैं -

"एक पैतृक वृक्ष है
और उसके नीचे रखे हैं वे काले जूते
मरे हुये चमड़े के
कुछ पसरे हुए जीवित पैरों के दबाव से
जो अब नहीं है
पैर अब नहीं है
और न ही वह आदमी।

(तिनका-तिनका-1 पिता के जूते/125)

यहां कविता में जो संसार उभरता दिखायी देता है वह आयातित अथवा दूर से लाया गया नहीं है, "वह हमारे आस-पास का रोजमर्रा का गड़ता दुखता संसार है।"[7] उस का अभिन्न अंश परिवार उसके लोग हैं। अपनी 'दिवंगत बहन' कविता में सहज ही हृदय को द्रवित कर देने वाली विकलता है जो शब्दों के माध्यम से कविता में मूर्तिमान होकर उपस्थित होती है -

"समय पास बैठा रहा होगा चुपचाप
जब बहुत पहले
मैं अपनी बहन के साथ
खेल रहा था एक खेल
पत्थर पर चाक से खाका खींचकर
मुझे याद नहीं/धुंधलका जो था
खेल-खेल में खो गया था/उसका नाम

(तिनका-तिनका/1/दिवंगत बहन /127)

"एक फरेब का घर होते जा रहे संसार में हिन्दी कविता की विश्वसनीयता को पुन: अर्जित करने का रचनात्मक संघर्ष अपनी भाषा के भाव स्रोतों अर्थात् अपनी सामाजिक और पारिवारिक आत्मीयता और उस आत्मीयता की आधारभूत आस्था से जुड़े बिना नहीं हो सकता है।"[8] 'दौआ बाबा' कविता में कवि अपने पैतृक गांव राजापुर गढ़ेवा में अपने पूर्वजों को लेकर जो चित्र खींचा है वह उनके पूर्वजों की जीवन चर्चा के साथ-साथ गांव के जीवन को, उसकी मान्यताओं को दुहरा रहा होता है। होली के अवसर पर अलैया-बलैया सरसों के पांडे जाय फिर दौआ बाबा का एक पांव से लंगड़े होने के बाबजूद ढोल बजाते हुए नाचने लगना और नाच-नाच में उनके पैर की लम्बाई बढ़ जाना और उनका पूरा हो जाना, पूर्णांग होते दौआ बाबा का सबको देखना देवताओं का आभार मानना। वर्ष में एक बार पूर्ण होते दौआ बाबा वर्ष भर पूर्णता की इच्छा कैसे जलाये रखते थे। पूरी इच्छा होती है पैर नहीं चाहे, वह किसी का भी क्यों न हो।

अपने जीवन से जुड़ी प्रत्येक स्मृति को बेकार न जाने देना और उसका सृजनात्मक उपयोग करना किसी कुशल कवि के ही बस की बात है, जिसमें अशोक वाजपेयी इस कसौटी पर खरे उतरते हैं। "थोड़ा गौर करें तो पायेंगे कि पारिवारिक रिश्तों या घरेलू स्मृतियों को लेकर जितनी कवितायें इस दौर में लिखी गई उतनी हिन्दी कविता के किसी भी दौर में नहीं लिखी गयी होंगी।"[9] और अशोक वाजपेयी ने तो पारिवारिक रिश्तों और उनकी स्मृतियों को अपने काव्य में लगातार जगह दी है।

उपभोक्तावादी सभ्यता के आतंक से छीजते सामाजिक पारिवारिक संबंधों के दौर में जीवन की

प्रथम पाठशाला से निरंतर विमुख होते व्यक्ति और समाज को पारिवारिक रिश्तों या घरेलू स्मृतियों की ''ये कविताएं विशफुल थिंकिग नहीं बल्कि गहरी वेदना से प्रसूत होती दिखाई देती हैं और इसलिए हमें किसी कृत्रिम आशावाद की ओर ले जाने या निराशा के गहरे अन्तराल में ढकेलने की बजाय एक मानव विरोधी परिवेश में मनुष्य बनकर खड़े रहने की ताकत देती हैं क्योंकि ये आत्मीयता को एक मानव मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं ''[10] जैसे 'दिवंगत मां के नाम पत्र' कविता में कवि के जीवन की स्मृतियां और कड़वाहटें वेदना के गहरे स्तर से निकलकर आकार ग्रहण कर रही हैं। सामान्य किन्तु हृदय को द्रवित करने वाले बिम्ब जो इस कविता में प्रमुखता से उठाये गये हैं, उन्हें समकालीन काव्य में बहुत कम स्थान मिल पाया है। जीवन की पवित्रता और सार्थकता समकालीन उपभोक्तावाद से दूर कवि उसी सुख-दुख से भरे संसार में प्रतिष्ठित करता है जहां अभाव है, प्रेम है, जीवन है, और कभी न खत्म होने वाली जिजीविषा है -

''यहां एक छोटा सा मुहल्ला है
जहां लोग एक दूसरे की मदद करते हैं
लोग भोजन से पहले ईश्वर को धन्यवाद देते हैं
पवित्र पुस्तक को हाथ लगाते हैं ''

(तिनका-तिनका/2/227)

वह मुहल्ला और उसकी वस्तुएं और लोग बेहद अंतरंग अनुभूति के साथ इस कविता में जीवन से एकाकार हो रहे हैं। जो आज सिर्फ स्मृतियों में शेष रह गया है। यह कविता हमें हमारे जीवन से नितांत कर जाने के बारे में सोचने को बाध्य करती है जिसे हम छोड़ने को आतुर हुये जा रहे हैं दिवंगत मां के नाम पत्र कविता में कवि का जीवन सन्दर्भ उसकी आत्मीयता और प्रेम उसके अनुभव और लगाव उसका बचपन से लेकर बुढ़ापे की ओर बढ़ता जीवन, उसका परिवार, परिवार की कभी न भूलने वाली घटनाएं उसका मुहल्ला, शहर और उससे जुड़ी स्मृतियां कविता में जीवित रूप में प्रकट हो रही हैं। यह कविता परिवारजनों पर लिखी कविताओं में सर्वसाधारण किन्तु पाठक को सहज ही उद्वेलित कर अपने जीवन में वहीं वापस लौटने की राह दिखाती है जिसे आज लगभग हाशिये पर धकेल दिया गया है। और कवि दूर देश में बैठा सीधा उस जीवन, उस परिवार, उसके सदस्यों से तादात्म्य बना लेता है और उन्हें वहीं दक्षिण फ्रांस में रोम नदी के किनारे बसे आविन्यो शहर के प्राचीन मठ में रहते हुये सागर की स्मृतियाँ कविता में आकार ग्रहण करने लगती हैं, जैसे -

''यहां तुम नहीं हो : यह परदेश है
पर लगता है वही गोपालगंज है बकौली कठचंदनवाला
और यहां का कुंआ हमारे घर के अंदर है
जिसके पास हम सब नहाते थे
यों तो पानी से पर तुम्हारे सजल लाड़ दुलार से .....

(तिनका-तिनका/2/228)

निराला के जीवन के अभाव और विसंगतियां तथा स्मृतियां जिस तरह 'सरोज स्मृति' में व्यक्त हुई हैं। उसके समकक्ष ही दिवंगत मां के नाम पत्र कविता में व्यक्त अशोक वाजपेयी के जीवन की स्मृतियां निजी होते हुए भी संवेदना के गहरे स्तर पर सभी को प्रभावित करती हैं।

''तुम्हें पता नहीं उस क्षण सब कुछ से विदा लेते
मुझ अनुपस्थित से भी विदा लेना याद रहा था या नहीं
जीवन ने बहुत अपमान दिया था पर कैंसर से मृत्यु ने भी
पता नहीं क्यों तुम्हारी लाज नहीं रखी थी
अपना अपमान और अपने हम लोगों के लिए मोह को साथ लिए
क्या तुम अभी भी उस देश में भटकती हो।''

(तिनका-तिनका /2/227)

दिवंगत मां से सीधे संवाद कर रहा कवि बहुत व्यथित होकर उसके अंतिम क्षणों को और मां के असीम अपनेपन की मूर्ति गढ़ता है,जिसमें अपने अपनों के लिये सारे दुख सह जाने की शक्ति समाहित है। कविता नितांत भारतीयता के धरातल पर जिस मां की स्मृति में द्रवित हो रही है वह मां अशोक वाजपेयी की ही मां नहीं सर्वसाधारण की मां है। अपने बच्चों के लिये पृथ्वी की तरह सब कुछ सह जाने की शक्ति और त्याग रूपी आदर्श मां की स्थापना के मूल में एक मध्य निम्नवर्गीय परिवार का चित्त जो इस कविता में जीवंत होता है, वह समकालीन कविता के हासियों पर धकेल दिये गये जीवन में एक जरूरी हस्तक्षेप करता है। नगरबोध की सभ्यता के दौर में अपने लोगों की गंध लेने की और लड़कपन-बचपन को याद करने की जगह ही कहां बची है। किन्तु कवि जिस तरह से अपनी स्मृतियों में /रत्ती-रत्ती लौटता है/उसे दूर देश फ्रांस के शहर आविन्यो के प्राचीन मठ से भी यहां की गली में /मुझे तुम दीखती हो/ वृंदावन मंदिर से लौटती हुई/ यहां ईश्वर की इस सख्त अभेद सी प्राचीर में कहां से खुल जाता है तुम्हारा भण्डार और पूजाघर/जहां अनाजों, दालों आदि से भरे कनस्तरों के पास एक आले में लटके हैं तुम्हारे भगवान/और सामने रामचरित मानस की पुरानी पड़ती प्रति/कुछ फूल और चावल के दाने,घर और उसकी प्रत्येक वस्तु के साथ कवि के जीवंत संबंध से जैसे शब्द बोलने लग गये हैं। वस्तुएं जिन्हें गैर जरूरी मानकर छोड़ दिया जाता है उनसे कवि गहरा संबंध स्थापित करता है और वस्तुएं भी जीवन का, कविता का अभिन्न अंग बनकर सामने आती है। कविता में कवि शब्दों के माध्यम से जैसे ठिनककर दिवंगत मां की गोद में बैठ जाना चाहता है। जीवन के अंधेरों में मां की वत्सलता जो उजाले का स्रोत थी उसके सामने अपने आप नतमस्तक हुआ जा रहा है, वह एकांत में भीतर चल रही प्रार्थना से अपने आप को एक पुष्प की तरह अर्पित कर रहा है। पूजा घर की घण्टियों के नाच को मां का नाम देता है और अपने जीवन के चारों ओर बचपन की तरह दिदिया(मां) को पाता है कवि लाड़ से कह उठता है

"अनन्त में जहां तुम हो
पितरों के जनाकीर्ण पड़ोस में
वहीं अपने ढीले पेंट को सम्हालता
मैं भी हूं गुड्डन
जैसे यहां इस असम्भव सुनसान में तुम हो
इस कविता इन शब्दों, इस याद की तरह
दिदिया ..... ।"

(तिनका तिनका/2/229)

इस तरह आलोच्य कवि दुनिया के बड़े-बड़े सचों से दूर अपने छोटे-छोटे सचों को बेकार नहीं जाने देना चाहता वह उन्हीं में भरापूरापन और जीवन की हरीतिमा देखता है जिसे औरों ने दोयम दर्जे का समझ छोड़ दिया है। यह कवि की अपनी निरी विशेषता है।

"पारिवारिक या आत्मीय रिश्तों की स्मृति इस दौर की कविता में किसी नास्टेल्ज्या की तरह नहीं बल्कि एक जीवित सक्रिय अनुभव की तरह है और हमारी सामाजिक, राजनीतिक त्रासदी को भी पारिवारिक रिश्तों के सन्दर्भ से अधिक अंतरंग स्तर पर यह कविता महसूस करवाती लगती है।"[11] कवि बेटी के लिये कविता में समकालीन समाज और उसकी स्थिति से बेटी को जीवन में आगाह करने की राह बता रहा है।

"वह समझ नहीं पाती कि लोग मददगार क्यों नहीं है
क्यों लाचार अकेले और नाराज हैं
सुन्दरता घरों में क्यों सजी रहती है
चौक बाजार फूहड़ क्यों हैं
लोग क्यों मन मारकर कर लेते हैं स्वीकार"

कवि अपनी बेटी के माध्यम से समाज में लड़की के जीवन के विकास का संक्षिप्त सा प्रस्ताव रखता है

"उसे पाने
दो कामकाज में ही सुन्दरता
उसे सयानापन दो
पर बची रहने दो उसकी निरनुभव सरलता
उसे सख्त दुनिया में संघर्ष करने की इच्छा और शक्ति दो,
पर खिली रहने दो उसके मन में कोमल हरी पत्तियां।
उसे थोड़ा सा भरोसा दो कि
हाथ ही नहीं शब्द भी दुनिया को समझाते
सुघर बनाते हैं।

(तिनका-तिनका/2/232)

बेटे और बहू के लिए भी अशोक जी कविता लिखते हैं और दूसरों के घर बनाने वाले बेटे-बहू को गहरी आत्मीयता से महसूस करते हैं -

"यह कहना मुश्किल है कि
चौड़े फैले कागजों पर वे दोनों अपना सपना अंकित
करते हैं कि सच खींचते हैं
वे संरचते हैं दूसरों के लिए कुछ और उसमें थोड़ा
सा अपना सच भी रचा देते हैं।
वे खोलते हैं द्वार, खिड़कियां खाली जगहें
जिनमें वे नहीं दूसरे गुजरेंगे
उन्हें सीख दो
हमारा अपना कोई घर नहीं
पर हम जहां रहते हैं कुछ हमारा हमेशा के लिए
छूट जाता है हमसे अलग और स्वतंत्र
बहू को जताओ कि वाजिब दामों पर /फल सब्जी खरीदने इतनी दूर जाने की जरूरत नहीं
पैसा नहीं बचा पर रचने की शक्ति तो जमा है "

(तिनका-तिनका/2)

बेटे और बहू के लिए कवि इस कविता में अपने वास्तुकार बेटे-बहू के घरों को डिजाइन करने की गहरी आत्मीयता के साथ कविता में स्थान देता है और उसे सृजन धर्म से जोड़ते हुए कविता में अपने घर बनाने की बात दुहराता है तथा दूसरों के घर में अपने सच को रचा देने की बात करता हैं और संतुष्ट होता है अपने सृजन धर्म से। अपने जीवन और कविता की तरह निरंतर अपने परिवारजनों पर स्नेह और अभिमान करने की बात करता है वह कहता है कि उनसे कहो कि दुनिया को कुछ बेहतर रहने लायक बनाने की धुन न छोड़ें/कवि अशोक वाजपेयी और नर्तकी पत्नी रश्मि के बेटे-बहू होने का उन्हें सच्चा अभिमान हो/यह पारिवारिक संबंधों की सजीवता उनकी काव्य प्रतिभा का जरूरी दस्तावेज है।

"पारिवारिक रिश्तों मे मां,पिता,बेटी, बेटा, बहिन, नानी, दादी आदि अंतरंग रिश्तों को लेकर लगभग हर कवि ने कविताएं लिखीं हैं जो उनके अपने अलग-अलग सन्दर्भों और स्थानीय रंगतों के कारण एक मैनरिज्म का शिकार होने से बची रह कर न केवल इन रिश्तों की गहरी आत्मीयता बल्कि इस आत्मीयता पर आघात करने वाली परिस्थिति की पहचान भी करती है।"[12] नयी पुरानी पीढ़ी के अनेक कवियों ने घर की स्मृति या उसकी तलाश की उत्कण्ठा के कारण रचना में पवित्र आत्मीयता की अनुगूँज सुनाई पड़ी है। घर जिसका स्वप्न रचना में आकार ग्रहण करता है यह ईंट-पत्थरों का नहीं रिश्तों से बना घर है जिस पर मंगलेश डबराल भी कविता लिखते है, प्रभात त्रिपाठी भी और वरिष्ठ कवि रघुवीर सहाय ही नहीं अज्ञेय भी "अपनी-अपनी विशिष्ट भंगिमा में रची गयी ये सभी कविताएं घरेलू आत्मीयता की तलाश का काव्यात्मक प्रतिफलन हैं।"[13] जो अशोक वाजपेयी की पारिवारिक कविताओं की प्रेरणा स्रोत

हैं और उनकी घर और उसकी स्मृतियों रिश्तों के प्रति समकालीन समाज के विखण्डित होते मनुष्य को उसके जरूरी जीवन से जोड़ने का रचनात्मक प्रयास है। जो साठोत्तरी कविता में सिर्फ आलोच्य कवि में ही ध्वनित हुआ है।

भाषा में तत्सम की सर्जना -

"किसी भी समय की कविता की एक चालू भाषा बन जाती है और उसमें लिखकर मान्यता पाना आसान होता है। पर कविता भाषा की स्मृति भी है" इस बात को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।"कविता में भाषा याद करती है, सपना देखती है, सच टटोलती है। भाषा एक साथ ही हमारे नश्वर जगत् का अनुष्ठान है और अपने से बाहर और आगे, बाद तक लगभग अनश्वरता में हमारा प्रवेश भी कविता अनश्वरता के लिए भाषा का विन्यास है।"[1] क्योंकि कवि के किये धरे का सिर्फ उतना ही अंश उसके बाद भी बचा रहता है, "जो भाषा के विकल विन्यास में जीवित रहता है।"[2] यही भाषा का विन्यास कवि को काल से मुक्त करता है जो उसके बाद भी बचा रह जाता है कविता वही है जो अपने समय को भेदकर उसके पार निकल जाती है जो कविता इस कसौटी पर खरी नहीं उतरती वह अपने समय में ही ठहरकर रह जाती है ऐसी कविता को "भाषा और समय दोनों ही याद नहीं रखते।"[3] किन्तु अशोक वाजपेयी के यहां ऐसा नहीं है उनकी कविता में "काव्य भाषा की कुछ पुरानी और लगभग भुला दी गई अंतरध्वनियां फिर सक्रिय हुई हैं।"[4] समकालीन काव्य भाषा में आ गये चालूपन और अखवारी शब्दों की भरमार ने कविता की उम्र घटा दी। वह कविता न होकर एक आयी गयी बात होकर रह गयी, जिसे तद्भव के आतंक की भी संज्ञा दी गयी है। अशोक वाजपेयी की काव्य भाषा उन्हीं के शब्दों में "तद्भव के समकालीन आतंक के बरक्स तत्सम की विनम्र उपस्थिति है।"[5]

अशोक वाजपेयी की कविता गहरे अर्थ में तत्सम के पुनर्स्थापना की कविता है। अशोक वाजपेयी की कविता में आरम्भ से ही तत्सम शब्दों को समकालीन काव्य भाषा के प्रवाह को अवरूद्ध किये बगैर सृजन का आधार बनाया गया है। समकालीन कविता में अशोक वाजपेयी तत्सम को अपनी काव्य भाषा में प्रमुखता से स्थान देने वाले सबसे बड़े कवि हैं।"कमलेश जैसे सम्भवत: एक मात्र अपवाद को छोड़ दें तो उनकी और उनके बाद की पीढ़ी का शायद ही कोई कवि ऐसा हो जिसने छायावाद के बाद काव्यभाषा की तत्सम धवनियों का इतना मुक्त और प्रबल प्रयोग किया हो। शब्द इनकी कविता मे प्राचीन काव्य ग्रंथों से शताब्दियों लम्बी यात्रा करते हुए आते हैं और अपनी पूर्वज उपस्थिति से इस कविता और इन काव्यग्रंथों के बीच एक अनुवांशिकी कायम कर देते हैं।"[6] और ऐसे लगता है कि उनकी कविता पूर्वज ग्रंथों और शब्दों की अस्थियों में रहती हैं-

"हम उठाते हैं एक शब्द
और किसी पिछली शताब्दी का वाक्य विन्यास
विचलित होता है"

(तिनका-तिनका/1/234)

प्रत्येक युग की कविता और काव्य भाषा अपने पूर्व युग की काव्य भाषा में रहती है और वहीं से विकसित होकर अपना नया आधार बनाती है क्योंकि बिना पूर्वजों के भाषा कविता या हम कुछ भी संभव नहीं हैं। भाषा से तत्सम को बेदखल हमने नहीं उपनिवेशवादी सभ्यता के आतंक ने किया है जिसे हम तद्भव सभ्यता भी कह सकते हैं। तत्सम शाब्दिक भाषा ही नहीं एक संस्कृति है और सभ्यता है। समकालीन उपनिवेशवादी सभ्यता की उपज तद्भव के विरूद्ध अशोक वाजपेयी नयी पीढ़ी के अकेले हस्ताक्षर हैं जो तत्सम को बिना थोपे स्वीकार कराने की क्षमता रखते हैं उनकी कविता में तद्भव पार्थिव है, नश्वर है जबकि शब्द अनश्वर होता है, शब्द की यह अनश्वरता वे तत्सम में स्थापित करते हैं। वे "पृथ्वी को भजते हुए कवि है इस तरह एक ओर तत्सम का ऐसा प्रबल आग्रह और दूसरी और पार्थिवता के प्रति एक उत्कट आसक्ति है।" यह विषमता निरे अलंकरण का ही नहीं रसान्विति का भी स्रोत है।

हिन्दी कविता में अज्ञेय और शमशेर के बाद की समूची पीढ़ी में अखबारी या सामान्य बोलचाल की भाषा का ही बोलबाला दिखाई देता है। जिसे आलोच्य कवि ने तदभव के आतंक की संज्ञा दी है और

उसके तद्भव स्थान पर तत्सम को रखा है, हिन्दी काव्य भाषा की दृष्टि से स्वर्ण युग छायावाद माना जाता है जिसमें तत्सम की अभिव्यक्ति और कोमलता का चरम विन्यास हुआ है, जिसे व्यक्त करना तद्भव के वश की बात नहीं है और यह बाद के तद्भव आतंक से स्पष्ट भी हो चला है। जिसे अशोक वाजपेयी की कविता ने समझा है और तद्भव के अर्थों को तत्सम में पुनः चरितार्थ करने का साहस दिखाया है। अशोक वाजपेयी अपनी भाषा में तद्भव की शर्तों पर तत्सम को राजी नहीं करते वे तत्सम की शर्तों पर तद्भव को रखने में जुटे दिखाई देते हैं। "तद्भव की सत्ता, जैसा कि हमारा युग मानता हुआ लगता है, न तो मूल है, न केन्द्रीय और न भिन्न, वह तत्सम में समाविष्ट उसी का एक अनुषंग है, वह कहियत भिन्न न भिन्न है।"[7] अशोक वाजपेयी की कविता मानवीय उपस्थिति और अनुपस्थिति दोनों के दायरे में नहीं है। "उनका सरोकार नेतृत्व केन्द्रीयता (काव्य की भाषा की) का उच्छेद करना है। पर इस उच्छेद की विधि उच्छेदवादी नहीं है, यह विधि है अस्तित्व के यथा सम्भव रूपाकारों, ध्वनियों और कलापों की गझिन सृष्टि के ऐसे अनुस्मरण की कि उस सृष्टि के सौन्दर्य में नेतृत्व का खुद व खुद विलय हो जाये।"[8] हमारे यहां ज्यादातर कविता में रति मनुष्य में व्याप्त उर्जा की तरह उभरती है, सार्वदेशिकता के तत्व के रूप में नहीं। अशोक वाजपेयी की कविता बजाय इसका उच्छेद करने के, प्रकृति और यहां तक कि शब्द की देह रति के आवेग की क्रियाशीलता को साकार करती है बिना उसे सुर्रियालिस्ट तार्किकता का सहारा दिये।"[9]

अशोक वाजपेयी की कविता के क्षेत्र संतुलन की चर्चा करते हुए प्रसिद्ध आलोचक मदन सोनी ने उनकी कविता में प्रकृति, रति और मृत्यु को प्रमुख काव्य संयोजक माना है। मैं इसमें प्रेम और स्मृति और जोड़ना चाहता हूँ "ये ऐसे संयोजक हैं जो अपनी सर्वदेशीयता और सर्वकालिता के चलते मानवीय अर्थ के वैशिष्ट्य और एकाधिकार को तोड़ते हैं।"[10]

प्रकृति,रति और मृत्यु को क्रमशः मानवीय प्रकृति, मानवीय रति और मानवीय मृत्यु के रूपकों में ढालने के बदले कवि "प्रकृति और रति के मृत्यु भाव की, रति और मृत्यु के प्रकृति भाव की और मृत्यु और प्रकृति के रतिभाव की अनुरचना का का यत्न करता है"[11] इन पांचों विषयों पर उनके यहां अनेकों रचनाएं मिलती हैं जैसे -

"जहां तुम थीं
अपने नाचते शरीर से
अंतरिक्ष को प्रेम जैसे
एक संक्षिप्त अनन्त में ढालते हुए
वहां क्या मैं रख सकता हूं शब्द"

(तिनका-तिनका/1/234)

आधुनिकता शब्द की चहुँमुखी फटकी (दादागिरी) के दौर में बहती कविता और जीवन शैली के दौर में आत्मीयता और घरेलूपन का बोध लगभग कविता में (भाषा में) दोयम दर्जे का मान लिया गया हो, उसी समय में मानवीय रिश्तों के अवमूल्यन के खिलाफ एक रचनात्मक संघर्ष की हिम्मत करना किसी जोखिम उठाने से कम नहीं है। किन्तु यह जोखिम अशोक वाजपेयी, श्रीराम वर्मा, रमेश चंद्र शाह जैसों ने उठाया है। इन कवियों ने आक्रामक नाटकीय उत्तेजना और ठण्डे मुहावरे की परिपाटी से बचते हुए कविता में घरेलूपन को विषयवस्तु से अधिक भाषा के घरेलू अंदाज के स्तर पर सृजन किया है।[12]

अशोक वाजपेयी की काव्य भाषा हमारी रोजमर्रा की बोल-चाल की घरेलू भाषा की टोन (लहजे)पर सदियों पूर्व की कविता के शब्द और बिम्बों को विनम्रता से हमारे समय की समकालीन कविता में सक्रियता से स्थापित करती है। "जिसके कारण कविता की लय अंतरंग बातचीत की लय पर निर्मित होती है और उसके टोन या लहजे से आत्मीयता झलकती है तथा इसी से उस सहज विश्वसनीयता का बोध होने लगता है जो इस कविता का मुख्य सरोकार है।"[13]

"भाषा में घरेलू लहजे के पुनराविष्कार ने सभी चीजों के प्रति नये कवि की दृष्टि में सूक्ष्म किन्तु बुनियादी परिवर्तन ला दिया है।"[14] भाषा के इस घरेलूपन के कारण काव्य में यथार्थ और स्मृति एकमेव

होकर प्रकट हुए। इस अर्थ में अशोक वाजपेयी की काव्य भाषा पुरातन को भी नये तरीके से देखती है और अपने नयेपन में पुरातन विस्मित ध्वनियों को "जीवित अहसास की तरह संजो लेती है।"[15] अशोक वाजपेयी "जिसके चलते रोमांटिक या छायावादी कही जाने वाली शब्दावली या ठेठ संस्कृत काव्य से लिये गये शब्दों का अकुंठित प्रयोग करते हुए भी वह एक आधुनिक कवि बने रहते हैं।"[16] कवि के काव्य लोक में केवल साहित्यिक स्मृति ध्वनित हो रही हो ऐसा नहीं है "उनकी कविता में कुछ पुरानी सी शब्दावली का पुनराविष्कार दिखाई देने के पीछे भी साहित्यिक स्मृति के प्रति उनका आकर्षण ही है।"[17] उनकी कविताओं में उन्हीं के शब्दों में "तत्सम की विनम्र उपस्थिति नहीं है बल्कि तत्सम को एक तद्भवता का प्रभाव देने की पेशकश भी है। यह केवल संयोग नहीं है कि अशोक तत्सम का आग्रह अधिकांशत: संज्ञा या विशेषण के लिए तो करते हैं पर क्रियाओं के लिए कम और यह भी कि अधिकांशत: यदि संज्ञा तत्सम है तो विशेषण तद्भव या फिर इसके विपरीत। क्रियाएं अधिकांशत: तदभव है और यही वह चीज है जिसके कारण तत्सम एक सक्रिय उपस्थिति होता है।"[18] यही विशेषता अशोक वाजपेयी की कविता भाषा की प्रमुख पहचान है। बकौल अशोक वाजपेयी "काव्य भाषा की कुछ पुरानी और लगभग भुला दी गयी अन्तर्ध्वनियां फिर सक्रिय हुई हैं तद्भव के समकालीन आतंक के बरक्स तत्सम की विनम्र उपस्थिति।"[19] यह सोलह आने सच है।

सामाजिक चेतना -

समकालीन हिन्दी आलोचना में अशोक वाजपेयी की कविताओं पर गैर सामाजिक होने का आरोप सर्वाधिक और बार-बार लगाया गया है। अशोक वाजपेयी को आलोचकों ने सामाजिक सन्दर्भों को लेकर खूब खरी खोटी सुनाई हैं। किसी ने उन्हें रूमानी कवि कहा, किसी ने देह और गेह का, तो किसी ने उन पर पूरी तरह समाज से विमुख होने के आरोप लगाये हैं। जिनसे मैं सहमत नहीं हूं।

अशोक वाजपेयी की कविताओं में सामाजिक यथार्थ है या नहीं इसका जबाव साहित्य की श्रेणी में जबरन ठूसी गयी छद्म किताबों की राजनीति या पार्टीबंदी नहीं दे सकती। सामाजिक यथार्थ होने या होने का जबाव या परख केवल विशुद्ध आलोचना दे सकती है या उनकी कविताएं।

अशोक वाजपेयी ने कविता में जीवन को उसकी पूरी समग्रता में देखा है तो कोई अपराध नहीं किया। जीवन को उसकी समग्रता में देखना सब चाहते हैं। (और इसी जीवन के अधूरेपन को पूरा करने के उद्देश्य से ही दुनिया में महान क्रांतियां हुई हैं।)किन्तु देख नहीं पाते। पर ऐसा भी नहीं है कि अशोक वाजपेयी की कविता से सामाजिक यथार्थ पूरी तरह छूट गया है - समकालीन सामाजिक सन्दर्भों को अशोक वाजपेयी ने भी पूरी उत्कटता से अपनी कविता में आवश्यक स्थान दिया है जो आरोप मढ़ने वाले आलोचकों को दिखाई नहीं दिया। अब इसके लिए कोई कवि बेचारा क्या करे। हमारे यहां बहुत से आलोचक ऐसे भी हैं जिन्हें यह गलतफहमी बहुत गहरे स्तर पर और काफी मात्रा में है कि वे जो कहेंगे वही पत्थर की लकीर मान लिया जायेगा। वे दिन अब लद गये हैं। आरम्भ से ही अशोक वाजपेयी की कविताओं में सामाजिक सन्दर्भों को पर्याप्त रूप से व्यक्त किया गया है जिनमें समकालीन समाज के चित्र भरे पड़े हैं। उनकी एक कविता है 'जबरजोत' जिसमें जीवन के यथार्थ और विद्रूपता और विसंगतियों को व्यक्त किया गया है। अशोक वाजपेयी की कविताओं में देह और गेह ही नहीं हल-बैल और किसान तथा बड़ी बी की अट्टे पर से चीख भी सुनायी देती है, अब कोई सुनने की कोशिश ही न करे या जान बूझकर कान बंद कर ले तो कविता क्या करे -

"उसने एक पेड़ काट कर फेंक दिया
कानून की उस निष्क्रिय उपधारा की तरह
जो उस जैसों के हित के लिए बनाई गई थी
निर्धारित पद्धति से अलग
और गिरफ्तारी का इंतजार करते हुए
उसने अपने नए साहस के सरल गणित को
पहली बार पहचाना।"

(तिनका तिनका/1/जबरजोत/187)

इस कविता में अशोक वाजपेयी पर मोहभंग के काल का स्पष्ट प्रभाव है यह कविता समकालीन समाज की दशा और उसमें आम आदमी की जीवन स्थिति से सामना करते हुए उसके विपरीत परिस्थिति में पनपे नए साहस के सरल गणित को पहचान रही है और अब परिणाम की परवाह न करके आदमी का बेपरवाह होना जैसे जरूरी हो गया है -

"मुंशी और हवलदार वहीं पास थे
रौब के संवैधानिक व्याकरण से बंधे हुए
और जिन्दगी में
बहुत बार चुप रहने के बाद अब
वह बेपरवाह एक नया शब्द बोल रहा था
जाप्ता, फौजदारी और राजस्व संहिता में
जिसके लिए प्रावधान न था
ऐसे कि उसके पांवों और किसी मेज के पायों में
आप फरक न कर पाएं।"

(तिनका तिनका/1/जबरजोत/187)

समाज सत्ता और जीवन के संत्रासों की पुर्नव्याख्या करते हुए व्यक्ति के गायब होने के खतरे की स्थिति का खुलासा इस कविता का आधार है। कुछ भी ठीक नहीं है, जीवन की समस्याओं के हल होने की कोई संभावना नहीं है, और उल्टे व्यक्ति के नष्ट होने के खतरे रोज बढ़ते जा रहे हैं। -

"और जिन्हें मालूम न हो
कि आदमी को मारने के हजार तरीके
ईजाद किए जा चुके हैं।
एक ये और दूसरा वो
कि कागजों के खेल में
पूरा का पूरा आदमी बिला जाए।"

(वही/187)

अशोक वाजपेयी समकालीन समाज की स्थिति का सीधा प्रसारण करते हुए कह रहे हैं कि व्याप्त भ्रष्टाचार और जिसकी लाठी उसकी भैंस दोनों ही आदमी को मारने उसे और उसकी सच्चाई को नष्ट करने के अचूक हथियार हैं और इसके अलावा भी जीवन फाइलों कागजों में भी समाप्त हो जाता है। उनसे न्याय की उम्मीद बांधे घूमते हुए आम आदमी को खत्म करने के रोज नये-नये तरीके सामने आ रहे हैं किन्तु कवि के अनुसार कागजों से दम तोड़ देने वाला तरीका बहुत भयंकर है। जिसे कवि एक प्रशासनिक अधिकारी होने के नाते महसूस करता है और आदमी की हालत से द्रवित होकर उसके पक्ष में खड़ा हो जाता है।

सामंतशाही और जमींदारी की कुप्रथा में पिसते छोटे-छोटे किसानों के हक को कविता में गहरी आत्मीयता के साथ कवि व्यक्त कर रहा है, इस कविता में व्यक्ति के सामाजिक संघर्ष का चित्र उभर कर प्रभावित करता है -

"जमीन के जरा से टुकड़े को अपना मानकर
उसने नाथा हल
और पहली बार
अपने को बैलों से अलग कर लिया
एक कील सी गड़ती चली गई
समुद्र पातालिक शान्ति में
और बड़ी बी अट्टे पर से चीखीं।"

(वही/187)

'जबरजोत' कविता अशोक वाजपेयी की समाज संदर्भ युक्त कविताओं में सबसे अधिक चर्चा का विषय रही है। एक रूमानी कहे जाने वाले कवि ने कानून,गिरफ्तार, किसान, मुंशी,हवलदार, अदालत,आदि शब्दों का किसान को लेकर उल्लेख कुछ लोगों के विषमय का विषय भी रहा कि कवि में समाज के बादलहीन आसमान के नीचे/जुती अधजुती परती पर/कुछ फूट ही आया सूखते सुनसानमें।

समकालीन समाज में जीवन की विषमताओं से जूझता आदमी और समाज में, जीवन में, आ रहे तीव्र बदलावों की खबर हो सकता है कविता में अशोक वाजपेयी को भी है -

"हो सकता है
कि वह जो आदमी खड़ा है
बस की प्रतीक्षा में दफ्तर जाने के लिए
वह देखते-देखते
बस आने के पहले ही गायब हो जाए
या कि लकड़ी के आदमकद खिलौने में बदल जाए"

(तिनका तिनका/1/190)

आदमी का चेहरा इतना बिगड़ गया है कि कवि को खपचियों का चौखटा/नजर आता है समय के दबावों से आदमी इतना दब गया है कि उसकी हालत सीधे खड़े होने लायक नहीं रही। आम आदमी की हालत का कच्चा चिट्ठा खोलते हुए कवि कह रहा है -

"उस पर से आदमी
कभी पूरा सीधा नहीं
तिरछा और खपचियों का चौखटा
नजर आता है"

(वही /190)

एक कवि अपने समय से बहुत बाहर भी होता है और बहुत वर्तमान भी और उसकी कविता समय के आरपार होती है वही कवि और कविता अधिक समय तक प्रासंगिक होती है। इस अर्थ में अशोक वाजपेयी अपने समय के आर-पार तो हैं ही,अपने वर्तमान पर भी उनकी गहरी नजर है चाहे वह वनो, बागों से मेज पर सिमट गया बसंत हो, या किले की दीवार की दरार में उग आयी घास हो सब जगह पर उनकी दृष्टि है। यही समय है कविता में कवि पाठक से जैसे अपने पास बैठे किसी मित्र की तरह संवाद कर रहा है और उसे वर्तमान समय के,समाज के, राष्ट्र के बदलावों को हृदय से महसूस कर भावनात्मक शैली में बिना चीखे चिल्लाये बहुत ही सहज, सम्प्रेष्णीय और आत्मीयता से व्यक्त कर रहा है, जो समकालीन कविता के नारों, चीखों से अलग किन्तु उससे भी ज्यादा प्रभावी ढंग से अपनी सच्चाई रखने में सक्षम है। जो कुछ समाज में बदल गया है, उसे और जो समाज में बदल रहा है, उसे यह कविता अपने केनवास में समेटने की कोशिश कर रही है। जिसमें सम्प्रेष्णीयता कहीं थोड़ी भी बाधित नहीं होती। कोई भी कवि अपने समय का प्रतिनिधि जानकार होता है, यही बात यह कविता ध्वनित कर रही है। अशोक वाजपेयी की सामाजिक चेतना पैगम्बराना अंदाज में व्यक्त नहीं होती, वे एक सजग दृष्टा की भांति समाज के परिवर्तनों और खण्डित होती मान्यताओं, मूल्यों पर नजर रखते हैं और शोर से अलग रहकर कुछ शब्द सहेजने की कोशिश करते हैं -

"यही हमारा समय है
मुँह फेरे शोर से बचाकर सहेजे कुछ शब्द
मेज भर बसन्त
बौराने के बाद भी निष्फल आम्र वृक्ष
बीच-बीच में भजन की अनुगूंजता
दिवंगत मां का अपमान
यही हमारा समय है"

(तिनका तिनका/1/यही हमारा समय है/349)

प्रेम और पवित्रता को अनदेखा कर देने वाले समय में आदमी यह नहीं समझ रहा कि जीवन का स्पन्दन और उसकी शाश्वतता इसी में कहीं है, कर्फ्यू में नहीं। आदमी खण्डित होते जा रहे मूल्यों से ऐसे बेखबर हो गया है जैसे -

"यह कर्फ्यू से झड़ी पुछी सड़क पर
दस बरस की लड़की का
खड़िया से खाका बनाकर बेखबर खेलना
बूढ़े का हर सुबह मृत्यु को धूल की
तरह बुहार कर
घूरे पर फेंकना
यही हमारा समय है।"

(तिनका तिनका/2/349-350)

समय के धरातल पर समाज की स्थिति और उसके विकास और सब कुछ ठीक हो जाने की उम्मीद भी यहां कविता में मौजूद है -

"उम्मीद की आखिरी बस की देर
तक प्रतीक्षा
यही हमारा समय है
यह सदियों का गलियों मे बिल्लियों
की तरह घूमना
चिथड़ों की तरह सपनों का मोड़ पर
फड़फड़ाना
यही हमारा समय है।"

(वही/350)

आलोच्य कवि में प्रेम का कोमल स्पन्दन ही नहीं है जीवन को ढकते जा रहे कोहरे का वर्णन भी है और नष्ट होते जा रहे सृष्टि के आकर्षण का खुला एहसास भी-

"आंगन भर धूप, धूल से ढंकी सी चांदनी
रूक-रूककर होती बारिश
बार-बार जलती बुझती आग
सहमकर बहती हवा
यही हमारा समय है।"

(वही/350)

नष्ट होती प्रकृति और जीवन में आ गये भारी तनाव को भी कवि ने पहचाना है। व्यक्ति से व्यक्ति के बीच गहरी होती खाई तथा टूटते हुए विश्वास और सर्वव्याप्त होती जा रही निर्लज्जता भी कवि दृष्टि के केन्द्र में व्यक्त हो रही है।

"यह भरोसा ढहाकर किया गया अश्लील अट्टाहास
निर्लज्जता का दिग्विजय के अश्व पर देशाटन
आततायियों के तहखानों में
सुरंग लगाकर पहुंचा आदि सत्य
यह बस्तियों के ऊपर घृणा के मेघाच्छादन
यही हमारा समय है।"

(वही/350)

समाज में सभी ओर फैल रही अमर्यादाओं की हवा, और दुष्टों के यहां कैद हो गये आदि सत्य को भी कवि ने बखूबी पहचाना है। समाज में घृणित राजनीति के कारण फैल रहे अविश्वास और भेदभाव को

वह बस्तियों के ऊपर घृणा के मेघाच्छादन कहकर अपने समय की पड़ताल कर रहा है। समाज में इतने गहरे भय बैठ गया है कि छोटी से छोटी खुशी के भी नष्ट होने का डर बढ़ता जा रहा है कि दुख की अपार रेत में/सुख के छोटे-छोटे एहसास भी पैने कंकड़ की तरह हो गये हैं, यह अपने समाज के यथार्थ की ऐसी खुली किताब है कि जिसे अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए।

समकालीन समाज से सीधे संवाद करती हुई अशोक वाजपेयी की सामाजिक सन्दर्भों से युक्त अनेक कविताएं समाज के यथार्थ चित्र को कहीं सीधी सपाटबयानी में व्यक्त करती हैं तो कहीं प्रतीकों बिम्बों का सहारा लेकर। अशोक वाजपेयी सामाजिक सन्दर्भों को व्यक्त करते हुए समय को भी कटघरे में खड़ा कर देते हैं। बीसवीं सदी के समाज की स्थिति को वे कितना बजा है कविता में सत्रहवीं सदी के समाज से जोड़ते दोनों सदियों का तुलनात्मक अहसास गहरा करते हैं -

"कितना बजा है
पूछता है सत्रहवीं शताब्दी के अंधेरे में
बुर्ज पर खड़ा पर चौकीदार
अपनी लालटेन की कम होती रोशनी में।"

(तिनका तिनका/2/113)

इस कविता में आज के समाज का जीता जागता चित्र निर्मित हो रहा है। आज समाज में कोई संतुष्ट नहीं है न ही सुखी। देवता भी थक गये हैं, दुर्दान्त से और चीखने लग गये हैं जैसे उन्हें कहीं जाने की जल्दी है या वे भी यहां के माहौल से घबरा गये हैं, कोई सुखी नहीं है, न ही इस समाज में रहना चाहता है एक पलायन की प्रवृत्ति जो हमारे समाज में जीवन में घर बनाती जा रही है उसे कवि ने बहुत ही सहजता से व्यक्त किया है -

"कुंजड़िनों के झगड़ों से त्रस्त
और अपनी स्कूली पुस्तकें कहीं न पाने
से दुखी
पैसा न होने के बावजूद ललचाता हुआ
एक बच्चा
जानना चाहता है एक मुस्तण्ड खरीददार से
कितना बजा है"

(वही/113)

मानों बच्चे का भी यहां से जी भर गया है जीवन इतना संकट ग्रस्त हो गया है कि सब घबरा रहे हैं और उतावले हो रहे हैं ऐसे में कवि भी इस सब से अलग बैठा नहीं देखता न ही उपदेश देकर पैगम्बर बनना चाहता है बल्कि वह भी समाज का हिस्सा है और जीवन की धुंध से घिरा भी है, इस ऊहापोह में कवि भी कविता से पूछता है 'कितना बजा है' मानो या तो कुछ ठीक होने की प्रतीक्षा है या सब कुछ नष्ट होने में कितनी देर है यह जानना चाहता है।

स्वाधीन भारत के पचास वर्षों में कितने मूल्य टूटे हैं। आदमी ने आदमी के खिलाफ कितने प्रपंच रचे हैं ? समाज को नये-नये हथकण्डों से अपने वश में करने की कितनी और कैसी साजिशें रची गयी हैं ? लोगों ने कैसे-कैसे वेश बदल कर समाज को, राष्ट्र को छला है ? फुसलाने के बहाने कैसे धोखा करके समाज की पीठ में छुरा भोंका है ? राष्ट्र को, समाज को बर्बरता के आदिम युग में पहुंचाने के जो अमानवीय प्रयास किये गये हैं, अशोक वाजपेयी ने उन्हें बेनकाब करने की जोरदार पहल की है। यह कवि को देह और गेह का कवि कहने वालों को पुनर्विचार करने के लिए कम नहीं हैं। -

"वे रथ पर आते हैं, अश्वारूढ़ होकर
आते हैं और कभी-कभी देखने को
निहत्थे आते हैं। वे पताकाएं फहराते
आते हैं और कहते हैं कि हमें शताब्दियों

पहले की पवित्रता और शुद्धि पर वापस
जाना चाहिए, वे आते हैं व्यापारियों की
तरह और अपनी मनियारी सजाते हैं।
वे आते हैं शताब्दियों पहले के अन्याय
का बदला लेने की बात करते हुए,
वे आते हैं कीर्तन करते हुए, वे आते हैं
भजन गाते हुए। फिर वे मारते हैं, फिर
वे तोड़ते हैं, फिर वे नष्ट करते हैं।

(तिनका तिनका/2/145)

कवि के अनुसार हम बर्बर नहीं थे, हमें बर्बर बनाया गया है। यह समकालीन समाज का उसमें घट रहे सत्यों का ऐसा साक्षात्कार है कि इसकी यथार्थता को अनदेखा नहीं किया जा सकता फिर भी कवि होप (उम्मीद)करता है कि आदमी और उसके मूल्य बचे रहेंगे, उसकी आदमीयत बची रहेगी, समाज बचा रहेगा। थोड़ा सा।

"अगर बच सका
तो वहीं बचेगा
हम सबमें थोड़ा सा आदमी
जो रोब के सामने नहीं गिड़गिड़ाता,
अपने बच्चे के नम्बर बढ़वाने नहीं जाता
मास्टर के घर,
जो रास्ते पर पड़े घायल को सब काम
छोड़कर
सबसे पहले अस्पताल पहुंचाने का
जतन करता है,
जो अपने सामने हुई वारदात की
गवाही देने से नहीं हिचकिचाता
अगर बच सका
तो वहीं बचेगा
हम सबमें थोड़ा सा आदमी।"

(तिनका तिनका/1/311)

समाज के यथार्थ को पहचानते हुए आलोच्य कवि आशा करता है कि व्याप्त विसंगतियों और विद्रूपताओं के बाद भी समाज नष्ट नहीं होगा बर्बरता सब कुछ निगल नहीं पायेगी। यहीं समाज में थोड़ा सा आदमी बचा जरूर रहेगा जो कवि की तरह अपने सामने घटी वारदातों की गवाही देने से नहीं हिचकिचायेगा।

प्राचीन कवियों की अनुगूंज :-

सामाजिक सच्चाईयों की बेड़ियों में जकड़ी समकालीन कविता जहां समय में बद्ध होकर यथार्थों के सीखचों से बाहर नहीं निकल पा रही है, वहीं अशोक वाजपेयी अपनी समकालीनता से स्वतंत्र अपने से बहुत आगे तथा अपने से बहुत पीछे के समय में भी अपने काव्य में टहल आते हैं।"भाषा में घरेलू लहजे के पुनराविष्कार ने सभी चीजों के प्रति नये कवि की दृष्टि में सूक्ष्म किन्तु बुनियादी परिवर्तन ला दिया है।"[1] उदाहरण के लिए दार्शनिक सवालों के प्रति समकालीन कविता के रूख को देखा जा सकता है जिसमें प्रकृति भी शामिल है। "दार्शनिक सवालों के प्रति भी कोई बौद्धिक और औपचारिक लहजा अपनाने की बजाय समकालीन कविता एक आत्मीय और अनौपचारिक लहजा अपनाती है।" जो इन कविताओं में भी भावात्मकता का संचार कर देता है। मध्यकाल में जो दार्शनिक कविता सहज और

भावनात्मक रूप में कबीर ने रची थी। समकालीन कविता में अशोक वाजपेयी की कविता अमर मेरी काया में भी वही दार्शनिकता और आत्मीय स्मृतियों का मिला जुला लोक प्रकट हो रहा है। जिसमें कबीर की अनुगूंज स्पष्ट सुनाई दे रही है।

"उसने बालू की भीत
और पवन के खम्भे पर टिके
अपने घर के ढहने पर
कोई अचम्भा नहीं किया"

(तिनका तिनका/122)

यह बालू की भीत और पवन के खम्भे पर टिके जीवन रूपी घर का बिम्ब कवि ने मध्यकाल से सीधे 'कबीर' से उठाया है जो इस कविता में प्राचीन भाषा के साथ समकालीन कविता में गूंज रहा है। यह प्राचीन कवियों की अनुगूंज अशोक वाजपेयी की कविताओं में यत्र-तत्र सहज ही सुनायी पड़ती है। जो उनके अपने समय के आर-पार कविता में, भाषा में, बिम्बों में विचरण करने का प्रमाण है। जैसे -

"उसका भोला मन
अपनी काया की अमरता न जानता था
और न ही उसे किसी निर्गुनिया की तरह
गा सकता था।"

(वही /122)

कविता में जीवन और मृत्यु की दार्शनिक अनुभूति की पकड़ और उसे सहज भाषा के उपक्रम द्वारा सम्प्रेषित करने की कवि की कोशिश प्रशंसनीय है और सबसे महत्वपूर्ण है शरीर की अमरता के रहस्य को लक्ष्य करते हुए कबीर (निर्गुनिया) को कविता में आज प्रासंगिक करार देना तथा समकालीन काव्य में प्राचीन कवियों को ध्वनित करना और वह भी आत्मीय स्तर पर आज की कविता में एक बड़ा काम है। कबीर जैसे रहस्यवादी और समाजवादी कवि को अपनी कविता में शामिल कर अपना बना लेना सहज नहीं है -

अशोक वाजपेयी के काव्य लोक में प्राचीन कवियों की झलक नये अंदाज में दिखाई देती है जो समकालीन कविता के साथ घुल मिलकर ऐसे एकाकार हो जाती है कि पता ही नहीं चलता। यह कवि कौशल की ही देन है जो उनकी कविता में कबीर के रहस्यवाद को ध्वनित करती है तो प्रेम में अंत के बाद रसखान की तरह 'जो खग हो तो बसेरो करों नित कालिंदी कूल कदम्ब की डारन' वहीं लौटकर आना चाहती है-

"हो सकता है हम लौटें
पक्षी की तरह
और तुम्हारी बगिया के किसी नीम पर बसेरा करें
या फिर थोड़ी सी बारिश के बाद
तुम्हारे घर के सामने छा गई हरियाली की तरह
वापस आएं हम।
हो सकता है हम आएं
पलाश के पेड़ पर नई छाल की तरह"

(तिनका तिनका/2/29-30)

इन पंक्तियों में रसखान की कोमल हठ जैसे अशोक वाजपेयी के द्वारा नये रूप में प्रस्फुटित हो रही है।"वहीं जहां धूप मेरी अंजलि में यौवन की तरह एकत्र हो" जैसी पंक्ति पढ़ते हुए सूरदास के 'यो जीवन अंजुरि का जल है' का स्मरण हो आता है तो यह शब्द के अर्थ विस्तार का ही एक आयाम है।"[2]

तुलसीदास द्वारा 'रामचरित मानस' में वर्णित जीवन के आधार तत्वों और शरीर रचना में उनकी उपस्थिति की अनिवार्यता अशोक वाजपेयी की कविता अंत के बाद .....1। नये रूप में जीवन

तत्वों से पुनः अंत के बाद जीवन अर्जित करने का प्रस्ताव कर रही है, किन्तु तुलसीदास इस कविता में सहज ही आधुनिक काव्य भाषा में फिट हो जाते हैं प्राचीन कवियों के काव्य की स्मृति अशोक वाजपेयी के यहां नए रूप में विन्यस्त हुई है -

"क्षिति जल पावक
गगन समीर से
फिर कहेंगे
चलो
हमको रूप दो
आकार दो"

(वही /31)

यहां तुलसी की रचित मूल पंक्ति 'क्षिति जल पावक गगन समीरा' की मूल ध्वनि में इन जीवन तत्वों से पुनः जीवन देने के लिए कवि कह रहा है। जो तुलसी से थोड़ा आगे की बात है यह विकास और आधुनिक संदर्भों का प्रभाव है।

अशोक वाजपेयी प्राचीन ही नहीं आधुनिक श्रेष्ठ कवियों को भी आवश्यकतानुसार अपनी काव्य धारा में स्मरण करते हैं जैसे 'हरी दूब' या हरीतिमा पर ओस बूंद जैसे बिम्बों में अज्ञेय को ध्वनित करते हैं तो सावन का दूसरा दिन में, जैसी कविताओं में रघुवीर सहाय की कविता को स्थान मिलता है। अतः अशोक वाजपेयी भाषा के ही धरातल पर पीछे से शब्द लाकर प्रतिष्ठित करते हों ऐसा नहीं है ,वे प्राचीन, मध्यकालीन काव्य तथा समकालीन काव्य को भी पूर्ण आस्था के साथ समकालीन कविता में स्थान देते हैं जिससे कविता और समृद्ध हुई है। अशोक वाजपेयी की यह कविताएं जो पूर्वजों की अस्थियों से शब्द उठा रही हैं और समकालीन कविता में उन्हें पूरी आत्मीयता के साथ प्रतिष्ठित कर रही हैं, के मूल में इन्हीं प्राचीन कवियों का अर्न्तनाद समाहित है जो पहचानने से ही पहचान में आता है। वे प्राचीन शब्द उठाकर आज की कविता में बहुत सावधानी से रख देते हैं -

"हम उठाते हैं एक शब्द
और किसी पिछली शताब्दी का वाक्य विन्यास
विचलित होता है
हम खोलते हैं द्वार
और आवाज गूंजती है एक प्राचीन घर में कहीं।"

इस तरह अशोक वाजपेयी की कविता में प्राचीन कवियों की साफ और समकालीन सन्दर्भ में प्रासंगिक अनुगूंज सुनाई दे रही है।

नये काव्य विषय -

(मल्लिकार्जुन मंसूर और कुमार गंधर्व पर लिखी कविताएं)

समकालीन हिन्दी कविता में ऐसे तो कई विषय हैं जिन्हें सिर्फ अशोक वाजपेयी ने ही कविताओं में पहले-पहल उठाया है। उनमें सबसे महत्वपूर्ण है समकालीन कलाओं को, उनके मर्मज्ञों को, हिन्दी कविता में शामिल करना।

कविता और कलाओं की एक दूसरे से बेखबरी की ऐतिहासिकता को तोड़ते हुए अशोक वाजपेयी समूचे हिन्दी साहित्य में पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने अपनी कविता के दरवाजे से समकालीन कलाओं को भी वैसे ही आने दिया जैसे जीवन को, समाज को और उसके अनेक व्यापारों, विसंगतियों को। कहा भी गया है कि "जीवन के, विशेषतः सृजनशीलता के क्षेत्र के, अनेक पक्ष ऐसे हैं, जो केवल अशोक की कविताओं में ही पर्याप्त हैं, समकालीन हिन्दी कविता में अन्यत्र वे लगभग हैं ही नहीं।"यह कला प्रेम अशोक वाजपेयी का नया नहीं है (क्योंकि हमारे यहां बहुत से छद्म रचनाकार ऐसे भी है जो मौका देखकर विषय अपना लेते हैं।) 1966 में प्रकाशित अपने पहले काव्यसंग्रह 'शहर अब भी संभावना है' के सृजन संदर्भों में जीवन और समाज के साथ कलाओं को भी स्थान दिया गया है। इस संग्रह की चार बहुमूल्य कविताएं

हैं - हुसैन के एक चित्र की अचानक याद, अली अकबर खां का सरोद वादन : 1. और 2 और खजुराहो जाने के पहले। जो आरम्भ से ही समकालीन कलाओं को अपने सृजन में प्रमुखता से व्यक्त कर रही है। इस सृजन से इस बात को पहली बार अशोक वाजपेयी ने हिन्दी कविता में पुख्ता किया, कि जीवन के सन्दर्भों की अभिव्यक्ति साहित्य के समान ही कलाओं में भी स्पंदित होती है। जैसे अली अकबर खां के सरोदवादन पर लिखी यह कविता -

"खिड़की से एक पीला गुलाब रह-रहकर टकराता रहा वहीं
वह झुकी खड़ी रोती रही मैं सुनता रहा .....
कोई अपनी उंगलियों से
कांपता काला आकाश
मेरी ओर खींचता रहा
खींचता रहा.....।"

(तिनका तिनका/1/78)

जीवन का यह अंतरंग स्पंदन समकालीन कविता में कलाओं के सृजन को शामिल कर रहा है। जो समकालीन कविता जगत की एक बड़ी घटना है ओर इस पर सार्थक विचार करना अनावश्यक नहीं आवश्यक है। कला से मेरा तात्पार्य समकालीन कलाकारों के कला स्पंदन से है किसी और बात से नहीं। साहित्य भी एक कला है और इस नाते उसका अन्य कलाओं से भी अभिन्न संबंध है। साहित्य, चित्र, संगीत, नृत्य आदि सभी कलाएं अंततः मनुष्य के जीवन और उसके मनोभावों, विचारों अनुभवों आवश्यकताओं को ही व्यक्त करने के साधन हैं और सब अपनी-अपनी जगह महत्वपूर्ण और प्रासंगिक हैं। "साहित्य और कलाओं की एक दूसरे से बेखबरी के जो भी ऐतिहासिक कारण रहे हों "पर हमारे यहां इस बेखबरी को समझने की शायद आवश्यकता ही कम महसूस की गई जबकि साहित्य अन्य सभी कलाओं को अपने में अभिव्यक्त तो कर ही सकता है साथ ही लिखित शब्द के द्वारा उनका विश्लेषण सम्प्रेषण और संग्रहण भी कर सकने में पूर्णतः सक्षम है। साहित्य और समाज का एक दूसरे से अटूट संबंध है, कहा गया है साहित्य समाज का दर्पण है तो इस दर्पण में समाज के साथ-साथ उसमें ध्वनित, स्थापित ओर प्रवाहमान कलाओं के भी दर्शन होना आवश्यक नहीं है ? क्योंकि कलाएं भी जीवन के साथ, मनुष्य के साथ, अभिन्नता से संलग्न हैं - जैसे साहित्य। इसलिए साहित्य का अन्य कलाओं से संवाद होना उनके यहां आना-जाना लगा रहना, जीवन के बहुमूल्य पक्षों को बचाये रखने के लिए आवश्यक है। "हमारे यहां ऐसी स्थिति है कि निरी समकालीनता की सीधी अभिव्यक्ति के कारण साहित्य और रूपंकर कलाएं अपने को संगीत या नृत्य से अधिक अग्रगामी और संघर्षशील मानने लगी हैं। असलियत यह है कि एक 'कुमार गंधर्व' का संघर्ष एक 'मुक्तिबोध' के संघर्ष से या एक 'अब्दुल करीम खां' की साधना एक 'निराला' की साधना से किसी भी कदर कमतर नहीं है न केवल कलात्मक उपलब्धि, बल्कि संघर्ष भी।"[3] अतः साहित्य हो या संगीत जीवन का संघर्ष दोनों मे विद्यमान होता है, इस अर्थ में जीवन से दामन बचाकर साहित्य या कलाएं नहीं निकल सकतीं। आज जब "कविताएं मानो प्रवचन, प्रचार-सामग्री, विज्ञापन, इश्तहार, हलफनामा, युद्ध, नृत्य, घूस या कि दलाली के सन्धिपत्र जैसे कुछ चीज बनाना ही चाहती दिखती है।"[4] कवि का अपने समकालीन संगीत सम्राटों को संगीत की बारीक अनुभूति के साथ कविता में चित्रित करना समकालीन कविता की असाधारण उपलब्धि है। अशोक वाजपेयी ने खजुराहो की कलात्मकता को अपने काव्य में संजोया है तो हुसैन और जगदीश स्वामीनाथन के चित्र भी उनकी कविताओं से छूट नहीं पाये हैं। अली अकबर खां के सरोदवादन के तारों की स्वर लहरियां उनकी कविता में समाहित है तो कुमार गंधर्व के अखिल ब्रह्माण्ड में गूंजने वाला अनहद नाद भी उनकी काव्य परिधि में प्रमुखता से ध्वनित हुआ है। मल्लिकार्जुन मंसूर पर तो लिखी उनकी कविताएं समकालीन कविता की धरोहर हैं। इस संबंध में कहा गया है कि" मल्लिकार्जुन मंसूर पर जो अशोक की कविताएं हैं उनमें कमाल की भव्यता है उनमें उभरते विराट प्रतीक और गरिमामय बिम्ब, काव्य पाठ, प्रवाह,शब्द स्फूर्ति, चित्रमयता सभी कुछ सुन्दर है ये कविताएं अशोक वाजपेयी की बहुत बड़ी संभावनाओं का द्वार खोलती हैं। उनकी

बड़ी सामर्थ्य प्रकट होती हैं।"[5] जैसे -

"वे मल्लिकार्जुन मंसूर हैं
वे धीर समय हैं
अविचल काल हैं
निश्छल हंसी हैं
वे बूढ़े ईश्वर की तरह सयाने पवित्र
एक बच्चे की फुरती से-
आते हैं
उंगली पकड़
हमें अनश्वरता के पड़ोस में ले जाते हैं"

(तिनका तिनका/2/344)

"मल्लिकार्जुन मंसूर पर लिखी कविता अपने समय के एक महान् संगीतज्ञ को श्रद्धांजली भी है और उसके माध्यम से उनका व्यक्ति चित्र भी।"[6] जैसे -

"मल्लिकार्जुन मंसूर
अपने भरे पर फिर भी सीधे बुढ़ापे में
हलका सा झुककर रखते हैं
काल के कंधे पर अपना हाथ
ठिठककर सुलगाते हैं अपनी बीड़ी
चल पड़ते हैं फिर किसी अप्रत्याशित पड़ाव की ओर"

(वही/345)

इन कविताओं में "संगीत की बारीक पर्यवेक्षणा भी है और दया से हीन तथा महान मानव के सामने तुच्छ कुटिल ईश्वर की भर्त्सना भी।"[7] जैसे -

"अपने लिए कुछ नहीं बटोरते उनके संत हाथ
सिर्फ लुटाते हैं सब कुछ
गुनगुनाते हैं पंखुरी-पंखुरी सारा संसार
ईश्वर आ रहा होता घूमने इसी रास्ते
तो पहचान न पाता कि वह स्वयं है
या कि मल्लिकार्जुन मंसूर"

(वही/345)

हिन्दी के प्रसिद्ध निबंधकार और कवि श्री विद्यानिवास मिश्र ने अशोक वाजपेयी की संगीत, चित्र, नृत्य आदि पर लिखी कविताओं को लेकर कहा है कि "ऐसी कविताएं भारतीय कविता में तो विरल हैं ही, विश्व कविता में भी विरल हैं।"[8] बहुरि अकेला खण्ड में संग्रहीत कुमार गंधर्व की गायकी पर इक्कीस कविताएं "जितनी संगीत की आंतरिकता में भी प्रवेश करती है और उस प्रारूप से खुलती भी हैं।"[9] उतनी ही तीक्ष्ण रूप से कुमार गंधर्व की गायकी पर खोज भी करती हैं और मृत्यु से सूक्ष्म साक्षात्कार भी -

"यह सयानी होती ढीली पड़ती त्वचा में
नवजात सी कंपकपी क्यों
पतझरे वृक्ष की किसी दिगम्बर शाखा पर
एक किसलय की हरी सुगबुगाहट कैसी ?
यह मृत्यु की खोखली आंखों में
जासूस की तरह
तांक झांक करता जीवन कहां से ?"

(वही /170)

"इस तरह बहुरि अकेला क्रम से अशोक वाजपेयी ने श्रद्धांजलि स्वरूप कुमार गंधर्व पर जो कविताएं लिखी हैं, वह बहुत मार्मिक तो हैं ही मत्यु के बहाने जीवन की गहन पड़ताल भी है।"[10] जैसे -

"मरने के पहले भी आते हैं
जीने में कितने स्थगन"

(वही/174)

बहुरि अकेला संग्रह की कविताओं में कवि एक तरफ मृत्यु से संवाद कर रहा है तो दूसरी ओर "गूढ़ दार्शनिक प्रश्न भी उठाता है और जीवन का उसे एक चरण मान अपदस्थ भी कराता है।"[11] "और हम झांक नहीं पाते/द्वार के पार/हम देख नहीं पाते कि। एक द्वार खुला और फिर बंद हुआ/आग के आरपार।"[12] "बहुरि अकेला खण्ड की कविताओं को भाव प्रवण शोकगीत"[13]कहने और विदागीत कहने में कोई अंतर नहीं है, हिन्दी कविता में निराला की सरोज स्मृति से इन विदागीतों की तुलना की जा सकती है। क्योंकि निराला और अशोक वाजपेयी का सरोज स्मृति और बहुरि अकेला के "बीच की इस लम्बी अवधि में किसी भी कवि के यहां ऐसी करूणापरक मगर मृत्यु का अर्थ तलाशती कविताएं नहीं" [15] जैसे -

"जो जाता है
थोड़ा-थोड़ा हमें भी ले जाता है
और इसलिए कभी
पूरी तरह से नहीं जाता है।.....
उम्मीद का अब कोई रंग नहीं है
जैसे हवा है
दुख है
यह वह न कर पाने का पश्चाताप है।
सब कुछ वैसा ही है
मानों कि कुछ हुआ ही न हो
या कि असंख्य में से सिर्फ एक घट गया हो।"

(तिनका तिनका/2/175/189/194)

मृत्यु को जीवन के बिम्ब से व्यक्त करने का यह ढंग समकालीन कविता की अनोखी धरोहर है मृत्यु में भी कवि जीवन और उसकी वस्तुओं को जीवित कर रहा है

"साकल खोलने कीचड़ सने जूते उतारने
छाता और लाठी कोने मे धरने
गुनगुनाते यात्रा पर निकलने का
समय
अनंत का समय
आरम्भ का समय।"

(वही/196)

भाव की इस कठिन अभिव्यक्ति में भी गजब की सम्प्रेष्णीयता और सरलता अतुलनीय है। सम्पूर्ण हिन्दी कविता में जीवन और मृत्यु विषयों पर लिखी गई कविताओं की पड़ताल करें तो हम पाते हैं कि कबीर के बाद अशोक वाजपेयी की ये कविताएं दुरूह विषय पर होते हुए सरल सम्प्रेणीय और भावों, बिम्बों में समृद्ध भी है। कवि रोजमर्रा के जीवन से वस्तुएं उठाकर उन्हें मृत्यु और जीवन के व्यक्त होने करने का माध्यम बनाता है जो उन कतिपय आलोचकों को दिखायी नहीं दिया है जिन्होंने इस कविता पर दुरूहता असम्प्रेष्णीयता का आरोप लगाया है।

अत: "कविता की क्लासिकी के लिए बदनाम अशोक वाजपेयी का कवि रूपवादी होने का आरोप झेलकर भी उसके विन्यास को सुरक्षित रख पाया है तो इसमें उसका कम हिन्दी कविता का हित ज्यादा

है।"[15] कवि वह एकला व्यक्ति है जिसने समकालीन कविता में गहरे हस्तक्षेप के साथ-साथ संगीत, चित्र आदि कलाओं में भी हिन्दी कविता के प्रवेश की राह खोली है। वह भी इन कलाओं की गहरी समझ के साथ। खजुराहो, हुसैन के चित्र, जगदीश स्वामीनाथन के चित्र, अली अकबर खां, कुमार गंधर्व, मल्लिकार्जुन मंसूर आदि को कविता का विषय बनाने वाला कवि पहला व्यक्ति है। इस अर्थ में इन कविताओं का मूल्य हिन्दी कविता के लिए किसी भी रूप में अन्य ज्वलंत विषयों से कम कर नहीं आंका जा सकता।

मृत्यु और अनुपस्थिति -

बकौल कवि "मुझे देहवादी, रीतिपरक और रति आक्रान्त कवि कहा गया है। अब्बल तो मैंने जितना प्रेम पर लिखा है लगभग उतना ही मृत्यु और अनुपस्थिति पर भी। जितना हर्ष उल्लास पर, उतना ही विषाद और उदासी पर भी।"[1] मुझे लगता है जैसे आलोचकों को अशोक वाजपेयी की कविताओं में मृत्यु और अनुपस्थिति, विषाद और उदासी दिखाई ही नहीं दी है पर क्यों ? ऐसा तो नहीं की लोगों ने कविताओं के इस जरूरी और विचारणीय विषय को जानबूझकर छोड़ दिया हो। खैर जो भी हो, कवि की कविता में जिस अंदाज में जीवन का स्पंदन चीजों, वस्तुओं से प्रकट होकर हमें प्रभावित करता है, उतनी ही मृत्यु भी। तिनका-तिनका काव्य संग्रह की भूमिका में स्वयं कवि ने लिखा है-"यह ठीक है कि मैं जीवन का होने का, प्रेम और प्रकृति का उत्सव मनाता हूं यह मेरी काव्य जिजीविषा का स्वभाव है। पर मेरी कविता सिर्फ यही नहीं करती है वह अवसाद और अनुपस्थिति की नगण्यता और उदासी का भी अन्वेषण लगातार करती रही है।"[2] जैसे -

"हम न होंगे
जीवन और उसका अनन्त स्पन्दन
कड़ी धूप में घास की हरीतिमा
प्रेम ओर मंदिरों का पुरातन स्थापत्य
अक्षर भाषा और सुन्दर कविताएं
इत्यादि लेकिन फिर भी सब होंगे
किलकारी उदासी और गान सब
बस हम न होंगे।"

(तिनका-तिनका/2/22)

कविता में अशोक वाजपेयी जब मृत्यु अवसान या प्रस्थान की बात करते हैं तो उनके यहां मृत्यु में भी दार्शनिकता के साथ-साथ उसके सहज और अनिवार्यता को भी कविताएं अपने भीतर से उद्घाटित करती हैं, मृत्यु जीवन से अलग कोई द्वीप नहीं है बल्कि जीवन का ही एक छोर है, जिसे कवि ने बहुत ही सहज भाव से अपने बिम्बों के द्वारा चित्रित किया है, अनुपस्थिति को कवि नये कविता बिम्बों से ध्वनित करते हुए कहता है -

"कोई नहीं देख पायेगा
हमारा न होना
जैसे प्रार्थना में डूबी भीड़ से
लोप हो गए बच्चों को
कोई नहीं देख पाता।"

(वही/125)

कवि अपनी अंत विषयक कविताओं में फिर-फिर कर जीवन में लौटता है वह अपनी आखिरी उड़ान भरने से पहले नीम की डाली पर बैठी चिड़िया के पास भी विचरण करता है वह अंतिम यात्रा में जाने के पूर्व अपनी जीवन स्मृतियों को जैसे छूकर देखता है, वह मृत्यु से डरता हरगिज नहीं है हां जीवन की वस्तुओं से हमेशा के लिए छूट जाने से उदास अवश्य होता है मृत्यु को नये अंदाज में जिस तरह कवि ने देखा है मृत्यु से उन्हें कोई शिकायत नहीं है वह बहुत निकट से मृत्यु निहारता है -

"साथ क्यों नहीं जायेगा हमारा बचपन
उसकी आकाश चढ़ती पतंगें"

(वही/23)

मृत्यु के बहाने जीवन की गहन पड़ताल करता हुआ यह कवि जीवन को सापेक्ष रखकर जैसे मृत्यु से भी संवाद कर रहा है, कभी वह जीवन की बहुत सी स्मृतियों, वस्तुओं को साथ न ले जा पाने से अवसाद ग्रस्त होता है तो कभी-'हम सब कुछ छोड़कर/यहां से नहीं जायेंगे/साथ ले जायेंगे/जीने की झंझट, धमासान और कचरा/सुकुमार स्मृतियां, दुष्टाएं/ और कभी न कम पड़ने वाले शब्दों का बोझ' आदि साथ ले जाने का दम्भ भी भरता है। फिर वह यह भी कहता है रसखान की तरह कि हो सकता है हम लौटें/ पक्षी की तरह/और तुम्हारी बगिया के किसी नीम पर बसेरा करें। यह लौटकर फिर वहीं आने की अदम्य आकांक्षा कवि की जिजीविषा को व्यक्त करती है। इससे सहज ही यह बात स्पष्ट होती है। कि जीवन में यहां अभी भी बहुत कुछ बचा रह गया, जो फिर से लौटकर आने को पुष्ट कर रहा है कवि मृत्यु के सभी पक्षों को विश्लेषित करने में सफल हुआ है, जीवन के आखिरी छोर से जो कुछ दिखायी देता है वह उसे देख ही रहा है साथ ही वह उस छोर के आगे भी देखने की प्रबल कोशिश करता है जैसे -

"अंत के बाद
कुछ नहीं होगा
न वापसी
न रूपान्तर
न फिर कोई आरम्भ
अंत के बाद
सिर्फ अंत होगा।"

(तिनका -तिनका/2/33)

कविता में यह आम सच्चाई ओर उसमें सीधी-साधी भारतीय दार्शनिकता को बड़ी कुशलता से कवि ने व्यक्त किया है। कवि ने 'कहीं नहीं वहीं' संग्रह में जीवन और आध्यात्मिक अनुभूतियों को एक दूसरे में जिस तरह पिरोया है यह समकालीन कविता के इन चीजों से दूर होते समय में एक अद्‌भुत प्रयास है, जिसका बृहत स्तर पर मूल्यांकन किया जाना चाहिए।

कुमार गंधर्व के अवसान पर लिखे विदागीत 'बहुरि अकेला' संग्रह में तो कवि ने हिन्दी काव्य में जैसे सरोज स्मृति (निराला)से भी आगे निकलकर नयी परम्परा की स्थापना की है। वह मृत्यु को देखकर कहता है "यह अभिषेक का समय है/जीने के धूल-धक्कड़/मैल कलुष को तजने का/समय है "यहां कबीर की तहर चदरिया ज्यों की त्यों धर दीन्ही का समय है "समय हवा की तरह हल्के होने का/जो कुछ किया धरा/उसे ज्यों का त्यों/उतारने का/समय है "कवि जैसे हमारे अतीत और वर्तमान की सारी मान्यताओं को मिलाकर कुछ नया कहना चाह रहा है,पर जाने क्यों रह जाता है, फिर भी हमारी मृत्यु विषयक सारी अतीत की अनुभूतियों को वह आज के साथ लाकर खड़ा कर देता है, जो काव्य की उत्कृष्टता की परिचायक तो है ही भारतीय संस्कृति की पहचान भी है।

कवि ने मृत्युपरक कविताओं में जीवन की समाप्ति को कई कोणों से देखा है इन कविताओं में कहीं मृत्यु का सहज वरण है तो कहीं उससे छीना झपटी, तो कहीं "विछोह के बाद प्रिय से संवाद" जैसे गूढ़ दार्शनिकता भी विद्यमान है। कवि ने जीवन और मृत्यु को एक दूसरे के बहुत पास से क्यों देखा है, क्योंकि "मृत्यु वस्तुतः जीवन का ही एक अनिवार्य चरण है उसमें विषाद क्या और उलझन क्या ? वह तो महायात्रा है जहां मनुष्य का जीवन एक अध्याय समाप्त कर दूसरे अध्याय की शुरूआत करता है।"[4] 'अनन्त का समय/आरम्भ का समय है"यहां मृत्यु कितनी सहज और वरेण्य बन पड़ी है। मृत्यु से तादात्मय स्थापित करते हुए कवि ने जीवन के बहुत मार्मिक चित्रों को उकेरा है। आज के हिन्दी समाज में बहुत कम लोगों को फिक्र है कि कल यह टुटही मेज और बाल्टी बची रहेगी भी की नहीं।

आलोच्य कवि की कविताओं का कोई संग्रह ऐसा नहीं है जहां प्रेम हो, जीवन हो, श्रृंगार हो, पर

मृत्यु पर आपको कविता न मिले। समकालीन कविता में शोकगीत की बात यदि की जाये तो अशोक वाजपेयी अकेले वह व्यक्ति हैं जिन्होंने यह साहस जुटाने की सामर्थ्य हासिल की। "शोक में भी तोष लेने और देने की यह उदात्तता हिन्दी कविता में पहली बार दिखाई देती है जहां कवि दुख से कातर होकर व्यग्रता में विह्वल नहीं है, वरन नाना प्रकार के तर्कों से वह स्वयं को सन्तुष्ट करता है, धैर्य बंधाता है और एक तरह से स्वागत कर मृत्यु के आतंक को भेदता है, उसे अनावृत करता है।"[5]

"विदा का कोई समय नहीं है
हर क्षण विदा है
जो बीतता है विदा लेता है
अक्सर बिना जाने भी"

(तिनका-तिनका/2/179)

अशोक वाजपेयी की "मृत्यु विषयक कविताएं अपनी भावांजलि में भी इतनी सार्वजनिक सम्वेदना से पगी हैं कि व्यक्ति तार-तार हो जाता है।"[6] यह कविताएं पहली निगाह में ही जीवन की व्याख्या कर रही हैं। बीतने को कवि विदा कहता है और वहां मृत्यु की चर्चा नहीं करता जबकि उस विदा के द्वारा वह मृत्यु को उसके जीवन में कई बार घटित होने की बात करता है। उसके लिए विदा नयी बात नहीं है कवि के लिए प्रत्येक बीतने वाला पल उसके अंत से दूरी कम होना है।

आलोच्य कवि जीवन की पूरी समग्रता में तो पहुँच रखता ही है, वह अंत और अनन्त के दरवाजों को भी खोलने की कोशिश करता दिखता है, यह जीवन की पूर्णता को कविता के केनवास में से समेटने का उपक्रम नहीं तो क्या है ? कविता में वस्तुओं से जितनी अपेक्षा अभिव्यक्ति की, की जा सकती है, यहां मिलती है। जीवन के संदर्भों के साथ में भी वस्तुएं साकार हो उठी हैं। यहां वस्तुएं भी व्यक्ति की उपस्थिति, अनुपस्थिति का एहसास करने लग जाती हैं, यह कम बड़ी बात नहीं। अशोक वाजपेयी द्वारा मृत्यु और अनुपस्थिति पर लिखी कविताओं पर जितना यहां कहा गया यह तो इन कविताओं का परिचय मात्र है, क्योंकि विषय की सीमाओं के कारण यहां ज्यादा लिख पाना संभव नहीं। अंत में मैं यही कहूँगा कि अशोक वाजपेयी का काव्य संसार जीवन की विविधताओं और भिन्नताओं का संसार है, उसमें जीवन के सभी पक्ष गहरी अनुभूति के साथ अभिव्यक्त हुये हैं। अतः वे देह और गेह के ही कवि नहीं है वे अंत और अनन्त के भी कवि है।

निष्कर्ष -

अशोक वाजपेयी के कविता संसार में हमें अनेक विविधताएं देखने को मिलती हैं। किन्तु घृणा, जुगुप्सा, हास-परिहास, विनोद, भक्ति, वैराग्य अनेक महत्वपूर्ण बौद्धिक पक्ष उनके यहां अनुपस्थित हैं, "लेकिन तब भी उनकी कविता के संसार में भरपूर विविधता, विशदता और अभिरामता है। प्रत्येक पद मानो एक बिखरी स्वर लहरी सा सम्बद्ध रचना संगीत का उल्लासित अंग है। किसी नृत्यांगना के नृत्य निरत अंगों सा वह काव्य नृत्य का विशिष्ट और सम्यक हिस्सा है।"[7] शब्दों का कविता में अविस्कृत सहज और प्राणमय विन्यास समकालीन हिन्दी कविता में कम ही देखने को मिलता है जैसा अशोक के यहां है अशोक वाजपेयी की काव्य यात्रा के सोपानों में अनेक पक्ष ऐसे भी हैं जो केवल अशोक की ही कविता का विषय पहली बार बने हैं और "समकालीन हिन्दी कविता में अन्यत्र वे लगभग हैं ही नहीं।" कुमार गंधर्व, मल्लिकार्जुन मंसूर, जगदीश स्वामीनाथन, खजुराहो आदि पर भारत में लगभग वे पहले कविता लिखने वाले कवि हैं। इस मायने में वे विश्व स्तरीय व्यक्ति बन गये हैं।

अशोक वाजपेयी की कविताओं की सबसे महत्वपूर्ण और अहम् विशेषता है कविता में भाषा के स्तर पर तद्भव के बरक्स तत्सम की विनम्र उपस्थिति। बकौल कवि "मेरी कोशिश अपनी कविता में भाषा को याद करने की है।"[8] जिसे समकालीन कविता में लगभग हाशिये पर धकेल दिया गया है। भाषा के चालूपन के खिलाफ अशोक वाजपेयी का रचनात्मक संघर्ष हिन्दी कविता की नई कड़ी है।

अशोक वाजपेयी मूलतः जीवन के स्वीकार के कवि हैं अस्वीकार के नहीं। किन्तु जिस अर्थ में उन्हें देह और गेह वादी कहा गया है वह ठीक नहीं है। क्योंकि प्रेम और श्रृंगार के अलावा भी उनके काव्य

संसार में बहुत कुछ है जो बहुत मूल्यवान और श्रेष्ठतम है जिसमें मृत्यु और अनुपस्थिति पर लिखी कविताएं भी किसी दृष्टि से प्रेम और श्रृंगार पर लिखी कविताओं से अधिक हिन्दी काव्य को समृद्ध करती हैं। और उन्हें ही लगातार नजर अंदाज किया जा रहा है।

अशोक वाजपेयी की "कविताएं उस तरह मनुष्य आक्रांत कविताएं नहीं है जिस तरह हिन्दी की अधिकांश कविताएं है।"[9] उनकी कविताएं शाश्वत, मूलगामी आध्यात्मिक तो हैं ही साथ ही वे समकालीन मनुष्य समाज को पूरी तरह नहीं छोड़ देतीं, थोड़े स्तर पर ही सही 'जबरजोत' जैसी कविताओं में समाज भी ध्वनित हुआ है।

बहुरि अकेला खण्ड में जीवन और उसके विभिन्न आध्यात्मिक पक्षों पर दृष्टिपात करने की उन्होंने जो कोशिश की है वह समकालीन हिन्दी कविता में एक श्रेष्ठ प्रयास है। आरम्भ से ही कवि की कविताओं में मनुष्य और उसके मानवीय संबंधों की व्यापकता उनमें रही है।

पारिवारिक संबंधों स्मृतियों पर वे कविता लिखने वाले एक बड़े कवि हैं जिन्होंने मां, बहिन, बेटी, पत्नी, बहू, बेटा,भाई आदि निकट संबंधों पर कविताएं लिखी हैं। कविता में एक भरापूरा घर बसाने की कोशिश आलोच्य कवि ने लगातार की है और किसी हद तक यह कोशिश उनकी सफल भी रही है। इस अर्थ में उनकी कविताएं जीवन के घरेलूपन की सजीव स्मृति हैं एक तरह से कविता में घर बसाने ही उनकी कोशिश सार्थक हुई है।

निष्कर्षत: अशोक वाजपेयी के कविता संसार पर एक विहंगम दृष्टिपात करने पर जो तथ्य उभरकर सामने आते हैं उनमें सबसे महत्वपूर्ण है कि आलोच्य कवि श्रृंगार और प्रेम का ही प्रतिनिधित्व नहीं करता, अनुपस्थिति और मृत्यु भी खुलकर उसकी कविताओं में बोलती है। यदि एक तरफ व कोमल सुकुमार भावनाओं में तल्लीन होकर संसार को स्पर्श करने की कोशिश करता है तो दूसरी ओर बर्बर होते जा रहे समाज का, राष्ट्र का चित्र भी वह खींचता है। संगीतकारों, नृत्य, चित्रकला आदि पर वैचारिक और गहरी अनुभूति की कविता लिखकर उसने पहली बार भारतीय कविता में इन नये विषयों की आधार शिला भी रखी है जिसे साधारण समझकर नजर अंदाज नहीं किया जाना चाहिए।

कवि केवल जातीय तौर पर ही अपने पुरखों के आस-पास मंडराता दिखाई नहीं देता है बल्कि वह हिन्दी कविता के पुरखों,(कबीर, तुलसी, रसखान)हिन्दी भाषा के पुरखों (तत्सम)के आस-पास भी जाता है। और तद्भव के बरक्स तत्सम को रखता है। वह कबीर, सूर, तुलसी जैसे प्राचीन कवियों को भी अपनी कविता में याद कर रहा है उनकी भाषा को याद कर रहा है। तो अज्ञेय, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय का प्रभाव भी उस पर है। अत: अशोक वाजपेयी की कविता बहुमुखी प्रतिभा की द्योतक हिन्दी काव्य को चालू दौर से कहीं अधिक समृद्ध करने की क्षमता लिए एक प्राणवान अभिव्यक्ति का साक्ष्य है जो मूल्यवान और प्रभावी है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची -

१. अशोक वाजपेयी/तिनका-तिनका /(फिलिप से)
२. वही
३. वही
४. अशोक वाजपेयी/पहचान सीरीज प्रथम अंक/संपादक
५. प्रो. कमला प्रसाद/आधुनिक हिन्दी कविता और आलोचना की द्वंदात्मकता पृ./४४४
६. सतीश जमाली का लेख/कल्पना, २१० वां अंक (१९६९) १३३
७. कांति कुमार/नयी कविता/३५
८. वही/३४
९. वही/३५
१०. वही/३५
११. कल्पना २१० वां अंक १९६९/१३३
१२. इन्द्रनाथ मदान/आधुनिकता और सृजनात्मक साहित्य/५७
१३. अशोक वाजपेयी/थोड़ी सी जगह/फिलिप
१४. मदन सोनी/साक्षात्कार/जनवरी मार्च/५३
१५. अशोक वाजपेयी/शहर अब भी संभावना है/बसंत दिन/१८
१६. अशोक वाजपेयी/थोड़ी सी जगह/फिलिप से
१७. वही/१९
१८. वही/२२
१९. गोविन्द द्विवेदी/अन्तराल में/३५
२०. हंस/ललित कार्तिकेय का लेख/१०० वां अंक/नवम्बर-दिसम्बर
२१. वही
२२. वही
२३. सुषमा भटनागर/साक्षात्कार/जनवरी-मार्च/(९५) १२२
२४. वही
२५. वही/१२३
२६. वही/१२४
२७. अशोक वाजपेयी/घास में दुबका आकाश/१२४/भूमिका
२८. अशोक वाजपेयी/थोड़ी सी जगह/५७

परिवार -

१. प्रेम शंकर/नयी कविता की भूमिका/५८
२. वही/५९
३. वही/५९
४. प्रेम शंकर/नयी कविता की भूमिका/५९
५. वही/६०
६. वही/५९
७. साक्षात्कार/जनवरी-मार्च(९५)/पृ.१०८
८. प्रेम शंकर/नयी कविता की भूमिका/६०
९. साक्षात्कार/सितंबर(९५)पृ.५६(नंदकिशोर आचार्य का लेख)
१०. वही/५६
११. वही/५६

१२. वही/५७
१३. वही/५७
१४. वही/५७
१५. वही/५७

भाषा में तत्सम की सर्जना -

१. अशोक वाजपेयी/तिनका-तिनका/भाग १/भूमिका पृ.१६
२. वही/१३,११
३. वही
४. वही
५. मदन सोनी/विषयान्तर/१३०
६. अशोक वाजपेयी/अगर इतने से/भूमिका
७. मदनसोनी/विषयान्तर/१३१
८. वही
९. वही/१३१.१३२
१०. वही/१३२
११. वही
१२. वही
१३. वही
१४. साक्षात्कार/सितंबर/९६/५७
१५. वही
१६. वही/६१
१७. वही/६१
१८. वही/६२
१९. अशोक वाजपेयी/तिनका-तिनका भाग १/भूमिका

सामाजिक चेतना -

१. अशोक वाजपेयी/तिनका-तिनका भाग-१/१८७/(जबर जोत)
२. वही/१८९
३. वही/१९०
४. अशोक वाजपेयी/तिनका-तिनका/भाग-२/३५०/(यही हमारा समय है)
५. वही/३४९-३५०
६. वही/३५०
७. वही/कितना बजा है/११३
८. वही /११३
९. वही/बर्बर/१४५
१०. अशोक वाजपेयी/तिनका तिनका भाग-१/थोड़ा सा/३११

प्राचीन कवियों की अनुगूंज -

१. नंदकिशोर आचार्य/ साक्षात्कार सितम्बर-९६/५७
२. वही/५८
३. वही/६१
४. अशोक वाजपेयी/तिनका- तिनका भाग-१/१२२(अमर मेरी काया)
५. वही/१२२

६. अशोक वाजपेयी/तिनका-तिनका भाग-२/वापसी/२९-३०
७. वही/अंत के बाद-१
८. अशोक वाजपेयी/तिनका-तिनका भाग-१/२३४

नये काव्य विषय –

१. साक्षात्कार जनवरी-मार्च ९५/११५ पंकज का लेख
२. अशोक वाजपेयी/तिनका-तिनका-१/७८
३. अशोक वाजपेयी/समय से बाहर/१९
४. वही/२१
५. साक्षात्कार/जनवरी-मार्च/९५/११५
६. साक्षात्कार/जनवरी-मार्च/९५/११५
७. वही/१३१
८. वही/१३१
९. वही/१३३
१०. वही/१३३
११. वही/१३२
१२. वही/१३२
१३. अशोक वाजपेयी/तिनका-तिनका भाग-२/१७६
१४. साक्षात्कार जनवरी-मार्च ९५/१३२
१५. वही/१३२
१६. वही/१३५

मृत्यु और अनुपस्थिति –

१. अशोक वाजपेयी/तिनका-तिनका भाग-१/भूमिका
२. वही
३. वही/भाग-२/२२
४. वही/२५
५. वही/२३
६. साक्षात्कार जनवरी-मार्च/९५/१३२
७. अशोक वाजपेयी/तिनका-तिनका/२/२६ सब कुछ छोड़कर नहीं जायेंगे
८. वही/वापसी/२९

अध्याय -5

अशोक वाजपेयी का समीक्षा जगत और चिन्तन विश्व

अशोक वाजपेयी की समीक्षा पर तल्ख टिप्पणी करते हुए किसी विद्वान ने टिप्पणी की थी कि वह "कुर्सी पर टिकी आलोचना है। लोगों के अपने-अपने पूर्वग्रह, नजरिये, राग, द्वेष हो सकते हैं किन्तु यदि हम आलोचक का उसके द्वारा धारित प्रशासनिक पद के आधार पर ही मूल्यांकन करने लगे तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से लेकर हजारी प्रसाद द्विवेदी तक ऐसी टिप्पणियों के शिकार बनाये जा सकते हैं। परसाई जी ने कई जगह आलोचना के लिए आलू-चना शब्द का प्रयोग करके समीक्षा के प्रति लोगों के उथले सोच की ओर इशारा किया है। अशोक वाजपेयी के साहित्यिक जीवन की शुरूआत जिस पुस्तक से विधिवत मानी जाना चाहिए वह उनकी समीक्षा पुस्तक 'फिलहाल' है। फिलहाल के प्रकाशन पूर्व हिन्दी आलोचना में लग रहा था कि धरती वीरों से खाली है किन्तु 'फिलहाल' की समीक्षा पद्धति आलोचना दृष्टि ने इस अनुमान को झुठलाया। उस समय नये लेखकों पर लिखना एक तरह से जोखिम भरी बात थी।"[1] "यह वह समय था जब आलोचना बड़े-बड़े या अशोक जी के शब्द उधार लेकर कहूं तो "वरिष्ठ या सिद्ध मान लिये गये लेखकों पर ही केन्द्रित थी।"[2] इसी समय अशोक वाजपेयी ने साहस का परिचय देते हुए अपने समवयसीयों, धूमिल, कमलेश, विनोद कुमार शुक्ल पर लिखा "सातवें दशक में रचना के क्षेत्र में परिवर्तन के साथ ही आलोचना में भी परिवर्तन के लक्षण प्रकट होने लगे थे।"[3]यह समय साहित्य में युवा पीढ़ी के प्रवेश का था। इसलिए नये-नये का जोर ज्यादा था इसके साथ ही एक बात और थी, इस दौर के लेखकों का रूख आलोचना विरोधी भी खूब था। इस समय जो आलोचक उभरकर आए उनमें अशोक वाजपेयी और रमेश चन्द्र शाह प्रमुख उल्लेखनीय नाम हैं।

अशोक वाजपेयी की आलोचना का पहला और चर्चित सोपान उनकी पहली आलोचना कृति फिलहाल है, जिस पर पृथक रूप से विचार करना आवश्यक है।

फिलहाल - (1970) का समीक्षा जगत और चिन्तन विश्व -

कॉलरिज की बात को अपने शब्दों में कहूँ तो 'आलोचना का प्रमुख उद्देश्य साहित्य सृष्टि में प्रमुख योगदान होता है।' "जिस देश का आलोचना साहित्य जितना समृद्ध और सम्पन्न होगा वहां का साहित्य भी उतना ही समृद्ध और सम्पन्न होगा।"[4] आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने अपने प्रसिद्ध समीक्षा ग्रंथ 'नया साहित्य नये प्रश्न' के आरम्भ में कहा है "साहित्य का सृष्टा मनुष्य है। मनुष्य के लिये ही साहित्य की सृष्टि है "। फिर इसे मनुष्य से अलग कैसे किया जा सकता है। अशोक वाजपेयी की प्रथम आलोचना पुस्तक 'फिलहाल' की समीक्षा के केन्द्र में भी समकालीन मनुष्य की हालत की पहचान का उद्देश्य गहरा है।

"सातवें दशक में रचना के क्षेत्र में परिवर्तन के साथ ही आलोचना में भी परिवर्तन के लक्षण प्रकट होने लगे थे।"[5] "उथल-पुथल का यह दशक खत्म होते ही नयी कविता के आंदोलन बेजान होते देखे गये। इसी समय कविता और कहानी में युवा पीढ़ी ने नये तेवर के साथ साहित्य में प्रवेश किया जिसका मुहावरा ही नया नहीं था बल्कि जिसकी यथार्थ दृष्टि का आग्रह भी प्रबल था।"[6] किन्तु इस समय की एक प्रमुख घटना यह थी की इस दौर के लेखकों का रूख सामान्यत: आलोचना का प्रबल विरोधी था। किन्तु विपरीत परिस्थिति में भी रचना के भीतर से कुछ अपने आलोचक उभर ही आए। इन उभरे हुए आलोचकों मे अशोक वाजपेयी और रमेशचन्द्र शाह के नाम विशेष रूप से लिये जाते हैं।

आलोचना की चुप्पी और शास्त्रीयता को तोड़ते हुए अशोक वाजपेयी ने आलोचना की अपनी पहली पुस्तक 'फिलहाल' में समकालीन कविता की विवेचना करते हुए न्यायसंगत विचार किया है। फिलहाल में अज्ञेय, मुक्तिबोध, श्रीकांत वर्मा से लेकर धूमिल, कमलेश और विनोद कुमार शुक्ल जैसे युवा कवियों की समीक्षाएं सम्मिलित हैं। अशोक वाजपेयी मूलत: कविता के आलोचक हैं वे स्वयं भी

कवि हैं। इसलिए उन्होने कविता को बहुत गहरे तक जाना है। आलोचना अशोक वाजपेयी जी के लिए कोई आपद्धर्म नहीं है। इसीलिए वे कविता के साथ न्याय कर सके हैं। फिलहाल के आरम्भ में ही दृश्यालेख में उन्होने कहा है कि "आलोचना को अपने लिए आपद्धर्म मानने की एक वजह शायद यह भी रही है कि कवि का एक आग्रह आलोचना को दूसरे दरजे का काम मानने का रहा है।"[7] पर अशोक जी के यहां यह गुंजाइश जरा भी नहीं। समकालीन काव्य का अशोक वाजपेयी ने इतना सूक्ष्म और विचारपूर्ण विश्लेषण किया कि वे 'अज्ञेय' जैसे कवि को अप्रासंगिक घोषित करने और 'मुक्तिबोध' की प्रासंगिकता को रेखांकित करने से पीछे नहीं हटे। डॉ. निर्मला जैन ने कहा है कि "यह उनके (अशोक वाजपेयी) आलोचनात्मक विवेक का प्रमाण है कि उन्होने समकालीन काव्य का समर्थन आंख मूंदकर नहीं किया। एक ओर उन्होने गैर रूमानियत का दावा करने वाली आक्रोशपूर्ण अकविता के रूमानीपन का उद्घाटन किया तो दूसरी ओर समकालीन कवियों की अबौद्धिकता की भी कड़ी आलोचना की।"[8] फिलहाल की भूमिका में ही लेखक ने स्पष्ट किया है कि उसकी काव्य संबंधी मान्यता यह है कि "समकालीन कविता को देखने समझने की केन्द्रीय धारणा कविता के प्रति यह ट्रेजिक दृष्टि है कि कविता को समकालीन मनुष्य की हालत उजागर करने, समझने और परिभाषित करने की कोशिश करनी चाहिए।"[9] क्योंकि आलोचना अशोक वाजपेयी के लिए "मनुष्य की हालत को देखने समझने का और अपनी अस्मिता और अभिव्यक्ति की खोज का एक उत्कट माध्यम हो सकती है।"[10]

'फिलहाल' में अशोक वाजपेयी ने केवल कविता को ही विश्लेषित नहीं किया है बल्कि समकालीन कविता की भाषा, समकालीन कविता की आलोचना, उसकी भाषा, युवा कविता की आलोचना, अकविता, कविता और राजनीति, आलोचना की भाषा आदि विशिष्ट महत्वपूर्ण और गंभीर विषयों की परीक्षा की है, जिन्हें आलोचना के लिए पहली बार ईमानदारी से परखा गया है। कविता में जहां बड़े-बड़ों के ऊंचे ग्राफों के कारण नये और समकालीन कवियों पर लिखने का कोई साहस नहीं कर पा रहा था, अशोक वाजपेयी ने फिलहाल में वह मैदान संभाला और धूमिल, कमलेश, विनोद कुमार शुक्ल जैसे तात्कालिक युवा कवियों को अपनी आलोचना में प्रमुखता से स्थान दिया तथा सटीक, स्पष्ट और दो टूक निर्णय दिये। 'फिलहाल' लिखने की मूल धारणा को व्यक्त करते हुए उन्होने भूमिका में ही घोषणा की है कि "इस पुस्तक के मूल में आलोचना के बारे में मेरी यही धारणा है और जहां तक बन पड़ा है मैने समकालीन कविता को समझने बूझने और इस समझ से हमारे समय के मनुष्य की हालत के बारे में अपने एहसास को प्रासंगिक और गहरा करने की कोशिश की है। इस कोशिश के पीछे इस खोज का अचरच भरा सुख भी है कि कविता, भाषा रचनात्मक संवेदना की हालत की पड़ताल अपने-आप समकालीन मनुष्य की हालत की समझ और पहचान की और ले जाती है।"[11]

"कोई आलोचक किन साहित्यिक मूल्यों को महत्व देता है इसका प्रमाण उसकी साहित्यिक पसन्द नापसंद से मिलता है।अपने आलोचक कर्म के दौरान वह किस प्रकार के साहित्य को मान्यता देता चलता है, साहित्य में वह किन विशेषताओं को तरजीह देता है और नापसंदी की स्थिति में किन बातों की निन्दा करता है इससे उसके साहित्यिक मूल्य उसकी जीवन दृष्टि उभरकर सामने आती हैं।"[12] अशोक वाजपेयी की आलोचना में उपरोक्त बातों का अध्ययन उनकी पहली आलोचना पुस्तक फिलहाल में मिलता है।

अशोक वाजपेयी से जुड़े हुए कुछ सवालों को मैं और उठाना चाहता हूँ जैसे अशोक वाजपेयी की आलोचना दृष्टि क्या है ? उन्हें किन-किन कारणों से जाना जाता है ? वे कवि भी हैं और विवादास्पद संस्कृति कर्मी भी, वे सफल संपादक भी हैं और भारत सरकार के वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारी भी। इन सबके साथ ही वे नयी कविता की कालजयी आलोचना के सृष्टा भी है।जिसे मार्क्सवाद का ढ़िढोरा पीटने वाले भी नकार नहीं पाये। आलोचना में इतना गहरा और जरूरी हस्तक्षेप करने के बाद भी अशोक वाजपेयी की चर्चा ज्यादातर "साहित्येत्तर कारणों"से लोगों ने की है क्यों ? क्या अशोक वाजपेयी का समीक्षा जगत इतना कमजोर और दोयम दर्जे का है ? जिसे अधिकांश लोगों ने चर्चा के बाहर ही रखा है। या अशोक वाजपेयी की समीक्षा पद्धति का सामना करने के लिए जितनी बौद्धिक हिम्मत चाहिए

उतनी तथाकथित लोग जुटा नहीं पाये एक कारण यह भी हो सकता है कि अशोक वाजपेयी के समीक्षा जगत और चिंतन विश्व ने संघर्ष के साथ आलोचना के चालू भूगोल में जो जरूरी और गहरा हस्तक्षेप किया उससे लोगों को अपने पराक्रम दिखाने में पेश आयीं अड़चनें भी एक हैं। अशोक वाजपेयी ने फिलहाल के आरम्भ में ही कहा है "किसी धारणा आलोचनात्मक सिद्धांत या मत का खण्डन बौद्धिक स्तर पर करने का किसी को उत्साह ही जैसे नहीं रह गया है। फतवेबाजी, रिटोरिक आदि से इसको उसको किसी राजनैतिक, व्यवसायिक संगठन या किसी पीढ़ी आदि के षडयंत्र का हिस्सेदार कहकर उसकी चरित्र हत्या करने की खूब और लगातार कोशिश की जाती है, लेकिन बौद्धिक आधार पर तैयारी के साथ उसके तर्कों का संगत खण्डन नहीं किया जाता "[13] इससे साफ जाहिर होता है कि वे कैसे समय में आलोचना लिख रहे हैं।

अज्ञेय की तरह अशोक वाजपेयी के लिए आलोचना कोई आपद्धर्म नहीं है बल्कि "आलोचना भी मनुष्य की हालत को देखने, समझने का और अपनी अस्मिता और अभिव्यक्ति की खोज का एक उत्कट माध्यम हो सकती है।"[14] खुद को कविता का निर्लज्ज पक्षधर कहने वाले अशोक जी के लिए रचनात्मक शब्द की आधुनिक समाज में अवमूल्यित होती जा रही स्थिति के बावजूद कविता उनकी निगाह में अब भी "मनुष्य की विश्वसनीय और समावेशी परिभाषा है।"[15] इससे स्पष्ट होता है कि अशोक वाजपेयी की आलोचना के केन्द्र में कविता के मूल्यांकन को लेकर कितनी व्याकुलता समाहित है। किन्तु उनकी नियत पर शक करने वालों को हमेशा कुछ और ही दिखा। युवा कविता आंदोलन की पड़ताल और पैरवी करने वाले आलोचक के रूप में अशोक वाजपेयी औरों के मुकाबले कुछ ज्यादा ही चर्चित रहे हैं।

"हिन्दी समीक्षा का प्रस्थान बिन्दु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हैं तो आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र, रामविलास शर्मा, नामवर सिंह उसके विकास के सोपान और नामवर सिंह के बाद की समूची पीढ़ी में अशोक का नाम प्रमुखता से लिया जाता है, इसी आधार पर कहा जा सकता है कि हिन्दी आलोचना के इतिहास में छायावाद के भीतर जो उपक्रम रामविलास शर्मा ने निराला को केन्द्र में लाने का किया, नयी कविता के दौर में नामवरसिंह ने मुक्तिबोध के लिए किया, लगभग वही प्रयत्न साठ के बाद की युवा कविता आंदोलन के सिलसिले में अशोक वाजपेयी ने रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा और केदारनाथ सिंह को स्थापित करने के लिए किया है।"[16] अशोक वाजपेयी की आलोचना का प्रस्थान बिन्दु युवा कविता आंदोलन की आलोचना का प्रस्थान बिन्दु है इसका प्रमाण फिलहाल के अधिकांश समीक्षा लेखों का युवा कविता आंदोलन के "प्रस्थान बिन्दुओं की खोज पर केन्द्रित होना है। लेखक ने इस कृति में समकालीन कविता को समझने के लिये, समझाने के लिये पहले से चली आ रही तमाम कठिनाईयों को सुलझाने की अच्छी कोशिश की है।"

फिलहाल के अधिकांश लेख युवा कविता को समर्पित हैं। इसे इस तरह भी कहा जा सकता है कि "फिलहाल युवा कविता आंदोलन की गहरी पड़ताल का दस्तावेज है" जिसमें अशोक वाजपेयी की आलोचना के सभी महत्वपूर्ण पक्ष उजागर हो रहे हैं। उन्होने फिलहाल के लेखों में समग्रता में मूल्यांकन करके रचना के विभिन्न अवयवों को पृथक-पृथक परखा है और उसे बृहत दृष्टि से प्रस्तुत किया है।

अशोक वाजपेयी युवा कविता की आलोचना मे केवल अपना मत भर व्यक्त नहीं करते हैं वे विस्तृत रूप से रचनाओं की तह में भी उतरते हैं और वहां जो मोती, कंकड़ उन्हें मिलते हैं साफ ढंग से वे उसे पटल पर रख देते हैं। कमलेश की कविता ही देखिए उन्होने कहा है "कमलेश का काव्य संसार बिम्ब केन्द्रित और अपने समवयस्कों के मुकाबले सबसे एंद्रिक व्यवस्था है। भाषा में निजी भूमि की तलाश कमलेश को भाषा के स्वप्न जगत, उसमें रची-बसी सजीव यादों की ओर ले जाती है। शताब्दियों पीछे छूट गयी भूमि को फिर से प्राप्त और चरितार्थ करना जैसे भाषा की जड़ों तक उसके बचपन तक जाना है कमलेश के बिम्बों में इसलिए शुद्ध संवेदनात्मक आघात हैं।"[17] भाषा का विशेष आग्रह और रचना में भाषा की गहरी पड़ताल अशोक वाजपेयी की आलोचना का अनिवार्य अंग है। भाषा की जड़ों तक पहुँचना भाषा की परम्परा स्मृति को रचना में स्थान देना है किन्तु "ज्यादातर युवा कवियों में भाषा के प्रति ऐसा तीव्र बोध और जिम्मेदारी का अहसास नहीं है।"[18] जैसा कमलेश में हैं। अशोक वाजपेयी की

समीक्षा में युवा कवियों की भाषा और उसके इस्तेमाल पर गहरी नजर है। उन्होने सपाटबयानी के सतहीपन ओर अकवियों की अर्थहीन रूमानियत की निर्भीकता की भी उन्होने स्पष्ट पड़ताल की है। यदि लेखक ने कमलेश की भाषा की तारीफ की है तो उसने (कमलेश) उनकी भाषा की कमजोरियों को भी अपना निशाना बनाया है। जैसा "कमलेश ऐंद्रिकता के बहाने अपना असली हाल अनावृत करने की मजबूरी से बच जाते हैं। उनकी भाषा स्वप्न देखती है, लेकिन आज की सच्चाई की जटिल विविधता और उलझावों से जूझती या टकराती नहीं है।"[19] यहां अशोक जी यह बताने से कुछ परहेज सा कर गये हैं कि वह भाषा कैसी हो जो आज की जटिल विविधता और उलझावों से जूझ सके। और फिर दोनों बातें संभव करने की चुनौती भी वे कवि को देते हैं कि एक तरफ वह अपनी भाषा की जड़ों से भी जुड़ा रहे और दूसरी तरफ समकालीनता से भी। यह विरोधाभास अशोक जी में कई जगह देखने को मिलता है। कविता में सौन्दर्य और आनंद को लक्ष्य करते हुए उन्होने कहा है कि सौन्दर्यमूलक आनंद कविता में प्रतिष्ठित करने से समकालीन मनुष्य के तीव्र अंतर्विरोध, भय, संदेह आदि रचना से बाहर हो जाते हैं और यदि वे उपस्थित भी हों तो उसका रस परिवर्तन हो जाता है। वे बाहरी सच्चाई के भीषण दबावों और निजी अनुभव के बीच युवा कविता में तनाव और टकराहट के कारण मानते हैं।

कविता में प्रत्येक पक्ष पर गहरी नजर रखने वाले अशोक वाजपेयी विनम्र विपक्ष के साथ स्पष्ट और दो टूक निर्णय देने से घबराते नहीं हैं और न ही शास्त्रीयता में उलझाकर पांडित्य दर्शाते हैं जैसे कमलेश को को लेकर उन्होने कहा है "कमलेश की अबोध मुद्रा का आधार यह जान पड़ता है कि उनकी कविता में अहसास तो है समझ नहीं।"[20] इसका सीधा मतलब मेरे ख्याल से यही है कि कमलेश की कविता में दिल तो है दिमाग नहीं। फिलहाल की भूमिका में लेखक ने स्पष्ट किया कि बुद्धि कितनी जरूरी है एक साहित्यकार के लिए।

अशोक वाजपेयी अपनी आलोचना में रामचन्द्र शुक्ल की भांति सूत्र देकर उनकी व्याख्या विश्लेषण ना करते हुए रचना में धीरे-धीरे प्रवेश करके उसकी गहराई में पहुँचकर एक निष्कर्ष देते हैं जो आचार्य शुक्ल के सूत्र के समान ही होता है जिसका फिर वे तार्किक विवेचन करते हैं, जिससे रचना के जटिल से जटिल पक्ष भी साधारणत: समझ के दायरे में आ जाते हैं। एक ऐसे समय में अशोक वाजपेयी आलोचना में पाठक को शामिल करने की कोशिश करते हैं जिस समय स्वयं आलोचना, आलोचकों के लिए अगम्य होती जा रही है। जैसे वे कहते हैं कि "अगर धूमिल की कविता की आंतरिक सच्चाई और उसमें उपलब्ध नाटकीय वक्तव्यों को पहचान लिया जाय तो उनके काव्य संसार को समझने की ओर बढ़ा जा सकता है।"[21] जिस युग में आलोचना स्वयं साहित्यकारों की समझ के बाहर हो गयी हो उस युग में पाठक को आलोचना की समझ के दायरे में शामिल करने का प्रयास करने वाले अशोक वाजपेयी की भाषा का आकर्षण बेजोड़, प्रभावात्मक और अनुभूतिमय है। जो कहीं-कहीं तो कविता से भी ज्यादा आत्मीय और दिलोदिमाग को छू लेने वाला है। धूमिल पर लिखते हुए अशोक पहले ही पेराग्राफ में दो शब्दों को लक्ष्य करते हैं एक बौखलाए हुए आदमी दूसरा संक्षिप्त एकालाप इन्हीं शब्दों की व्याख्या करते हुए वे अपने मंतव्य प्रकट कर देते हैं जैसे "धूमिल को आज हिन्दुस्तान में मनुष्य के चारों ओर भीषणता से बढ़ते सघन होते घेराव का पूरा एहसास है, लेकिन यह एहसास सिर्फ बौखलाहट में व्यक्त नहीं होता।"[22] उपरोक्त कथन के पश्चात् वे अपनी शैली में फौरन निष्कर्ष के तौर पर कहते हैं कि "धूमिल में बौद्धिक समझ भी है। जो एहसास को संयमित और गहरा बनाती है।"[23] अशोक वाजपेयी युवा कविता की सूक्ष्म और प्रामाणिक पड़ताल करते हुए सिलसिलेवार ऐसे ठोस तर्क देते हैं कि उन्हें किसी भी तरह अनदेखा नहीं किया जा सकता। जैसे उनका यह कथन "धूमिल मात्र अनुभूति के नहीं विचार के भी कवि हैं। उनके यहाँ अनुभूतिपरकता और विचारशीलता का अहसास और समझ एक दूसरे से घुले मिले हैं और उनकी कविता मात्र भावात्मक स्तर पर ही नहीं बल्कि बौद्धिक स्तर पर भी संयोजित और सक्रिय होती हैं।"[24] धूमिल को परिभाषित करता है रचना का अवलोकन करते समय एक सजग आलोचक के नाते वे समकालीन कविता की खामियों को भी उजागर करने के लिए उत्सुक रहते हैं जिससे साहित्य विकास को गति मिलती है। युवा कवियों को लक्ष्य करते हुए उन्होने कहा है "इस सिलसिले में यह याद रखना जरूरी

जान पड़ता है कि भाषा और शिल्प के प्रति अधिकांश युवा कवियों में जिम्मेदारी का कोई भाव नहीं है।"[25] अशोक वाजपेयी अपनी समीक्षा के केन्द्र में युवा कविता को लेकर जो राय बनाते हैं उसमें वे कविता को हाशिए की दुनिया में सार्थक नहीं मानते। वे कविता को जीवन से दूर नहीं जीवन के बीच से ही उद्‌भूत करने में उसकी सार्थकता देखते हैं वे उस कल्पना विलास को संदर्भच्युत मानते हैं।"जिसकी हमारे रोजमर्रा के जीने से संगति और जीवन प्रासंगिकता स्पष्ट न हो और जिसमें कोई गहरी पहचान या खोज तो न उभरती हो लेकिन कवि के आत्म प्रदर्शन और आत्मस्फीति के लिए अवकाश खूब हो।"[26] इसी आधार पर अशोक वाजपेयी ने अकवियों को रिजेक्ट किया हैं। वे छद्‌म अभिजात्य के अप्रासंगिक लुभावने कविता संसार को सीमित काव्य संसार की श्रेणी में रखते हैं जो अकवियों की विशेषताएं हैं।

अशोक वाजपेयी आलोचना भाषा के आधार पर अपने पूर्वजों और समकालीनो दोनों से सहज और बोधगम्य तो है ही, उनकी लम्बी-लम्बी टिप्पणी भी औरों की तरह उबाउ या थकाने वाली नहीं हैं। बल्कि शब्दों का ऐसा अद्‌भुत तारतम्य बुना गया है कि पाठक का आकर्षण बढ़ता ही जाता है कम नहीं होता। उन्होंने भाषा को लेकर स्वयं कहा है "भाषा के प्रति जिम्मेदारी महसूस करने का मतलब भाषा की जड़ता और अपर्याप्तता को पहचानना है।"[27]

आलोचना के बीच से अशोक वाजपेयी समकालीन युवा कविता के विकास को गति देने की भी भरपूर कोशिश करते हैं और कवियों को लगभग एक चुनौती के रूप में रचना में उन बातों के समावेश का आग्रह करते हैं जो आलोच्य कवि से छूट गया है या जिस पर वह ध्यान नहीं दे सका जैसे "जनता, संसद, संविधान और प्रजातंत्र जैसे शब्द और धारणाएं इधर की कविता में चालू मुहावरा बन गई हैं और पटकथा भी इन्हीं के इर्द-गिर्द घूमती है यह जरूरी नहीं है कि जो दूसरों में चालू मुहावरा हो वह किसी समर्थ कवि में विशिष्ट और ठोस अभिव्यक्ति न पा सके।"[28] अशोक वाजपेयी पैगम्बराना अंदाज में एक ही लाठी से सबको हांकने को काम नहीं करते हैं वे रचना प्रक्रिया में, उसकी भाषा में ,अभिव्यक्ति में आगे सुधार की उम्मीद रखकर ही बड़बोलेपन से स्वयं भी बच जाते हैं। और कवियों का मार्गदर्शन कर वे उन्हें आलोचना के चालू आघातों से पनपने वाली कुंठा से बचा ले जाते हैं। आलोचकों को इस अर्थ में अशोक वाजपेयी का अनुसरण करना ही लाभप्रद होगा, किन्तु आलोचना में कुछ पार्टियां या तो सीधे श्रेष्ठता की भाषा उगलती हैं या सिर्फ रचना को दोयम दर्जे की संज्ञा से अभिभूत करने के लिए उसमें प्रविष्ट होती हैं। रचनाकार से रचना के गठन में, अभिव्यक्ति में, भाषा में, बिम्ब में कहां-कहां चूक हुई हैं अशोक वाजपेयी अपनी आलोचना में पूरी जिम्मेदारी से उठाते हैं जो एक आलोचक का धर्म है जिसे अशोक वाजपेयी की आलोचना में सर्वत्र देखा जा सकता है, वे कविता में विचार के प्रबल पक्षधर है। यह उनकी आलोचना की जरूरी विशेषता है। अशोक वाजपेयी "कविता से समकालीन मनुष्य की हालत की पड़ताल की उम्मीद फिलहाल से लेकर अब तक लगाये हुये हैं जबकि मनुष्य की हालत जिन शक्तियों से प्रभावित होती है कविता उनमें शामिल ही नहीं रह गई है "[29]। इस बात का भी उन्हें पूरा एहसास है। कविता में दिखाऊ, बड़बोले, विद्रोह, आत्मलिप्ति और सामान्यीकृत मनुष्य की हालत के बयानों का विरोध करने वालों में अशोक वाजपेयी प्रमुख हैं वे कविता में ठोस और विशिष्ट मनुष्यों की हालत से साक्षात्कार करने को कहते हैं। इस तरह की कविता के लिये वे प्रयागशुक्ल, श्रीकांत वर्मा, नीलाभ आदि का उदारण देते हैं।

साठोत्तर कविता की एक धारा की असफलता का कारण अशोक वाजपेयी ने यह माना है कि "रचनात्मक संवेदना, चालू मुहावरों , सरली करणों और मैं सब कुछ जानता हूँ तथा मुझे सब कुछ पर भी कुछ भी कह लेने का हक है की पैगम्बराना मुद्राओं के दबावों का मुकाबला नहीं कर सकी है और उसकी गिरफ्त में आ गई है।"[30] कविता के गठन को लेकर वे तुकबंदी की खिलवाड़ का विरोध करते हैं, इस मामले में उन्होंने श्रीकांत वर्मा, मणिमधुकर पर भी आरोप लगाया है। अशोक वाजपेयी कविता में सूचनाओं के खिलाफ हैं इसके लिए वे बखान को महत्वपूर्ण मानते हैं।

आलोचक परमानंद श्रीवास्तव ने कहा है कि "आलोचना कर्म की सार्थकता इससे अधिक कुछ नहीं हो सकती कि वह रचना और विशेष रूप से समकालीन रचना की चुनौतियां स्वीकार करे और उसके

अस्वाद, विश्लेषण और मूल्यांकन के लिए उपयुक्त उत्तेजक परिप्रेक्ष्य विकसित करे।"[31] अशोक वाजपेयी इस अर्थ में समकालीन कविता की जांच परख करने वाले प्रमुख आलोचक हैं। "आलोचना की प्राथमिक जिम्मेदारी समसामयिक साहित्य के प्रति होनी चाहिए, स्वातंत्र्योत्तर भारत में जिस तेजी से बदलाव आया है साहित्य भी उससे अछूता नहीं है, सृजनात्मक आलोचना इसी साहित्यिक बदलाव से उत्पन्न दृष्टि है अशोक वाजपेयी इसी सृजनात्मक आलोचना की पहचान हैं। अशोक वाजपेयी की एक प्रमुख विशेषता है कविता और रद्दी के गड्डमड्ड ढेर में से कविता को उठाकर उसे यथोचित सम्मान देना और कविता और रद्दी को अलग-अलग करना।

कविता से कोई कुछ भी उम्मीद लगाये बैठा रहे इससे अशोक वाजपेयी को कुछ लेना देना नहीं है पर वे कविता से समकालीन मनुष्य की हालत की पड़ताल की उम्मीद बराबर लगाये हुए हैं। भले ही कविता कहीं पहुंच गयी हो। प्रयाग शुक्ल और मणि मधुकर की कविता समीक्षा में अशोक प्रयाग शुक्ल की कविता को समझदारी की शुरूआत मानते हैं किन्तु "उसमें समकालीन तनावों का अभाव है।" इसी अध्याय में मणि मधुकर के काव्य पर टिप्पणी करते हुये उन्होने कहा है कि मणि मधुकर और प्रयाग शुक्ल दोनों चालू मुहावरों, चुस्तबयानी और बड़बोलेपन की और आने वाले कवि नहीं हैं। मणि मधुकर की लम्बी कविता पर उन्होने कहा कि "समकालीन सचाई के अपने अनुभवों को एक व्यापक और नाटकीय धरातल पर विन्यस्त करने की कोशिश में युवा कवि का लंबी कविता की और आकर्षण स्वाभाविक है। पर उसके लिए जरूरी है कि पूरी सामग्री को प्रासंगिकता का ध्यान रखते हुए कल्पना पूर्ण ढंग से नियोजित किया जाए और कविता का एक स्पष्ट फार्म हो।"[32] यानि कि वे लम्बी कविता के विरोध में नहीं हैं, हां वे इसमें सामग्री की प्रासंगिकता और स्पष्ट फार्म को वे महत्वपूर्ण मानते हैं इसी सिलसिले में उन्होने "दूधनाथ सिंह को रूमानी तथा नीलाभ को बात करते व्यक्ति की संज्ञा दी है। नीलाभ की ऊपर से एकालाप लगती कविताएं संवाद बन जाती हैं।"[33] कविता को चालू मुहावरों और सूचना तक सीमित रखना ठीक नहीं है और न ही सामान्यीकरणों तक सीमित रह जाना, यह कविता में ठोस और सार्थक अभिव्यक्ति के खिलाफ है। मूल्य बोध के स्तर पर हो या भाषा की प्रमाणिकता को लेकर अशोक वाजपेयी युवा लेखन को रूढ़िबद्धता और संकीर्णता के दायरों मे रेखांकित करते हैं उनके अनुसार "नये लेखकों का साहित्य मानवीय अनुपस्थिति का साहित्य है"[34] सार्थक कविता पर सवाल उठाते हुए उन्होनें युवा लेखन की पड़ताल निबंध में स्पष्ट किया है कि "नयी कविता के लेखकों में मूल्यों के बारे में एक सर्तक दृष्टि थी वहीं मूल्यबोध के स्तर पर देखें तो इधर के लेखक अक्सर मूल्यों के प्रति उदासीन हैं।"[35] मूल्यबोध का सीधा संबंध रचना के स्तर से होता है जो साहित्य मूल्य निरपेक्ष होगा वह अर्थ निरपेक्ष भी होगा। ऐसा साहित्य अर्थहीन साहित्य कहलाता है। यह अशोक जी की मान्यता है युवा लेखन और नयी कविता के बुनियादी अन्तरों को स्पष्ट करते हुए अशोक वाजपेयी दोनों का सूक्ष्म निरीक्षण और तार्किक विश्लेषण करने में सफल हुये हैं। उन्होने इस विश्लेषण में भारतीय साहित्य ही नहीं पाश्चात्य साहित्यिक आंदोलनों की चर्चा करते हुए उससे इसकी तुलना की है।

आक्रामक साहसकिता नग्नता जो अकवियों की रूढ़ियां रही हैं इससे सच्चे साहित्य का कभी भला नहीं हो सकता, न ही कविता का। हमारे यहां स्त्री-पुरूष संबंधों में एक आदर्श स्थिति विद्यमान थी किन्तु "आक्रामक लेखकों में से अधिकांश की रचनाओं में एक संबंध पर तनाव, अकेलेपन, त्रास, निरर्थकता, योनातिवाद, यांत्रिकता आदि का इतना बोझ डाल दिया गया है कि जीवित संबंध वास्तविकता नहीं रह गया है।"[36] इस मामले में अशोक वाजपेयी ने अकवियों के साथ-साथ अकथाकारों को भी स्त्री-पुरूष संबंधी परिकल्पना को अवास्तविक और अधूरेपन की संज्ञा दी है। अकविता को उन्होने पश्चिमी काव्य आंदोलन आवांगर्द की संज्ञा दी है। उन्होने कहा है कि "साहित्य में अपने समय की वास्तविकता का सामना करने की हिम्मत होना जरूरी है" किन्तु वे अकवियों में इसके अभाव से दुखी हो जाते हैं। युवा कविता की आलोचना की आलोचना करते हुए अशोक उन आलोचकों से परेशान हो उठते हैं जो साठोत्तर "थोड़ी सी अच्छी कविता लिखी जा रही है उस पर ज्यादा ध्यान न देकर ज्यादातर खराब कविता पर समय और शक्ति खर्च कर रहे थे।"[37] उनकी चिंता है कि "अच्छी कविता से पलायन आलोचना को

एकदम बेजान नहीं तो कम से कम काफी हद तक प्रसंगच्युत जरूर करता है।"[38] अशोक वाजपेयी कविता के वर्गीकरण का साहस दिखाने वाले मेरे ख्याल से सबसे साहसी आलोचक हैं, क्योंकि उन्होंने जिस समय फिलहाल प्रकाशित हुई थी उस समय कविता की विभिन्न धाराएं एक दूसरे से अलग करना लगभग किसी के वश की बात नहीं रह गयी थी। किन्तु यह जोखिम उन्होंने फिलहाल में उठाया है ओर नयी कविता, युवा कविता, समकालीन कविता, अकविता आदि को परिभाषित कर आलोचना के लिए और कविता को पहचानने के लिए नये दरवाजे खोले। इस अर्थ में 'फिलहाल' एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है जिसकी प्रासंगिकता हमेशा बनी रहेगी। "अशोक वाजपेयी का यह जनतंत्र विचारधारा, व्यक्तिवाद और शास्त्र की अतिरेक नीरसता और तानाशाही के विरूद्ध एक उम्मीद की तरह विकसित हुआ था। वह फिलहाल की जलवायु में अंकुरित होती युवा कविता के स्वप्न और यथार्थ से बुना गया जनतंत्र था जिसका समुचा विधान एक अतिवाद के विरूद्ध निषेध की,खण्डन की भाषा और मूल्यों पर टिका हुआ था। उस अतिरेकपूर्ण नीरस और तानाशाह व्यवस्था में घुटते, कुण्ठित होते मूल्यों को यह एक शरणस्थली प्रतीत होती, जैसा कि हुआ भी।"[39] फिलहाल के जनतंत्र पर मदन सोनी की यह टिप्पणी कितनी सार्थक है इसका प्रमाण अशोक वाजपेयी की आलोचना को जनतंत्र संबोधन से ही स्पष्ट हो जाता है। अशोक वाजपेयी के आलोचना तंत्र में व्यावहारिक आलोचना के सभी मानदण्डों को अपनाया गया है। परस्पर विरोधी प्रकृति के रचनाकारों को एक साथ स्थान दिया गया है और एक के कारण दूसरे की रचना को स्पष्ट किया गया है। जैसे कमलेश के साथ धूमिल इस तरह के तुलनात्मक और विरोधी प्रवृत्तियों के द्वारा समकालीन रचना के साथ-साथ समकालीन आलोचना का भी मार्ग प्रशस्त किया है युवा कवियों पर अशोक वाजपेयी की सार्थक और प्रभावशाली टिप्पणी अक्षरश: सत्य निकली है। जिसे कालान्तर में सभी ने स्वीकार किया है अकवियों के सामाजिक पिछड़ेपन के अहसास को आक्रामक और बड़बोले मुहावरे की कविता लिखकर या दुरूस्त करने की कोशिश की है, तो ऐसे भी युवा कवि हैं जो अपने निजी नाटक और सीमित अनुभवों की अपनी रूमानियत से फैला-फुलाकर अपनी कविता के माध्यम से आत्मविस्तार प्राप्त करते हैं।"[40] इस तरह जो कविता पैदा होती है वह जीवन की भयावह सच्चाईयों को उजागर तो करती ही है, साथ ही समकालीन दुनिया और मनुष्य के बीच किसी संबंध की पड़ताल भी नहीं करती। आलोचना के कार्य को परिभाषित करते हुए अशोक वाजपेयी ने कहा कि "आलोचना का मुख्य काम इस दुनिया को और उसकी खास भाषा व्यवस्था में जो कुछ घटता है उसको पहचानना और परिभाषित करना" [41] आलोचना में वर्गीकरण को वे अच्छा नहीं मानते उन्होंने कहा है "वर्गीकरण आलोचना की लाचारी है "क्योंकि वर्गीकरण बगैर रचना का निर्धारण करना संभव नहीं। अपनी आलोचना धारा में अशोक जी साफ, स्पष्ट और दो टूक कहने से डरते नहीं हैं। कवि चाहे एकदम युवा हो या किसी पुरानी पीढ़ी की याद वे उम्र को महत्व नहीं देते, वे कविता को, उसकी भाषा को, उसके मुहावरे को, उसकी समकालीनता को, उसके बखान को, उसकी संवेदना को, उसकी मानवीयता को, उसकी सचाई को महत्वपूर्ण मानते हैं। अशोक वाजपेयी अक्सर आलोचना करते-करते बीच में कविता को छोड़कर स्वयं आलोचना के ढर्रे पर भी बीच-बीच में प्रहार करते चलते हैं। जैसे "आलोचक -निर्णायक बनने का दंभ लिए कविता को सामने कठघरे में खड़ा किए फैसला सुनाने को बेताव है, आलोचना सार्थक और उपयोगी संभव ही नहीं है। विद्या विनय के बिना शोभती है या नहीं, मैं नहीं जानता लेकिन इतना जरूर महसूस करता हूँ कि बिना विनय के आलोचना सार्थक नहीं होती। एक छोटी सी सच्चाई हम अक्सर भूल जाते हैं कि कविता कवि से नहीं, आलोचना से भी हमेशा बड़ी है।"[42] फिलहाल के प्रकाशन के पूर्व और उसके बाद भी हमारे साहित्य जगत में जो घिनौनी धारणाएं देखने को मिली उसमें पीढ़ी बंदी को लेकर पार्टी बंदी करना प्रमुख है।

साहित्य में भी वह सब कुछ हो सकता है जो घिनौनी राजनीति में होता है, विश्वास ही नहीं था पीढ़ियों का यह द्वंद हमारे साहित्य में बहुत बड़े पैमाने पर दिखायी देता है और इस संकरेपन ने हमारे साहित्य का बहुत अहित भी किया है। कहीं-कहीं तो साहित्यकार के अर्थ की गरिमा ही लगभग नष्ट होती प्रतीत होती है। अशोक वाजपेयी ने इस पीढ़ीधारी विचारधारा का सख्त विरोध किया है। उन्होंने

कहा है "आलोचना का काम पीढ़ियों को समर्थन देना या उनका विरोध करना नहीं है। उसका काम है हमेशा अच्छी कविता की तलाश करना उससे आब्सेस्ड होना उसमें जो घटता है उसका उत्कटता से बखान करना है और अगर जरूरी हो तो प्रतिष्ठित करने के लिए संघर्ष करना है "[43] अशोक वाजपेयी अपनी आलोचना के केन्द्र में आरम्भ से ही यह संघर्ष लेकर उभरे/फिलहाल के मूल में यही संघर्ष विद्यमान है।

वातावरण और परिवेश का जीवन पर इतना गहरा असर हो सकता है अकवियों की कविता से ज्ञात हुआ। अकवि जयादातर छोटे कस्बों में पले बढ़े होने के कारण महानगरीय जिन्दगी को आत्मसात न कर अपनी कस्वाई संवेदना में उलझकर रह गये हैं "यह हर विशिष्ट संवेदना पर निर्भर करता है कि वह महानगर के इस साक्षात्कार से कैसे प्रतिकूल होती है।"[44] अकवियों को रूमानियत की संज्ञा देते हुए अशोक वाजपेयी ने कहा है कि "अकविता के कवियों का मुहावरा उग्र है पर उसमें नाटकीयता नहीं है याने वह नाटकीयता जो भाषा और अनुभव दोनों ही स्तरों पर जटिल ब्यौरों से कवि दृष्टि से जूझने के बाद उत्पन्न तनावों से आती है।"[45]

अकवियों पर अशोक वाजपेयी ने जो आरोप लगाये हैं वे निराधार नहीं है यहां कविता में स्त्री को एक काल्पनिक सरलीकरण के रूप में पेश किया गया है। इनकी भाषा में ऐन्द्रियता या ऐंद्रिक तात्कालिकता नहीं है। अकवियों के यहां "कविता अनुभव की रचना नहीं सूचना रह जाती है।" अकविता को प्रसंगहीन करार देते हुए अशोक वाजपेयी उस पर जो आरोप लगाते हैं वे सन्दर्भच्युत नहीं हैं उन्होने जगदीश चतुर्वेदी, गंगाप्रसाद विमल, श्याम परमार, कैलाश वाजपेयी आदि कवियों पर उग्र मुहावरे का आरोप लगाया है। उन्होने भाषा संवेदना, अभिव्यक्ति, स्त्री आदि को लेकर अकवियों के संकरेपन को रेखांकित किया है और उनकी कविता को अर्थहीन माना है।

हड़बड़ी का शाब्दिक अर्थ होता है जल्दबाजी, प्रभाकर माचवे की कविता की अशोक वाजपेयी ने हड़बड़ी की कविता कहा है। अशोक वाजपेयी की भाषा में यूं तो गंभीरता कूट-कूट कर भरी है किन्तु कहीं कहीं उनके शब्दों के प्रयोग से व्यंग्य ने भी बिना उन्हें बताये बगैर भाषा में जगह बनाई है जैसे हरिनारायण व्यास को लेकर उन्होने कहा है कि "नई कविता के पुराने लटके उनके यहां अभी भी सक्रिय हैं।"[46]

अज्ञेय की कविता को अशोक जी अकेलेपन का वैभव की संज्ञा देते हुए बहुत सटीक और प्रभावपूर्ण तर्क देते हैं जैसे "अज्ञेय की खोज व्यक्तित्व की खोज ही नहीं आत्म साक्षात्कार की भी कोशिश रही है दूसरे अज्ञेय की कविता, अपनी श्रेष्ठ उपलब्धियों में, व्यक्ति की उसके पूरे अकेलेपन में गहन खोज है।"[47] जिसे उन्होने ठंड़े मिजाज की कविता कहा है।

"अपने दूसरे समकालीनों के साथ अज्ञेय ने जीवंत और जटिल व्यक्तित्व के बदले किसी तरह के सामाजिक सरलीकरणों को जगह देने से इंकार किया।"[48] कविता में अज्ञेय एक ऐसे व्यक्ति के रूप में जाहिर हुए जो संघर्ष के जीवंत क्षणों में अपनी अद्वितीयता और गरिमा प्रकट करता है। जबकि "अशोक वाजपेयी समकालीन मनुष्य की हालत की पड़ताल को श्रेष्ठ कविता की श्रेणी में लाते हैं इस अर्थ मे अज्ञेय को वे अस्वीकार कर देते हैं। वे अज्ञेय को नयी कविता का सूक्तिकार और उपदेशक आदि नामों से पुकारते हैं।"[49]

अज्ञेय की कविता पर अशोक वाजपेयी के आरोप गलत नहीं है, अज्ञेय को उनके अकेलेपन के स्थायी भाव का मुहावरा उन्हें दूसरे समकालीनों से अलग करता है "यह अकेलापन उस अकेलेपन या कटाव तक सीमित नहीं हैं जो आधुनिक समाजों में प्राय: सभी जगह व्यक्ति महसूस करता है।"[50]

अशोक वाजपेयी ने अज्ञेय के यहां "चीजों और मनुष्य दोनों की दुनियाओं में अकेलापन देखा है।वह यह सब कुछ को नामहीन करती लीलती सामाजिकता और व्यक्तित्व के तनाव से उत्पन्न अकेलापन मात्र नहीं है वह एक तरह का आध्यात्मिक अकेलापन है।"[51] अज्ञेय की कविता और आलोचना को अशोक वाजपेयी ने वर्कशाप की संज्ञा दी है। अज्ञेय की स्त्री संबंधी मान्यता संरक्षक और दाता की है। स्त्री हमेशा उनके यहां पुरूष से हमेशा कुछ नीचे है समान नहीं। उनके यहां प्रेम एक कृपा है जो वे दूसरे पर कर रहे हैं। अज्ञेय की बाद की कविता पर अशोक वाजपेयी कहते हैं कि वह विवादास्पद कविता है। "सबसे

पहले तो यह कि उसका संसार पारंपरिक बिम्बों और पारंपरिक भाषा में शास्त्रीय मुद्राओं से बना मिथिकल संसार है जिसकी समकालीन संसार से संगति स्पष्ट या परिभाषित नहीं हो पाती है भले ही वह एक स्वायत संसार है।"[52] अज्ञेय की कविता मानवीय उपस्थिति को पीछे छोड़ती हुई एक ऐसा संसार रचती है जो एक तरह कहीं नहीं का संसार है। अशोक वाजपेयी अज्ञेय के बाद की कविता को बहिष्कृत नहीं करते बल्कि अज्ञेय की बाद की कविता "ऐसा कुछ महत्वपूर्ण खोजती ओर उजागर नहीं करती जो मुक्तिबोध की कविता करती है। इन तमाम तर्कों के द्वारा अज्ञेय की कविता से गहन और आत्मीय साक्षात्कार कर अशोक वाजपेयी अज्ञेय को साठोत्तर कविता के उन लोगों में से बाहर करते हैं जो अज्ञेय के समकालीन होते हुए भी इधर के संसार में पूरी प्रासंगिकता के साथ हाजिर हैं। अत: अशोक वाजपेयी के अनुसार अज्ञेय का कविता संसार पारंपरिक बिंबों और पारंपरिक भाषा में शास्त्रीय मुद्राओं से बना मिथिकल संसार है जिसकी समकालीन संसार से संगति स्पष्ट या परिभाषित नही हो पाती है"[53] इसलिए अशोक वाजपेयी ने अज्ञेय को पंत के साथ रखकर 'बूढ़ा गिद्ध क्यों पंख फैलाये' की संज्ञा दी है, बुजुर्ग होने या बूढ़ा होने का मतलब सीधे समकालीन क्षितिज में अप्रासंगिक हो जाना नहीं है यहां अप्रासंगिक होने का तात्पर्य कविता की समझ से है उसकी समकालीन मानवीयता के साक्षात्कार और उसकी अभिव्यक्ति से हैं, मनुष्य की हालत से है, उम्र के तकाजे से नहीं यदि उम्र के ही तकाजे को अशोक वाजपेयी दाखिल खारिज का पैमाना बनाये होते तो अज्ञेय के साथ मुक्तिबोध आदि भी बाद की कविता में प्रासंगिक कैसे रह पाते।"उन्होंने अज्ञेय को खारिज नहीं किया बल्कि बाद की कविता में उनके यहां न तो निजता है और न ठोसपन उनकी एक समय की संस्कारी भाषा प्रसंगहीन परिपाटी बनकर बची है।"[54] इन्हीं आधारों पर अज्ञेय समकालीन कविता और मनुष्य को परिभाषित नहीं कर पाते हैं।

अशोक वाजपेयी उन आलोचकों में से कतई नहीं है जो साहित्य में समसमायिक युग को प्रतिनिधित्व न देकर स्थायी और शाश्वत और शास्त्रीय कहे जाने वाले प्रतिमानों का समर्थन करता फिरे। अपने युग के साहित्य के इसी संकट को पहचानकर अशोक वाजपेयी ने कहा था "मैंने समकालीन कविता को समझने बूझने और इस समझ से हमारे समय के मनुष्य की हालत के बारे में अपने एहसास को प्रासंगिक और गहरा करने की कोशिश की है।"[55]

अशोक वाजपेयी की समीक्षा का आधार है रचना की गहन और खुली छानबीन, जिसमें उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के मतों और दृष्टियों को भी यथा संभव अपनी बात को पुख्ता करने के लिए उपयोग किया है। वे किसी रचना की अच्छाई पर परदा नहीं डालते और न ही किसी को बेवजह सूरमा घोषित करते हैं उनको अच्छा, बुरा दोनों मतों के लिए पर्याप्त सबूत चाहिए होते हैं। आलोचना में स्वीकार और नकार तब खतरनाक होता है जब वह पक्षपात पूर्ण हो, किन्तु अशोक वाजपेयी के यहां ऐसा नहीं है। उन्हें अपने आलोच्य रचनाकारों में खरा खोटा जो मिला उसे विनम्रतापूर्वक सामने रखा। हां एक बात जरूर है कि वे अच्छी कविता और आलोचना के लिए संघर्ष करने से डरते नहीं हैं। अशोक वाजपेयी कविता और समीक्षा के भविष्य को सुरक्षित करने के चक्कर में दूर-दूर तक कहीं नहीं है हां वे कविता और आलोचना के गतिशील और निरंतर मनुष्य से गहरे जुड़े रहने के हिमायती अवश्य हैं।

अशोक वाजपेयी भाषा के सिद्ध और आवश्यक प्रयोग करके आलोचना को प्रासंगिक बनाने वालों में अग्रणी होने का दावा नहीं करते, किन्तु वे हैं। इंलियट के कथन को थोड़ा सा बदलकर कहूं तो कहा जा सकता है कि अच्छी आलोचना अच्छी रचना भी होती है। अशोक वाजपेयी की आलोचना इस रचनापन के काफी नजदीक है। सन् साठ के बाद को अशोक वाजपेयी ने कविता की वापसी माना है। उनका सोचना है कि" यह वापसी कविता की समकालीन दृश्य के केन्द्र में वापसी ही है। जो आदमी की आज की हालत के बारे में हमारी समझ और संवेदना को गहरा और सार्थक करती हैं "जाहिर है कविता की वापसी की बात है तो यह भी पता होना चाहिए कि कविता आखिर गई कहां थी और वे क्या कारण थे जिनकी वजह से उसे जाना पड़ा था, कारण हमारे यहां तो "आत्मतत्व और मुग्ध उत्सवधर्मी और समकालीन, अप्रासंगिकता के स्मारक बुजुर्ग या बुढ़ाते कवि हैं या फिर आत्मप्रदर्शन में लिप्त,श्रीकांत वर्मा के मुहावरे में कहूं तो नकली कवियों की एक पूरी वसुंधरा है।"[56] कविता की वापसी की चर्चा करते

हुये वे अज्ञेय को अप्रासंगिक ठहराकर "अपने बुनियादी लगावों और सरोकारों को सार्थक ढंग से विकसित करने वाले तथा कविता की अपनी दुनिया के बाहर की दुनिया से रिश्तों और तनावों को तलाश करने वाले कवियों में रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह और श्रीकांत वर्मा को प्रतिष्ठित करते हैं। रघुवीर सहाय की आत्महत्या के विरूद्ध 'और श्रीकांत वर्मा को' मायादर्पण में उन्होने इन मूल्यों की पहचान की है।

अशोक वाजपेयी ने फिलहाल में बिम्ब को लेकर उसका समकालीन कविता में महत्व के प्रश्न पर विचारपूर्ण विवेचन किया है। उन्होने कहा है कि "नई कविता बिम्ब केन्द्रित रही है "[57]और इस कारण अधिकतर कवि उसी घटाटोप में दब कर रह गये "सातवें दशक तक आते-आते कई जागरूक कवियों को यह महसूस हुआ कि कविता को बिम्ब से मुक्त कराकर ही उसे जीवंत और प्रासंगिक रखा जा सकता है।"[58] इस बिम्ब प्रधानता के पांडित्य के कारण को ही अशोक जी ने सपाटबयानी का मूल्य बताया है। उन्होने रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, श्रीकांत वर्मा तीनों "कवियों को सपाटबयानी के मूल्य को पहचानने और उसमें कविता संयोजन करने वाला कहा है। इन कवियों ने चित्रमयता को खोये बिना उसे रोजमर्रा की जीवंतता दी उन्हीं के अनुसार इन कवियों में "भाषा इच्छित संसार की सूचना या बखान नहीं अपने विशिष्ट प्रबंध द्वारा उसकी रचना की हो जाती है।"[59] लेखक ने इन तीनों कवियों पर विचार करते हुए कविता भाषा को नये सन्दर्भों के उपयुक्त बनाने के लिए कहा है कि "कविता में कहीं न कहीं भाषा के साथ खिलवाड़ जरूरी है।"[60] कविता में शिल्प की अराजकता और ना समझी के स्थान पर एक सुनिश्चित और सचेत टैकनीक को अपनाने पर वे बल देते हैं।

अतः कुल मिलाकर कविता के लिए उनके अनुसार सपाटबयानी, निश्चित टैकनीक और भाषा के साथ खिलवाड़ जरूरी है। जिसे फिलहाल में उन्होने सार्थक ढंग से विवेचित किया है।

आलोचक मदन सोनी ने फिलहाल के जनतंत्र पर टिप्पणी करते हुए लिखा है "इस जनतंत्र की एक नयी खिड़की खोली गयी उस दिशा की ओर जहां हिन्दुस्तान का यथार्थ जनतंत्र है।"[61]कविता और राजनीति में खुले तौर पर और इसके संबंध पर नये सिरे से विचार करने वाले आलोचकों में मुक्तिबोध के बाद अशोक वाजपेयी का ही नाम आता है। जब साहित्य को राजनीति से अलग करने की पुरजोर कोशिश चल रही थी उस समय अशोक वाजपेयी ने कविता को राजनीति से दूरी या उदासीनता को खतरनाक माना। राजनीति और कविता के संबंध पर 'टामस मान' का उदाहरण देते हुए अशोक वाजपेयी ने कहा है कि हमारी दुनिया एक ऐसी दुनिया है जिसमें मनुष्य की नियति अपने को राजनीतिक शब्दावली में व्यक्त करती है।"[62] फिर राजनीति से अलग कविता समकालीन मनुष्य और उसकी स्थिति को कैसे परिभाषित कर सकती है।हो सकता है कि राजनीतिक कर्म से अलग रहना जरूरी हो पर मानव नियति को जो शक्तियां नियंत्रित कर रही हैं उनकी गहरी समझ पाने के लिए यह उतना ही जरूरी है कि कवि राजनीतिक विचारों और उथल-पुथल की जानकारी और समझ रखे और कवि कर्म में इस जानकारी और समझ को इस्तेमाल करें।"[63] किन्तु अशोक वाजपेयी राजनीति के प्रति बिना उसके ब्यौरों से जूझे उनकी दृष्टि के सरलीकरण के चित्रण का विरोध करते हैं। कविता में राजनीति के संबंध में उन्होने मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा,धूमिल आदि को प्रासंगिक माना है। उन्होने इस संबंध में सतर्क उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, (अज्ञेय को रिजेक्ट करने का यह भी एक प्रमुख कारण रहा है।)"राजनीति से अछूता काव्य संसार कलात्मक ढंग से सार्थक हो सकता है, स्वायत्त भी, पर मानवीय ढंग से समृद्ध और तात्कालिक नहीं।"[64]

मुक्तिबोध की कविता पर अशोक वाजपेयी ने लिखा है कि "नई कविता में किसी और कवि ने समकालीनता को उसकी भयानक गहराई और पूरे विस्तार में देखने की ऐसी मार्मिक और सच्ची कोशिश नहीं की जैसी मुक्तिबोध ने।"[65] मुक्तिबोध के प्रति लोगों में जो धारणा बनी हुई थी कि वे मार्क्सवादी हैं, उनकी कविता में भय,आतंक, हिंसा का जोर है आदि-आदि, इस समूची धारणा का अशोक वाजपेयी ने सप्रमाण खण्डन कर मुक्तिबोध की मार्क्सवादी दृष्टि को सकारात्मक बताया और उन्हें नयी कविता के प्रेरणा स्रोत घोषित किया। मुक्तिबोध को उन्होने मनुष्य की समूची हालत के बारे में लिखने वाला कवि

बताया, इसलिये उन्होने अपने फार्म में फैन्टेसी को चुना। अशोक वाजपेयी का विश्वास है कि "अपने रचनात्मक प्रयत्न को आकार और महत्व देने के लिए जरूरी हैं कि कवि के पास कोई विचार प्रणाली या वैचारिक व्यवस्था हो।"[66] मुक्तिबोध के पास यह व्यवस्था मार्क्सवाद थी।

युवा पीढ़ी की बहुत सी कविता निराशा और भविष्य के अंधकारमय होने से आक्रांत रही है किन्तु अशोक वाजपेयी ने मुक्तिबोध के विषय में कहा है कि "मुक्तिबोध निराशा की इस नई दकियानूसी में शामिल नहीं हुए। समकालीन दुःस्वप्न को उन्होंने पूरे साहस के साथ देखा और उसकी भयानकता को न तो कभी कम किया और न ही सरलीकृत" अशोक वाजपेयी ने मुक्तिबोध के मुहावरे को एक समावेशी मुहावरे की संज्ञा दी है। उन्होंने कहा है कि मुक्तिबोध में बिंबधर्मिता, सपाटबयानी,उत्सवधर्मिता, विश्लेषण, बातचीत, रिटौरिक, विनोदप्रियता आदि अनेक तत्वों का एक अद्भुत और जटिल संयोजन संभव हुआ है[67] जो उनके समकालीनों में नहीं मिलता। अशोक वाजपेयी की आलोचना के सन्दर्भ में कोई एक निर्णय नहीं दिया जा सकता। निर्णय देने के बदले अच्छा है उन बातों पर गौर किया जाये जो उन्होंने अपनी आलोचना के केन्द्र में साहस अन्वेषण और पूरे विश्लेषण के साथ उठाई है। आलोचना इतनी रूचिकर और मुग्ध करने वाली भी हो सकती है पहली बार अशोक वाजपेयी की भाषा ने हमें बताया।बातचीत के लहजे में कविता का वर्गीकरण विश्लेषण और तार्किक अध्ययन भी संभव है। उनकी भाषा ने हमें बताया। राजनीति और कविता के संबंध को लेकर लोगों में व्याप्त दकियानूसी को अशोक वाजपेयी ने खारिज कर राजनीति और कविता के गहरे संबंध होने में ही कविता की भलाई की पैरवी की।इस संबंध में उन्होंने मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय,केदारनाथ सिंह,श्रीकांत वर्मा को मान्यता दी।

जब हमारे यहां साहित्य में राजनीति कट्टरता का रूप धारण कर चुकी थी,साहित्य और राजनीति के रास्ते पूरी तरह अलग-अलग हो चुके थे "राजनीति और राजनैतिक तथ्य, हमारे जमाने की राजनैतिक जलवायु की समझ कविता के लिए लगभग एकदम अप्रासंगिक बना दिये गये थे।"[68] ऐसे में अशोक वाजपेयी ने कहा हमारा कवि समकालीन दुनिया को समझने के एक मूल्यवान औजार से वंचित रह गया वे 'टामस मान' का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि "हमारी दुनिया एक ऐसी दुनिया है जिसमें मनुष्य की नियति अपने को राजनीतिक शब्दावली में व्यक्त करती है"[69] इसलिए समकालीन मनुष्य और उसकी हालत को समझने के लिए कविता में आवश्यक राजनीति की समझ जरूरी है।

"समकालीन सच्चाई, राजनीतिक कर्म, इच्छा और तथ्यों से उलझी सच्चाई और बिना राजनीति से दो चार हुए उसका साक्षात्कार अधूरा और अप्रामाणिक रहेगा।"[70] अशोक वाजपेयी ने यह साक्षात्कार रघुवीर सहाय,केदारनाथ सिंह, श्रीकांत वर्मा,धूमिल, कमलेश में देखा है और उसे विश्लेषित किया है।

कविता में विचारों की क्या भूमिका है ? विचारहीन कविता से क्या तात्पर्य है ? यह और इससे मिलते- जुलते अनेक प्रश्नों पर अशोक वाजपेयी ने अपने लेख, विचारों से विदाई पर गम्भीरता से विचार किया है इस विषय पर उन्होंने जिस तरह से विचार किया है उससे सिद्ध होता है कि अशोक वाजपेयी एक सृष्टा की भांति समकालीन काव्य की पड़ताल तो करते ही हैं साथ ही कविता और आलोचना के राहगीरों से पहचान कर उनको सही रास्ता भी दिखाते हैं तथा उस रास्ते की जरूरतों और खामियों को पटल पर रखते हैं। उन्होंने श्रेष्ठ आलोचना की आधार शिला रखते हुए बिना हिचक साहित्य में विचारों ,मूल्यों और जीवन की समस्याओं के अभाव और दुष्परिणामों को पूरी जिम्मेदारी के साथ अपने अध्ययन का विषय बनाया है। विचारों से विदाई लेख में इसे बखूबी परखा जा सकता है साहित्य में विचारों की अनिवार्यत: को रेखांकित करते हुए उन्होंने लिखा है कि "बिना विचारों के यानी बिना किन्ही विचारों में जड़ जमाए कविता निरी ऐन्द्रिक फुरफुरी या तुच्छ खिलवाड़ भर रह सकती है विचारहीन कविता कभी भी मनुष्य की हालत की कोई पहचान या कोई समझ उत्तेजित कर नहीं सकती।"[71] आज के मनुष्य और उसके जीवन की जटिलतओं तनावों और अर्न्तविरोधों को समझ पाना बल्कि ठीक से पहचान पाना भी असंभव हो गया है ऐसे में यदि "समकालीन दुनिया और उसकी सचाई का उनकी पूरी जटिलताओं के साथ साक्षात्कार साहित्य की मूल प्रतिज्ञा है तो यह साक्षात्कार बिना विचारों से उलझे और उन्हें जज्ब किये बगैर न तो पूरा हो सकता है और न ही गहरा और प्रासंगिक।"[72] अत: कविता में विचार आवश्यक

है। विचारहीन कविता, कविता नहीं उसकी फुरफुरी मात्र है। उन्होंने इस संबंध में जिन कवियों की कविता को सराहा है उनमें धूमिल, कमलेश, रधुवीर सहाय, विनोद कुमार शुक्ल आदि के नाम सम्मिलित हैं।

युवा कवियों की उग्रता, स्त्री और संसद के चालू मुहावरों की भंवर में घूम रही उनकी तथाकथित कविता की अशोक वाजपेयी ने खुले तौर पर भर्त्सना की है और कहा है कि "स्त्री और संसद के चालू मुहावरों के रहते ढेर सारे युवा कवि बिलकुल एक दूसरे जैसा महसूस कर रहे हैं और ऐसे लिख रहे हैं कि एक को दूसरे से फर्क करना इस कदर मुश्किल हो गया है। कई बार शक होता है दहशत भी कि जैसे एक कवि कई नामों से लिख रहा है।"[73] उन्होंने इसे भाषा की नामहीनता का उभरना कहा है। किन्तु इस भाषा की नामहीनता के विरूद्ध कमलेश,धूमिल, श्रीराम वर्मा, विनोद कुमार शुक्ल,ऋतुराज आदि युवा कवियों को इंगित करते हुए कहा कि उन्होंने "भाषा को पहचान और प्रासंगिकता देने की,भाषा को अपने नाम देने की कोशिश की है। बदलता मुहावरा लेख में उन्होंने इस विषय पर गंभीर और तार्किक विवेचन किया है। बिना धार्मिक संवेदना के काव्य में हमारे यहां कोई इलियट पैदा होना लगभग संभव नहीं होगा।

अशोक वाजपेयी समकालीन कविता के विभिन्न सन्दर्भों का गहन और खुला विवेचन करने के अलावा अपने समीक्षा कर्म को सीमित ना कर कविता से जब तब बाहर निकलकर खुले में समकालीन आलोचना से भी अपने बौद्धिक विवेक और समझ के नये पैने औजारों के साथ टकराते हैं। वे समकालीन आलोचना से कुछ जरूरी सवाल करते हैं। भाषा और सिद्धांतों को लेकर वे उस परिपाटी का विरोध करते हैं जिसमें भाषा के पांडित्य और सिद्धांतों, चोखटों से ही रचना परखना और उन सिद्धांतों की सिद्धि की खोज करना आलोचना के चरम उत्कर्ष की मान्यता व्याप्त हो चुकी है।

कविता की आलोचना, अभिव्यक्ति या भाषा, सभी स्तर हमारे साहित्य के तथाकथित मर्मज्ञों ने जिस तरह नयी पीढ़ी का विरोध किया है उससे साफ जाहिर होता है कि नयी पीढ़ी वास्तव में निर्णायक और सब कुछ दांव पर लगा देने वाले शहीदाना संघर्ष करके साहित्य के धरातल पर अपने पैर जमा पाई है। नयी और पुरानी पीढ़ी के इस साहित्यिक संघर्ष को अशोक वाजपेयी ने रोचक ढंग से रेखांकित किया है फिलहाल में उनके युवा कविता आंदोलन के प्रमुख कवियों की परख के अलावा अनेक विषयों पर उन्होंने बहुत खुले मन से विचार करने के लिए चुना है। उन्होंने फिलहाल के अनेक निबंधों में समकालीन साहित्य के ज्वलंत प्रश्नों को सार्थक ढंग से उठाया है। जिसमें कविता और आलोचना की स्थिति का जायजा प्रमुखता से दिखायी देता है। अशोक वाजपेयी सन् 55-56 के बाद के युवा कवियों में से अधिकांश में मूल्य, दृष्टि या किसी मानव मूल्य के लिए सच्ची विकलता का अभाव पाते हैं। उन्होंने इस दौरान की कविता को मानवीय वास्तविकता से दूर मानवीय अनुपस्थिति का काव्य कहा है। उन्होंने युवा पीढ़ी के इस काव्य को काव्य नहीं काव्याभास की संज्ञा दी है। "नयी कविता पर उन्होंने टिप्पणी करते हुए कहा नयी कविता को भी एक काम चलाउ काव्यशास्त्र बन गया है एक रिटौरिक विकसित हो गया है।"[74] जिसके कारण बिना प्रतिभा के भी कवि बनना आसान हो गया है। जिसका दुष्परिणाम कवि कुकुरमुत्ता की भांति उग आना है। समकालीन साहित्यकारों का लिखा कूड़ा करकट कैसे महान् साहित्य का दर्जा पा रहा है, साहित्य में भी चापलूसी और पार्टीबंदी, प्रशस्तीगान, की छदम हरकतें किस हद तक बढ़ गयी हैं अशोक वाजपेयी ने स्पष्ट तौर से विचार किया है। जिस कारण कविता महत्वबोध, परम्पराबोध से कट गयी,भाषा शहराती हुई और शहराती जीवन अपनी व्यापक जटिलता के साथ उसमें अवतरित हुआ। और धार्मिक संवेदना क्षीण हो गई। "हमारी भाषा में नागरिक आया तो ईश्वर बाहर चला गया। और काव्य ने जीवन के चरम प्रश्नों का गहराई और विकलता से सामना करना और समाधान खोजना छोड़ दिया।"[75] "इस तरह धर्म हमारे यहां अजब भोलेपन से आधुनिक चीज मान ली गई।"[76] जबकि हमारा प्राचीन काव्य धार्मिक संवेदना का जीवंत प्रमाण है। पश्चिमी साहित्य का उदाहरण देते हुए अशोक वाजपेयी ने लिखा है कि "बिना धार्मिक संवेदना या विकलता के रिल्के, ईलियट, काफका आदि यहां तक हैमिग्वे तक का साहित्य असंभव होता।"[77] निराला का उद्धरण उदेते हुए लेखक ने कहा है कि निराला के काव्य में यह धार्मिक संवेदना मौजूद थी। अत: अशोक वाजपेयी समकालीन सामाजिक सांस्कृतिक काव्य में धार्मिक संवेदना को स्थान देने की मांग करते हैं।

कुछ पूर्वग्रह : समीक्षा जगत और चिन्तन विश्व -

"पूर्वग्रह यह पूर्वग्रह शब्द अशोक वाजपेयी द्वारा संपादित त्रैमासिक पत्रिका का शीर्षक भर नहीं है बल्कि उनके आलोचना विवेक और उनकी वैचारिक सरहदों को जानने पर परखने का माध्यम भी है "[1]अशोक वाजपेयी की आलोचना को समझने के लिए सुधीश पचौरी और मदन सोनी दोनों ने जिरह का रास्ता बताया है।" जिरह सबसे पहले हमें इसकी भाषा से करनी होगी। इसलिए इस आलोचना के ढांचे में प्रवेश का अगर कोई संभव दरवाजा है तो वह भाषा ही है यह भाषा स्वयं विश्लेषण की भाषा उतनी नहीं जितनी रचना से अर्जित प्रभावों का एक नया संश्लेषण करने वाली भाषा है।"[2]

अशोक वाजपेयी आलोचना के धरातल पर मुझे लगभग भाषा के लंबरदार की तरह नजर आते हैं। वे अपनी समीक्षा के केन्द्र में कविता की भाषा पर अचूक नजर रखने वाले समीक्षक है कविता और आलोचना दोनों की भाषा को लेकर उन्हें काफी उत्तेजित देखा जा सकता है, भाषा की चूक पर तीखे प्रहार करने वालों में वे अपने समकालीनों में सबसे अधिक कुख्यात हैं। भाषा के विषय में वे किसी को कोई छूट नहीं देते हैं और न कहीं भी उसे अनदेखा करते हैं। भाषा को लेकर वे जितने दूसरों के बारे में चौकन्ने हैं उतने ही स्वयं के बारे भी। शब्द उनके लिए अभिव्यक्ति के साधन मात्र नहीं है "एक मूल्यवान और सार्थक व्यवस्था भी है।"[3] भाषा के मामले में अशोक वाजपेयी पर किसी भी तरह की लापरवाही का दोष दूर-दूर तक नहीं लगाया जा सकता। फिलहाल से लेकर 'कुछ पूर्वग्रह' और 'समय से बाहर' से लेकर अब तक उनके गद्य साहित्य में कहीं भी भाषा के स्तर पर पांडित्य प्रदर्शन या भाषा की गिरावट जैसे आरोप नहीं लगाये जा सकते। हां इतना कहा जा सकता है कि अशोक वाजपेयी की भाषा में उनके समकालीन आलोचकों विष्णु खरे,मलयज,शाह,आदि से मिलते जुलते तत्व हैं पर वे हैं,उनके निरे अपने।

फिलहाल के दौर में अशोक वाजपेयी की भाषा में निश्चित रूप से सहजता, प्रवाहपूर्णता, आकर्षण और सटीकता विद्यमान थी, किन्तु फिर भी वहां कहीं-कहीं वाक्यों का आवश्यकता से अधिक लम्बा हो जाना खलता भी था। जिससे अभिव्यक्ति भी बाधित हुए बिना नहीं रहती। कुछ पूर्वग्रह में यह कमी उन्होंने दूर की है, यहाँ वे जो कहना चाहते हैं पहले से अधिक स्पष्ट कह पाये हैं। रचना से अर्जित प्रभावों का संश्लेषण हॉलाकि फिलहाल से अनवरत उनकी भाषा में बहता आ रहा है।" भाषा का यह गुण उसे इतना आकर्षक बनाता है कि जैसे ही हम उसके सम्पर्क में जाते हैंवह हमें घेर लेती है।"[4] अशोक वाजपेयी की भाषा के इस घेराव को मदन सोनी ने दुर्लभ पठनीयता की संज्ञा दी है। कुछ पूर्वग्रह में भी लेखक फिलहाल की तरह भाषा को लेकर चौकन्ना है "वह प्रश्नों, तर्कों और आग्रहों को रखकर स्वयं को भाषा के स्तर पर हटाता नहीं है बल्कि इसके विपरीत जिस भाषा का हम जिक्र कर रहे हैं। वह अपनी मुखर उपस्थिति में ही आलोचक के आग्रहों,तर्कों और प्रश्नों आदि को उभार पाती है। यह एक कारण है जो इस आलोचना में हमें सबसे पहले भाषा के रूबरू करता है।"[5]

फिलहाल से कुछ पूर्वग्रह की तुलना फिलहाल में जहां अशोक वाजपेयी की कलम साठवें दशक के मोहभंग के वातावरण से उपजी काव्यधाराओं से जूझ रही थी कुछ पूर्वग्रह के वातावरण में आकर उसने एक स्थायित्व ग्रहण किया। यह बात अलग है कि अधिकांश कवि वे ही यहाँ भी मौजूद हैं जो फिलहाल में थे। किन्तु न वहाँ उन कवियों की उपस्थिति असत्य थी न यहाँ। यदि कोई रचनाकार दोनों समयों में सक्रिय है तो उसे अनदेखा भी तो नहीं किया जा सकता। करने वाले हॉलाकि यहाँ कुछ भी कर डालते हैं। फिलहाल की जरूरत कई मायनों में अलग थी जैसे उसमें नयी कविता की रूढ़ियों से स्वतंत्र होकर कविता नये सामाजिक सत्य से रिश्ता बना रही थी तो ठीक इसी वक्त युवातम पीढ़ी में अकविता के अतिचारों के सामान्तर युवा कविता (यह नाम भी अशोक वाजपेयी कर दिया हुआ है) आधार ले रही थी जिसमें भाषा, संवेदना और विचारों के स्तर पर उस नये सामाजिक सत्य को संयत और कहीं कहीं अतिरंजित अभिव्यक्ति मिल रही थी।"[6] ऐसे में आलोचना की पहली आवश्यकता "इस चौतरफा धुन्ध से सही कविता को अलग करना आलोचना के लिये मुश्किल हो गया था जिसे अशोक वाजपेयी ने अलग किया।"

कुछ पूर्वग्रह के समय तक ऐसी स्थिति नहीं रही है जहां फिलहाल में कविता की अलग-अलग धाराएं शब्दों का मायाजाल बुन रही थी, आपस में टकरा रही थी, कविता के नामों और आंदोलनों का धमासान मचा हुआ था, यहां कुछ पूर्वग्रह में वही कविता "बिना किसी नाटकीय मुद्रा के और बिना हाथ उठाकर किसी नये काव्य धर्म की घोषणा के, गुपचुप दूब की तरह दृश्य पर छा गयी है शान्त, विनम्र, पर अनिवार्य और ऐसी कि उसके वहाँ होने पर अचरज सा हो रहा है।"[7] यहां अशोक वाजपेयी कविता पर जरूरत से ज्यादा विश्वास की हद तक आ जाते हैं हॉलाकि यह उनकी अनिवार्य आदत है। हमारे यहां कविता के बारे में पीढ़ियों और आंदोलनों, की श्रेणियों में सोचने विचारने की एक बेहद सरल दिमागी रूढ़ि "[8] जो पिछले चार दशकों से चली आ रही थी वह 80 के दशक में हमारे साहित्य से बिदा ले गयी। हॉलाकि आंदोलनों और रूढ़ियों के चौखटों में रखकर निर्णय सुनाने को कुछ लोग अभी भी बैचेन देखे जा सकते हैं, पर कम। अब उनका बहुमत नहीं रहा और खोटे सिक्के चलना भी लगभग कभी का बंद हो गया है।

आखिर क्या कारण रहे हैं कि पीढ़ियों आंदोलनों में रखकर कविता की नाप जोख लोगों ने अधिक की ? इस प्रश्न के उत्तर में अशोक वाजपेयी ने कहा है कि "किसी आंदोलनो के सामान्यीकरण से कविता, उसकी विशिष्टता और बारीकियों से सीधे और खुद के कठिन काम से आलोचक को छुट्टी मिल जाती है और आलोचक कविता नहीं घोषणा के आधार पर अपनी जांच परख करता चलता है।"[9] ऐसी आलोचना और आलोचकों से हमारे साहित्य का बहुत अहित हुआ है किन्तु अशोक वाजपेयी कविता को उसकी विशिष्टता और बारीकियों से अपनी आलोचना के आरम्भ से ही सीधे साक्षात्कार करते आ रहे हैं,जो यहां कुछ पूर्वग्रह में और विकसित रूप में हमें दिखायी देता है।

कुछ पूर्वग्रह में जो महत्वपूर्ण पहलू दृष्टिगोचर होता है वह है 1980 में प्रकाशित कविता से "चालू मुहावरों दृष्टियों और एकाधिकारों का समय गया, इस समय युवाओं के साथ वरिष्ठ कवियों की सार्थक और सहयोगपूर्ण उपस्थिति ने कविता के वर्षों से चले आ रहे इकहरेपन को समाप्त किया।

अशोक वाजपेयी ने आठवें दशक की कविता पर टिप्पणी करते हुए कहा है "ऐसा आलोचक जो ऐतिहासिक दृष्टि को ताक पर रखकर नितान्त समसामयिकता के कोण से ही दृश्य को जांचना-परखना चाहेगा।"[10] बह भी युवा कवियों के साथ संबंध खोजने को विवश है। अशोक वाजपेयी का यह संबंध स्थापित करने वाले अधिष्ठाता आलोचक हैं। उन्होने फिलहाल से ही इस संबंध का रास्ता दिखाया है जो कुछ पूर्वग्रह में भी पूरी तरह सक्रिय है। अशोक वाजपेयी ने फिलहाल में 'नये पुराने का झगड़ा' शीर्षक लेख में जो चिन्ता डाममारेस के संस्मरण को याद दिलाते हुए की थी वह कुछ पूर्वग्रह के आरम्भ से ही समाप्त प्राय: हो गयी जब उन्होने बुजुर्ग कवियों का युवा कवियों के साथ संबंध को लेकर कहा कि "यह मानने का कोई कारण नहीं है कि कवियों में इस साहचर्य के लिए कोई अनिच्छा या अन्यमनस्कता है। बल्कि लगता यह है कि इनमें इस सहअस्तित्व के प्रति उत्साह है।"[11] जब अशोक वाजपेयी को यह लगता है तो निश्चित ही "अकेले होने का ही हीरोक्स ढह चुका है।"[12] और यह निश्चित रूप से हिन्दी साहित्य के विकास में एक नये वातावरण की शुरूआत है जिससे हो सकता है साहित्य समाज के, मनुष्य के, उसकी हालत के, जीवन के और करीब आये या उसमें शामिल होकर उसे प्रभावित करने का दम भर सके। जो भी हो सम्वादहीनता से सम्वादपूर्ण संबंध की स्थिति अहितकर नहीं हो सकती। स्वयं अशोक वाजपेयी ने इसे हितकर मोड़ कहा है। कुछ पूर्वग्रह को दोनों पीढ़ियों के सौहाद्रपूर्ण सम्पूर्ण का दस्तावेज या घोषणा पत्र कहना अनुचित नहीं जान पड़ता। कुछ पूर्वग्रह के केनवास में फिलहाल के अतिरिक्त क्या-क्या चीजें नयी शामिल की गयी हैं ? और कौन सी छोड़ दी गयी है इस बात पर विचार करना आवश्यक जान पड़ता है।

अशोक वाजपेयी की आलोचना फिलहाल में जहां "हमारी बौद्धिक दुनिया के उस हर कोने के प्रति चौकन्नी"[13]थी वह कुछ पूर्वग्रह में भी है किन्तु यहां उसने अपना फिलहाल वाला बौद्धिक संघर्ष लगभग छोड़ सा दिया है और वहां फिलहाल में जो पक्ष-विपक्ष की सगुण उपस्थिति थी जिसके कारण "उसकी खण्डन-मण्डन शैली में एक सार्थक तनाव था।"[14] वह भी कुछ पूर्वग्रह में वैसा नहीं रहा जैसा फिलहाल

में था हॉलाकि फिलहाल की सामाजिक, साहित्यिक परिस्थितियां और जरूरतें कुछ पूर्वग्रह के समय से पूरी भिन्न थी। फिर भी ऐसा नहीं कि "कुछ पूर्वग्रह में संघर्ष या खण्डन-मण्डन है ही नहीं, खण्डन-मण्डन कुछ पूर्वग्रह में भी है बल्कि पहले से ज्यादा कहा जा सकता है कि इसमें हर खण्डन-मण्डन की एक अनिवार्य सीढ़ी चढ़ने के बाद ही सुलभ होता है पर यहां यह उसकी निषेधात्मक दृष्टि के रूढ़ होते गये संस्कार के कारण अत्यन्त अमूर्त है यहां खण्डन-मण्डन की भाषा अक्सर इस तरह की है।"[15]

"अपने आस-पास के प्रति संवेदनशीलता और जो दीखता या महसूस होता है उसे भाषा में सहेज और दिखा पाना कठिन काम है हॉलाकि यह कविता का एक बुनियादी काम ही है। ऐसी कविताओं की इन दिनों भरमार है जो बिम्बों और रूपकों के ढेर के बावजूद हमें कुछ साफ-साफ दिखा नहीं पाती, ऐसे में शमशेर की कविताएं पढ़ना मानो में दृष्टिवती रचनाएं पढ़ना है वह कविता को जैसे उसकी स्वाभाविक दृष्टि वापस देना है।"[16] "कुछ पूर्वग्रह की शैली में अशोक वाजपेयी का वाक्य विन्यास और उक्तिचातुर्य गजब का है किन्तु एक चीज जिसे हम तर्क कहते हैं यहां सिरे से गायब है।"[17] अशोक वाजपेयी के ही शब्दों में कहें तो यह "शब्दों की एक सार्थक व्यवस्था तो है पर तर्कों की सार्थक व्यवस्था नहीं।"[18] यहां शब्दों का क्रम विन्यास अनोखा है किन्तु वे तर्क नहीं बन पाते सिर्फ एक लुभावना विन्यास भर बनकर रह जाते हैं।

आलोचक मदन सोनी ने अपनी पुस्तक विषयांतर में फिलहाल के बरक्स कुछ पूर्वग्रह की समीक्षा पर प्रशस्ति वाचन का आरोप लगाया है। जिससे मैं कतई सहमत नहीं हूँ क्योंकि फिलहाल की जलवायु और साहित्यिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक परिवेश और परिस्थितियों में जमीन आसमान का अंतर है उन्हें मालूम होना चाहिए कि फिलहाल की नींव किस साहित्यिक, राजनैतिक घमासान पर रखी गई थी। वे परिस्थितियां कुछ पूर्वग्रह के वातावरण में पूरी तरह बदल चुकी थी और फिर एक ही लाठी से हर समय की कविता को नहीं आंका जा सकता। इसलिए फिलहाल और कुछ पूर्वग्रह के विश्लेषण और समझ में कुछ दाखिल खारिज जरूरी भी था। हां यहां कवियों "कविताओं को सराहने, स्थापित करने की कोशिश यहां की गयी है किन्तु वैसी कविताओं की कोई स्पष्ट तस्वीर वहां नहीं है। सिर्फ समीक्षा में ही नहीं, पूरी किताब में भी हो सकता है आलोचक के मन में हो पर क्या उसे सामने न लाने का कारण एक अनिवार्य बौद्धिक भिड़न्त से बचना नहीं है "[19] जो भी हो इसका उत्तर लेखक ही दे सकता है।"अपनी आलोचना के बारे में हॉलाकि अशोक वाजपेयी ने कहीं अलग से इशारा नहीं किया है पर कुछ पूर्वग्रह (1984) की भूमिका के बहाने उन्होंने अपनी आलोचना को एक तरह से समझने की पाठक को राह दिखायी है।"[20] जैसे उन्होंने कहा है "हर आलोचना के जैसे कि हर रचनाकार के भी पूर्वग्रह होते हैं आलोचना समकालीन परिदृश्य में हस्तक्षेप है। वह उदासीन, तटस्थ या पूर्वग्रहीन नहीं हो सकती हमारी आलोचना में रूचि का केन्द्र प्राय: इन पूर्वग्रहों की पहचान और रचना से सामना होने पर उसमें आये तनाव और परिवर्तन होते हैं यही आलोचना को उसकी सार्थकता और बुनियादी मानवीयता प्रदान करता है। यद्यपि दृढ़ और स्पष्ट कथन का आग्रह है पूर्वग्रह परम और स्थायी नहीं है उनका सच जैसे कि जीवन का भी, परिवर्तन की प्रक्रिया में ही है। कुछ पूर्वग्रह अपनी अर्जित दृष्टि और अनुभव के हैं कुछ समकालीन रचना से आते हैं और कुछ परिवेश में अपनी स्थिति के आकलन से मिले हैं पर इन सभी के केन्द्र में साहित्य, संस्कृति और समकालीन जीवन है यह बात अलक्षित नहीं जायेगी यही आशा है।"[21] इस वक्तव्य से एक तरफ अशोक वाजपेयी की आलोचना को समझने का रास्ता मिलता है तो दूसरी और मुंह बांये एक प्रश्न खड़ा हो जाता है कि आखिर यह पूर्वग्रह है क्या ? जिसे अशोक वाजपेयी अपनी आलोचना में वेदमंत्र की तरह जपते दिखायी देते हैं इस प्रश्न के उत्तर में इतना कुछ कहा जा सकता है कि जगह की कमी पड़ जायेगी। हिन्दी आलोचना का आरम्भ तो पूर्वग्रह रहित घोषणा से हुआ, किन्तु दुर्भाग्य से आलोचना में हमारे यहां पहले से बनी बनायी धारणायें और निर्णय ही ज्यातर दिये गये। हिन्दी आलोचना में पीछे मुड़कर देखें तो जो बात अधिकतर आलोचकों में सुनायी देती है वह रचना की आलोचना पूर्वग्रह रहित होना चाहिए, श्रेष्ठ आलोचना का आधार ही है पूर्वग्रह हीन पड़ताल, पूर्वग्रह से युक्त आलोचना कभी न्याय नहीं कर सकती यह बातें हमारे यहां की समीक्षा में भरी पड़ी हैं मेरे कहने का मतलब अशोक

वाजपेयी से पहले न्याय आलोचना में पूर्वग्रह हीन होना जरूरी माना गया, जिसके बिना आलोचना की कल्पना ही नहीं की गई जैसे कहा गया है "आलोचक का यह प्रधान कर्तव्य होता है कि वह पूर्वाग्रहों से मुक्त हो, दुराग्रहों की लालसा न हो और उसकी दृष्टि तटस्थ हो।"[22] ऐसी और इससे मिलती-जुलती गई टिप्पणी यहां दी जा सकती हैं किन्तु एक बात जो इस चर्चा में दब सी गई है वह है हमारी आलोचना में साहित्यिक दुश्मनी को साहित्यिक शब्दों में पूर्वाग्रह कहा गया है जो बाकायदा हमारी पिछली आलोचना में बड़े-बड़े आलोचकों में भी दिखायी देती है किन्तु अशोक वाजपेयी जिस पूर्वग्रह की सगुण उपस्थिति आलोचना में प्रवृत्त होने के लिए अनिवार्य मानते हैं वह वैसा और वह पूर्वाग्रह नहीं है जिससे परहेज करने को हमारी पिछली पीढ़ी चीखती नजर आती है। इन मायनों में अशोक वाजपेयी के पूर्वग्रह आलोचना में प्रवृत्त होने का मार्ग है। निर्णय सुनाने का आधार और तरीका नहीं। इसी आधार पर अशोक वाजपेयी आलोचना में तटस्थता, पूर्वाग्रह हीनता जैसे शब्दों को जो सभी आचार्यों की आलोचना के घोषणा पत्र में दाखिल हैं। पूर्वग्रह का मतलब यहां दुश्मनी वाला नहीं है, यहां उसका मतलब है समीक्षा में प्रवेश के कारण हमारे यहां जिन लोगों ने पूर्वग्रह रहितता के नगाड़े बजाये उन्हीं लोगों में ज्यादा पूर्वाग्रह की उपस्थिति और सक्रियता मुझे दिखायी देती है, जिससे हिन्दी आलोचना का पिछला भाग वैसा नहीं है जैसा होना चाहिए था। जैसे पिछले युग में महान् आलोचकों की आलोचना से भी दुश्मनी और जान बूझकर की गयी भेदभाव की राजनीति की बू अब भी आती है। उस अन्याय को मिटाने के प्रयास में हॉलाकि काफी दिनों से किये जा रहे हैं। किन्तु उन रचनाकारों के साथ आज न्याय संभव ही नहीं रह गया है, फिर भी इतिहास को तो कम से कम सुधारा ही जा सकता है। "अशोक वाजपेयी की आलोचना के सिलसिले में जो शब्द बार-बार ठसक के वजन पर पाठक से मुठभेड़ करता है वह है पूर्वग्रह, यह पूर्वग्रह शब्द उनके द्वारा सम्पादित त्रैमासिक पत्रिका का शीर्षक भर नहीं है। बल्कि उनके आलोचना विवेक और चिन्तन विश्व को जानने-परखने का माध्यम भी है।"[23] क्या है उनकी आलोचना का पूर्वग्रह जिसे अशोक स्पष्ट कथन का आग्रह मात्र मानते हैं। "उनके सम्पूर्ण आलोचना की वैचारिक सरणी से गुजरते हुए पाठक को यह उनका स्पष्ट कथन का आग्रह मात्र नहीं लगता। क्योंकि शब्द अगर महज स्पष्ट कथन का आग्रह मात्र है तो वह गुण आपको हिन्दी के सभी शीर्षस्थ आलोचकों आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, राम विलास शर्मा, नामवर सिंह, मुक्तिबोध, श्रीकांत वर्मा, विजयदेव नारायण साही में भी "[24] अशोक वाजपेयी से कमतर नहीं मिलेगा हॉलाकि अशोक वाजपेयी की "आलोचना में रूचि का केन्द्र प्राय: इन पूर्वाग्रहों की पहचान और रचना से सामना होने पर उनमें आए तनाव और परिवर्तन होते हैं "[25] इन पंक्तियों में अशोक वाजपेयी की समूची समीक्षा योजना आ जाती है।"

कुछ पूर्वग्रह अशोक वाजपेयी की कविता की वापसी का एक तरह से ठोस घोषणा पत्र है। आठवें दशक में प्रकाशित प्रमुख कवियों के काव्य संग्रहों को केन्द्र में रखते हुए उनकी पड़ताल का माध्यम है। आठवें दशक में कविता की सामाजिक उपयोगिता को लेकर संशय व्याप्त होना स्वाभाविक ही था क्योंकि "पिछले कुछ वर्षों में हिन्दी कविता के सामाजिक मूल्य की ऐसी धारणा विकसित हुई है, जो सामाजिक संघर्ष में कविता की जिम्मेदारी की बहुत सीमित और स्थूल परिभाषा करती है।"[26] ऐसे में किसी "कवि के एकान्तिक जीवन संघर्ष कठिन लय, भाषा के परिष्कार, अस्तित्व और भावना के जटिल और एकान्त पक्षों और वस्तु संसार के ऐन्द्रिय अधिग्रहण की रचना के लिए गुंजाइश नहीं हो सकती और शमशेर का संशय ऐसे माहौल में अपनी विशिष्ट मुहावरे दृष्टि और संवेदना की कविता के लिए कोई जगह न देख"[27] पाना अशोक वाजपेयी की नजर में "कवि का ईमानदार और लगभग अनिवार्य संशय है।"[28] 'तीसरे संसार की जरूरत' शीर्षक निबंध में कुछ पूर्वग्रह में शमशेर की कविता की आदमी के जीवन संघर्ष के साथ तुलना करते हुए अशोक वाजपेयी ने अनेक सार्थक प्रश्न उठाये हैं। जो आठवें दशक की कविता के दायरे में शमशेर की जगह को तो परिभाषित करते ही हैं, साथ ही कविता की सामर्थ्य और उसके कार्य और दिशा को भी परिभाषित करते हैं "जैसे कविता से उम्मीद करना कि वह अपने जीवन संघर्ष में मदद करे, कोई बेजा बात नहीं है।"[29] "आदमी के सामाजिक जीवन के उत्कर्ष के लिए जो संघर्ष हो रहा है उसके रूप अनेक हैं और सीधी राजनैतिक कार्रवाई उनमें से एक है शायद सबसे केन्द्रीय और

ठोस भी।"[30] अशोक वाजपेयी अपनी समीक्षा और चिन्तन में कविता को इस कार्रवाई का हथियार हो जाने के पक्ष में नहीं हैं "क्योंकि राजनैतिक कार्य का अपना जो तर्क होता है अक्सर उसमें बुनियादी मूल्य दृष्टि पृष्ठभूमि में चली जाती है "[31] कविता का काम स्वयं राजनैतिक कार्य की जगह लेकर सीधी कार्यवाही करना नहीं है,बल्कि राजनीति में बुनियादी मूल्यों और दृष्टि जीवित और सक्रिय रखने तथा उसे बार-बार याद दिलाने का है न कि स्वयं कार्रवाई करने का। शमशेर की कविता को अशोक वाजपेयी ने तीसरे संसार को रचती कविता इंगित करते हुये कहा है कि "सच्ची कविता अपने समय में हमेशा तीसरा संसार रचती और पोसती है उन दो संसारों से अलग, जो चीजों और हरकतों के रोजमर्रा संसार।" आम कविता की सूक्ष्म और गहरी पड़ताल करते हुए अशोक वाजपेयी कविता के नये परिदृश्य को समझने और उस समझ से अपनी आलोचना के एहसास को गहरा करने की कोशिश करते दिखायी देते हैं, वे बिना कहे शमशेर के साथ नये काव्य परिदृश्य की बारीकियों को सूक्ष्मता से विश्लेषित करने में सक्षम दिखाई देते हैं। जिस तरह उन्होंने कविता के लिए कहा है कि "अपने आस-पास के प्रति संवेदन शीलता और जो दीखता या महसूस होता है उसे भाषा में सहेज और दिखा पाना कठिन काम है, हॉलाकि यह कविता का एक बुनियादी काम है।"[32] यह काम अशोक वाजपेयी की आलोचना भी कविता की पड़ताल में करती है। जिससे वे कविता के प्रति पूरे चौकन्ने मालूम पड़ते हैं और उक्ति चातुर्य से अपनी बात कहने में वे माहिर हैं। विचार तो जैसे उनकी भाषा की अन्तः शलिला में ही प्रवाहमान होते नजर आते हैं। जैसे "भाषा शमशेर के यहां बोलती उतना नहीं है जितना देखती है।"[33] इस तरह का उक्ति चातुर्य कुछ पूर्वग्रह की एक केन्द्रीय विशेषता है, जो फिलहाल से नयी और परिष्कृत भाषा की सूचना देती है। इससे भाषा में आकर्षण और बढ़ा है।

शमशेर एक बुजुर्ग कवि हैं और उनकी उपस्थिति यहां युवाओं के साथ है किन्तु वे चालू मुहावरों और काव्य युक्तियों की गिरफ्त में नहीं आते हैं। उन्होंने "अपनी जमीन और अपने अर्जित मुहावरे को कभी छोड़ा नहीं है।"[34] लेखक ने इन बातों को पहचाना है। रघुवीर सहाय के काव्य संग्रह 'हँसो हँसो जल्दी हँसो' को अपनी आलोचना दृष्टि और विश्लेषण के द्वारा अशोक वाजपेयी रघुवीर सहाय के काव्य परिदृश्य और उसके विभिन्न क्षेत्रों का एक जीवित संसार उपस्थित कर कविता के एक-एक पक्ष और विशेषता का जैसे हाथ पकड़-पकड़ कर दिखाने की कोशिश कर रहे लगते हैं, यह उनकी ठोस समझ, विस्तृत सोच तथा भाषा के अभिनव प्रयोग को दर्शाता है फिलहाल में जहां अशोक वाजपेयी आलोचना में धीरे-धीरे साधारण तरह से प्रवृत्त हो रहे थे यहां 'कुछ पूर्वग्रह' में वे पहले आलोच्य कवि और कविता के बारे में ठोस और केन्द्रीय तत्वों को सघनता से एक सांस में विन्यस्त कर पटल पर रख देते हैं। कुछ-कुछ ढेर सा और फिर क्रमशः ब्यौरे बार उसे विश्लेषित करते हैं। 'कुछ पूर्वग्रह' उनकी आलोचना के विकास का नया सोपान है। भाषा और अभिव्यक्ति को यहाँ (कुछ पूर्वग्रह) वे नये क्षेत्रों में ले गये हैं। यहां वे शब्दों के हिसाब से नहीं बल्कि शब्द उनकी आवश्यकता के अनुसार अभिव्यक्ति पाते देखे जा सकते हैं। फिर भी रघुवीर सहाय के बारे में उन्होंने (अशोक)फेर बदलकर कुछ वही कहा है जो वे फिलहाल में पहले कह आये हैं लेकिन, यहां इतना कुछ नया है कि उसे अनदेखा नहीं किया जा सकता। जैसे "रघुवीर सहाय उन कवियों में से हैं जो कविता में वैचारिकता को सक्रिय रखते हैं "[35] "उनकी कविता के पास हम उसकी तीखी चमकीली समझ के लिये जाते हैं जो निरे विचार से सम्भव नहीं है, और जिसके लिए एक ऐसी संवेदना की जरूरत है जो जीने की तकलीफों से जूझती उलझती है और उनसे पल्ला नहीं छुड़ाती बल्कि उन तकलीफों से घिरे रहकर एक तरह का यातनापूर्ण विवेक विकसित करती हुई जीने की इच्छा को अटूट रखती है।"[36]

"ये कविताएं कुल मिलाकर ताकत की ताकत के खिलाफ चीख हैं।"[37] कुछ पूर्वग्रह की उक्त टिप्पणियों में ऊपर कहीं बातें स्पष्ट हो रही हैं। अशोक वाजपेयी ने रघुवीर सहाय को लेकर कहा है कि "रघुवीर सहाय की कविता हमारे समय में कविता की संभावना को आगे बढ़ाती है।"[38] इसी मायने में अशोक वाजपेयी की आलोचना, आलोचना की संभावना को आगे बढ़ाती है।

कुछ पूर्वग्रह की समीक्षा में एक और खासियत है वह हमें बांधना चाहती है, यहां अशोक वाजपेयी

हमें अपने चश्मे से ही वह सब दिखाना चाहते हैं जो उन्हें दिख रहा है, यहां आलोचना हमारी समझ का अतिक्रमण करना चाहती सी लगती है और बहुत हद तक करती भी है। यहां अशोक की भाषा की चमत्कारिकता और कसाव पाठक को इधर-उधर न देखने देने की कोशिश करता समझ आता है। जैसे अशोक वाजपेयी विनोद कुमार शुक्ल की कविता का विवेचन करते हुए जिस तरह से उसके आरम्भ में एक चमत्कार पूर्ण समझ को अतिक्रमण करने वाला वक्तव्य देते हैं उससे नहीं लगता कि आगे के विश्लेषण में उनसे कहीं असहमति जताने का मौका भी हमें मिल सकता है। लगता है जैसे वे भाषा, उसके प्रवाह और अभिव्यक्ति के दम पर कुछ मानने को बाध्य करने का प्रयास कर रहे हों।

यही कारण है कि उन्हें विनोद कुमार शुक्ल की "कविता अलग दिखती है इतनी अलग कि न केवल पुराने पैमानों से बल्कि कविता के तीस विद्रोही वर्षों के बाद बनी पहचान में भी उसे ठीक-ठीक पहली नजर में कविता कहना मुश्किल है। यह कविता इतनी धूसर, शान्त, सादी और कविता के लटकों से अलग है कि कविता ही नहीं लगती। वह आजकल लिखी जा रही कविता का एक तरह से प्रतिपक्ष है।"[39]इस कविता को उन्होंने प्रति कविता की संज्ञा दी है।

कुछ पूर्वग्रह में अशोक वाजपेयी की समीक्षा में अनेक जगह एक कमी खलती है,वे जिस ठोस अभिव्यक्ति और समझ के साथ आलोच्य कविता की समीक्षा आरम्भ करते हैं बाद में उसे सक्रिय नहीं रख पाते और बहुत हद चालू मुहावरों का इस्तेमाल कर एक तरह से सरलीकृत से हो जाते हैं। उन्हें यहां कवियों में अद्वितीयता दिखने लगती है और इस अद्वितीयता को बरकरार रखने के लिए वे कुछ तथ्य भी ढूंढकर रेखांकित करने लगते हैं। जो उस कवि में या तो हैं ही नहीं, या हैं भी तो उसने उन्हें उतनी गंभीरता से नहीं लिया, जितना आलोचना समझने का जोखिम उठाने लगती है। वैसे विनोद कुमार शुक्ल की कविता अलग दिखती कविता, प्रतिपक्ष की कविता, बढ़ा-चढ़ाकर देखने से मुक्त कविता, मुहल्ले की कविता, आदिम शक्ति के एहसास की कविता, स्पष्ट कविता आदि अनेक सरलीकरण हमें देखने को मिले हैं जो एक दूसरे से उतने भिन्न नहीं जितना बढ़ा चढ़ाकर यहां स्थापित करने की कोशिश की गयी है। किन्तु इन सरलीकरणों में अपनी पूरी सत्यता है, बस बात को थोड़ा सा फैलाकर परोसा गया है। लेखक में ऐसा नहीं कि सरलीकरण ही देखने को मिलते हैं, वह कवि की भाषा,अभिव्यक्ति शब्द भण्डार, आदि अनेक विपक्षी तर्क देकर कवि की खामियां भी गिनाता है। यहां फिलहाल से तुलना करने पर सहज ही पता चलता है कि अशोक वाजपेयी पूरी तरह एक पक्षीय होने की घोषणा कर रहे हैं। शायद इसीलिए फिलहाल के बरक्स कुछ पूर्वग्रह आलोचना पर प्रशस्ति वाचन का आरोप भी गया लगाया है।

अशोक वाजपेयी ने कुछ पूर्वग्रह की आलोचना में फिलहाल से कुछ जरूरी फेर बदल कर लेने का जोखिम उठाया है, वे पहले निष्कर्ष देते हैं और बाद में तत्व विश्लेषण पर आते हैं इससे यह पता चलता है कि उन्हें पहले से ही सब पता है। यहां यह सवाल उठ खड़ा होता है कि फिर यह अनुसंधान या आलोचना क्यों ,कुछ पूर्वग्रह में ऐसे तत्व हमें चौंकाते हैं। वहां फिलहाल में अशोक वाजपेयी ने धूमिल को अनुभूति और विचार का कवि कहा है। जागरूकता और चौकन्नापन तो उनकी आरम्भिक विशेषता ही बताई है। वहां धूमिल तीसरे लोकतंत्र की तलाश के कवि थे, किन्तु यहां कुछ पूर्वग्रह में अशोक वाजपेयी ने उनकी 80 के दशक में प्रकाशित कविताओं को यातना के खिलाफ शब्द कहा है, चूंकि धूमिल अपने काव्य विवेक के केन्द्र में संघर्षी चेतना के प्रवक्ता के रूप में ही उनका हिन्दी कविता में प्रवेश हुआ था और उसी को अन्त तक वे अपनाये रहे। "वे अपने समूचे काव्य कर्म के दौरान जितने समाज, सत्ता और मनुष्य की समस्याओं पर बैचेन देखे जा सकते हैं लगभग उतने ही अपने माध्यम की समस्याओं के प्रति जागरूकता को भी हमेशा कवि कर्म का अनिवार्य"[40] विषय बनाये रहे यह बात इसीलिए विशेष महत्व रखती है कि नयी प्रगतिशीलता के इस उत्तेजक दौर में अक्सर यह माना जा रहा है कि कविता की अपनी तकनीकी समस्याओं पर ध्यान देना प्रगतिशीलता की बुनियादी जरूरतों से दूर उसे अभिजात ऐश्वर्य की दुनिया में भटकना है।"धूमिल की लगभग हर दूसरी कविता में कविता को लेकर उसकी उत्तरदायितव और जिम्मेदारी को लेकर उक्तियां है।"[41] धूमिल की कविता के माध्यम को लेकर अशोक वाजपेयी ने कहा है धूमिल के वक्तव्यों आदि से शायद यह प्रमाणित किया जा सकता है कि वे कविता

को एक औजार भर समझते थे और असल में उनका लक्ष्य क्रांति में मददगार होना था। लेकिन अगर हम उनकी कविताओं के साक्ष्य तक ही अपने को सीमित रखें तो यह भी कहना होगा कि कवि कर्म में ऐसा अडिग विश्वास, जैसा उनके यहां है उनके सहधर्मियों में दुर्लभ ही है।"[42] कारण स्पष्ट है धूमिल को अपने समय की समस्याओं के साथ-साथ काव्य की समस्याओं में भी रूचि थी। धूमिल कविता को अपने अनुभव और दृष्टि को अभिव्यक्त करने के लिए पर्याप्त मानते थे, धूमिल में कहीं भी काम चलाऊ रवैया दिखायी नहीं देता, वे कविता को जरूरी कार्रवाई मानने वाले दुर्लभ लोगों में से हैं। धूमिल की प्रासंगिकता को आधार देते हुए अशोक वाजपेयी ने कहा है -"ऐसे समय में धूमिल की प्रासंगिकता इस बात में है कि उन्होंने अपने काव्याचरण से सिद्ध किया है कि कविता भी एक प्रामाणिक कर्म है।"[43] अशोक वाजपेयी की आलोचना में भले ही कवि के तौर पर धूमिल आरम्भ में फिलहाल में केन्द्रीय रहने के साथ ही यहां कुछ पूर्वग्रह में भी अपनी पूरी केन्द्रीयता के साथ उपस्थित हैं तो उसका मतलब विद्वजनों को वही नहीं लगाना चाहिए जो अक्सर हमारे यहां लगाया जाता रहा है, ये कवि किसी साहित्यिक राजनीति के तहत नहीं बल्कि उस समय की कविता की मुख्य धारा के अगुआ के रूप में उपस्थित हैं और समकालीन (मेरा मतलब 80 के दशक से है) कविता में उनका गहरा और जरूरी हस्तक्षेप भी है। लिहाजा कहा जा सकता है कि अशोक वाजपेयी की समीक्षा योजना के केन्द्र में फिलहाल से कुछ पूर्वग्रह तक और उसके आगे भी वह कविता रही है जो हिन्दी कविता की मुख्य धारा का प्रतिनिधित्व करने की,कठिन मानदण्ड़ों पर भी परीक्षा देकर खरी उतरती है।

कहा जा सकता है कि जैसे धूमिल के यहां कविता राजनीति की पिछलगुआ नहीं है उसी तरह अशोक वाजपेयी के यहां आलोचना हर कविता की पिछलगुआ नहीं है, बल्कि वह संघर्षशील कविता की सहधर्मी है। इसलिए धूमिल, रघुवीर सहाय, मुक्तिबोध, शमशेर,विनोद कुमार शुक्ल आदि का फिलहाल और कुछ पूर्वग्रह में पूरी सक्रियता से केन्द्रीय होने का कोई और अर्थ लगाना सही नहीं है। इन कवियों की दोनों समय की कविता में गहरी पैठ है। किन्तु यह भी नहीं है कि और लोगों की कविता इन पुस्तकों में स्थान पाने लायक ही नहीं थी। और भी कवि इन दोनों समयों में केन्द्रीय रहे हैं और वे किसी हालत में फिलहाल या कुछ पूर्वग्रह से छोड़ने लायक नहीं थे। इसलिए उनकी कमी इन पुस्तकों में अखरती भी है। लेखक ने स्वयं भी उन्हें शामिल न कर पाने का गम व्यक्त किया है। फिर भी इन दोनों पुस्तकों में वे कवि चुपचाप ध्वनित हो रहे हैं। मुक्तिबोध भी फिलहाल और कुछ पूर्वग्रह में पूरी सक्रियता से उपस्थित हैं लेकिन, दोनों पुस्तकों में पूरी तरह भिन्न रूप में। फिलहाल में मुक्तिबोध अपनी लम्बी कविता के साथ सक्रिय थे क्योंकि उस समय की अनुभूति, अभिव्यक्ति एक तरह से छोटी कविताओं की पहुंच के बाहर सी हो गयी थी(हॉलाकि हमारे साहित्य मे, संस्कृति में गागर में सागर भरने की रिवाज पुराना है)इसलिए मुक्तिबोध को शायद लम्बी कविता का ट्रेक अपनाना पड़ा होगा लेकिन कुछ पूर्वग्रह में उनकी छोटी कविता में ही वे सब बातें हमें मिल जाती हैं जो लम्बी कविता में फैलायी जा सकती थी। मुक्तिबोध लम्बी कविता के गलियारे से निकलकर छोटी कविता की छानी में बैठ गये लगते हैं यहां कविता ने ही मोड़ नहीं लिया अशोक वाजपेयी की आलोचना ने भी मोड़ लिया और वह फिलहाल की लम्बी-लम्बी थीमों से छोटे-छोटे वाक्यों और विशेषताओं पर भी अपनी पूरी शक्ति सम्पन्नता के साथ नया आकार पाती दिखती है। कुछ पूर्वग्रह की समीक्षा फिलहाल से आगे बढ़ी है। यहां भी उसने केन्द्रीय रहकर ही अपने समय की कविता को पूरी समझ के साथ विश्लेषित किया है। यहां उसके छोटे-छोटे वाक्य बड़े-बड़े निर्णय सहज भाषा में सुना देते हैं जैसे "मुक्तिबोध की कविता कहती नहीं दिखाती है।"[44] "वह बयान नहीं बखान है।"[45]

यहां अशोक वाजपेयी की समीक्षा में कुछ कमी भी देखी जा सकती है भाषा के अंगरक्षक अशोक वाजपेयी यहां शब्दावली को भी अपने विवेचन में स्थान देते हैं जो उनकी बारीकता का प्रमाण तो है ,फिर भी समीक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है। समसामायिक सन्दर्भों की पहचान और विवेचन उन्होंने सार्थक की है किन्तु ब्यौरों को देकर उन्होंने अपना बचाव जरूर किया है। फिर भी मुक्तिबोध को अशोक ने अपने आलोचना पटल पर 80 के दशक की कविता में जबरदस्ती ठूंसा नहीं है वे कुछ पूर्वग्रह के समय केन्द्रीय

थे, सक्रिय थे। कुछ पूर्वग्रह में जो छूट गये कवि हैं, वे तो छूट ही गये हैं लेकिन जो हैं वे किसी भी तरह कम नहीं हैं, हमारे समय की कविता के प्रतिनिधि कवि के रूप में।

कुछ पूर्वग्रह के कवि स्वातंत्र्योत्तर भारत की कविता ही नहीं आधुनिक हिन्दी साहित्य के केन्द्रीय नामों में से हैं। जिनमें मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, शमशेर, धूमिल आधुनिक हिन्दी कविता के स्तम्भ माने जाते हैं। इन्हीं कवियों की रचनाओं को लक्ष्य कर 'कुछ पूर्वग्रह' ने कविता की वापसी का ऐलान किया था और उसे तर्क संगत ढंग से विवेचित भी किया है।

कविता को अशोक वाजपेयी ने ''कठिन समय में हमारी बुनियादी मानवीयता का ही पुनराविष्कार''[46] कहा है। उन्होंने कहा है कि ''कविता की वापसी इसलिए हमारे लिए निरी कलात्मक नहीं बल्कि मानवीय घटना है।''[47] यूं तो कुछ पूर्वग्रह कविता की वापसी का खुला ऐलान है, इसके साथ ही यह अशोक वाजपेयी के समीक्षा जगत और चिंतन विश्व के विविध परिदृश्यों का जीवंत प्रमाण भी है। यहां उन्होंने आठवें दशक की सक्रिय कविता योजना के केन्द्रीय कवियों के उत्पाद के द्वारा कविता के निरंतर चुपचाप ही सही आगे बढ़ने और उस पर भरोसा करने का समर्थ प्रमाण तो दिया ही है, साथ ही आलोचना की जरूरत, साहित्य और शब्द के मतलब और उसके कार्य, अनुवाद का औचित्य, सत्ता, समाज, संस्कृति और इन सब में साहित्य के हस्तक्षेप,भाषा,सम्प्रेषण की वर्तमान स्थिति, पश्चिमी साहित्य का हमारे यहां के साहित्य और संस्कृति पर प्रभाव,कविता के भीतर होने वाली घटनाएं, पश्चिमी साहित्य की गहरी वैचारिक समीक्षा, हमारी आलोचना की स्थिति और उसके विकास और दिशाओं की गहरी पड़ताल, अनेक विख्यात लेखकों, कवियों आलोचकों तथा उनके साहित्य पर सूक्ष्म और सक्षम टिप्पणियां की गई हैं जिससे अशोक वाजपेयी के सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य पर गहरी पकड़ और समझ का पता चलता है।

कुछ पूर्वग्रह की समीक्षा पर टिप्पणी करते हुए मदन सोनी ने अपनी पुस्तक विषयान्तर में इसे अशोक वाजपेयी की आलोचना की स्थापित व्यवस्था कहा है । जबकि फिलहाल को उन्होंने संस्कार अवस्था की संज्ञा दी है। फिलहाल की समीक्षा के विषय में उन्होंने 'विषयान्तर' में कहा है कि ''इस जनतंत्र में एक खिड़की उस जनतंत्र की ओर खोली गयी है जो हिन्दुस्तान का राजनैतिक जनतंत्र है।''[48] ''और कुछ पूर्वग्रह में जो खिड़की खोली गयी है वह संस्कृति चिन्तन की खिड़की है, जो फिलहाल में नहीं थी।''[49] पिछले तीन दशकों में अशोक वाजपेयी ने इधर साहित्य, संस्कृति और कलाओं के लिये जो सक्रिय कार्य किया है उससे वे भारत भर में बहुत विख्यात हुए हैं। (किसी ने तो उन्हें कुख्यात भी कहा है) इधर लोगों ने उन पर तरह-तरह के आरोप भी लगाये खासकर पद को तो किसी ने फूटी आंखों नहीं देखा है और अभी भी यह आरोपों-प्रत्यारोपों का सिलसिला थमा नहीं है साक्षात्कार के अनेक अंकों में अशोक वाजपेयी के एक पत्र को लेकर जिस तरह की टिप्पणियां प्रकाशित की गई थी उससे नहीं लगता कि यह किसी साहित्यिक पत्रिका के दायरे की बात हो सकती है। साक्षात्कार (मई97)ने उन्हें जैसे बदनाम करने की मुहिम सी छेड़ दी है। साहित्य में राजनीति से भी गिरी राजनीति हो सकती है इसका मुझे अंदाजा नहीं था एक साहित्यकार के प्रति एक साहित्यिक पत्रिका गंवारी पर उतर आये और कोई कुछ न कहे यह हमारे समय का साहित्य पर इतिहास में सबसे गिरा हुआ प्रहार है और इस प्रहार का समर्थन करने वाले साहित्यकार तो हो ही नहीं सकते उनमें थोड़ी बहुत मनुष्यता भी शेष है इस पर भी मुझे संदेह है। युद्ध और प्रेम की तरह साहित्य में हमारे यहां सब जायज है का सिद्धांत हावी हो गया लगता है, पर मुझे नहीं लगता उन लोगों का कुछ भी किया धरा ऐसा होगा जो साहित्य के नाम से जाना जाता हो। पत्रिकायें हमारे यहां जब साहित्यिक राजनीति उगलने लगती हैं तो अफसोस होने लगता है। समय पर, साहित्य पर और अपने देश पर किन्तु ऐसे विपरीत समय में भी अशोक वाजपेयी जैसे लोग अपना संघर्ष करते हुए उन छद्म उपक्रमों से मुठभेड़ करते हुए डटे हैं यह बड़ी बात है। ऐसे में स्वाभाविक ही था कि उनके चिन्तन की परिधि में वे प्रश्न शामिल होते जिनका सामना उन्हें अपने संस्कृति कर्म के दौरान व्यवहारिक स्तर पर करना पड़ा। ''सत्ता और संस्कृति के विरूद्ध साहित्य, भाषिक सम्प्रेषण, समकालीन वास्तविकता, समय के अन्तर्विरोध और साहित्य की स्थिति आदि कुछ पूर्वग्रह के कुछ लेखों के ऐसे शीर्षक हैं जो अपने में ही उन प्रश्नों का संकेत देते हैं।''[50] जो इन लेखों में अशोक वाजपेयी ने उठाये हैं , फिर भी ''इन सब प्रश्नों का एक केन्द्रीय प्रश्न

है हमारे समय में सृजनात्मक शब्द का संकट।"[51] अशोक वाजपेयी ने साहित्य और कलाओं के संबंध की एकदम नयी और उत्तेजनापूर्ण समझ विकसित करने का यहां कुछ पूर्वग्रह में जो आरम्भ किया उसका लोगों ने बहुत विरोध किया। आलोचकों ने उन पर अनेकों तरह के आक्षेप लगाकर स्वयं की समझ की तहें ही बता दी, किन्तु ठोस कार्य को कौन झुठला सकता है, देर सबेर सचाई और झूट का राज खुल ही जाता है। अंत तक सिर्फ सचाई ही डटी रह सकती है, सो वे डटे हैं।

गिरी राजनीति और ग्लोब विलेज के युग में संस्कृति के बदलाव को अशोक वाजपेयी ने गहरे महसूस किया है, उनके अनुसार "इस संस्कृति में कलाओं को निरन्तर हासिए की ओर धकेले जाने का उपक्रम हो रहा है। इस चिन्तन की भाषा में भी उनमें एक संश्लिष्टि और काव्यात्मकता है जो उसे बोझिल होने से बचाती है।"[52] कुमार गंधर्व के संगीत और रजा के चित्रों पर उनका चिन्तन महत्वपूर्ण और नया तथा प्रासंगिक है जो हिन्दी आलोचना में नये युग की यात्रा के साथ-साथ आलोचना को साहित्य की चहारदीवारी से बाहर निकल आने की मांग भी करता है और आलोचना से पूरी तरह छोड़ दिये गये क्षेत्रों में भी उसके जरूरी रूप से जाने की मांग करते हैं। राह दिखाते हैं , किन्तु यह "संस्कृति चिन्तन अपने समय को दिक की परिधि मे रखकर नहीं देखता"[53] है। जितना देखता है वह सराहनीय, नया और उत्तेजनापूर्ण समझ से भरा है जिसे किसी भी तरह खारिज भी नहीं किया जा सकता। यह चिंतन कुछ पूर्वग्रह की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

यहां अशोक वाजपेयी का प्रयत्न "हिन्दी में कलाओं की आलोचना के विकास का रहा है।"[54] यहां हमारे आलोचकों ने साहित्य के अलावा दूसरी कलाओं को गम्भीरता से नहीं लिया, न ही कभी उसकी जरूरत महसूस की। हमारे यहां का "लेखक साहित्य और कलाओं के बीच एक तरह की वर्ण व्यवस्था मानता आ रहा था अशोक वाजपेयी ने उसे तोड़ा और साहित्य और कलाओं के बीच जरूरी रिश्ता कायम किया।"[55] उन्होने इतना कुछ किया कि यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं हो रहा कि "यह निर्विवाद है कि अशोक वाजपेयी का कुछ पूर्वग्रह की समीक्षा में किया धरा हिन्दी साहित्य का एक महत्वपूर्ण पड़ाव है और आलोचना को उसके कठमुल्लेपन से आजाद हो जाने या बाहर निकल आने के लिए काफी नहीं, तो कुछ कम भी नहीं है।"

निष्कर्षत: अशोक वाजपेयी अपनी आलोचना के केन्द्र में स्पष्ट वक्ता, विचार के पक्षधर, विचारधारा के विरोधी, भाषा पर अधिकार प्राप्त मर्मज्ञ, भारतीय और पश्चिमी साहित्य के ज्ञाता और उसके आधार पर अपनी समझ विकसित करने वाले समीक्षक, साहित्य और अन्य कलाओं में संवाद, मिलाप कराने वाले, उनमें भी समसामयिक चेतना का प्रवाह ढूँढने वाले, सृजनशील समीक्षा के अधिष्ठाता, कविता के ब्लाइन्ड सपोर्टर, आलोचना में प्रबल सुधारों की मांग करने वाले निडर आलोचक,अपने समय के समाज और मनुष्य की हालत और उसकी समस्याओं को साहित्य में जरूरी स्थान देने के पक्षधर, भाषा की स्मृति, और उससे जुड़े रहने के हित साधक हैं। वे अपनी आलोचना की परिधि में कहीं भी कठमुल्लेपन का शिकार नहीं हुए हैं, उनकी 'फिलहाल' पुस्तक मोह भंग के समय की कविता की ऊहापोह का दस्तावेज है जिसमें उन्होने जैसा कहा, वैसा ही आज तक माना जा रहा है, वहां उन्होने रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, केदारनाथ सिंह पर जो लिखा वह बाद में सभी ने माना। फिलहाल के प्रकाशित अनेक संस्करण उसकी सफलता की कहानी हैं। इधर कुछ पूर्वग्रह में अशोक वाजपेयी की आलोचना ने कविता की वापसी का एलान करते हुए फिलहाल की जमीन से भारी करवट बदली है। यहां कई मायने में अशोक वाजपेयी के मानदण्डों में बदलाव देखने को मिलता है फिर भी इधर उन्होने कविता की वापसी का जो ऐलान किया है वह कुछ-कुछ गले नहीं उतरता एक राजनैतिक घोषणा सी रह जाती है वे यहां कुछ साफ-साफ कह नहीं पाते बहुत कुछ पाठक को समझने के लिए छोड़ देते हैं। फिर भी यहां कलाओं को साहित्य समीक्षा में जरूरी स्थान देकर उन्हें आत्मसात करने की जो कार्रवाई की गई है, भले ही उन्हें कलावादी या ऐसे ही कई नाम दिलवाती हो, पर उन्होने यहां हिम्मत दिखायी है और अपनी बात पर कायम रहने और साहित्य के लिए संघर्ष करने की शक्ति का उन्होने खुलासा किया है जिस पर वे बराबर डटे हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची -

भाग -१

१. प्रभात त्रिपाठी/साक्षात्कार जनवरी-मार्च ९५/पृ. ४७
२. वही
३. निर्मला जैन/हिन्दी आलोचना बीसवीं सदी/पृ.९३ नेशनल पब्लिसिंग हाउस दिल्ली
४. सुरेश सिन्हा/हिन्दी आलोचना का विकास/पृ. ११
५. निर्मला जैन/हिन्दी आलोचना बीसवीं सदी/पृ. ९३
६. वही
७. अशोक वाजपेयी/फिलहाल/पृ. ९/राजकमल प्रकाशन दिल्ली
८. निर्मला जैन/हिन्दी आलोचना बीसवीं सदी/पृ. ९४
९. अशोक वाजपेयी/फिलहाल/ पृ. १९
१०. वही
११. वही
१२. निर्मला जैन/हिन्दी आलोचना बीसवीं सदी/पृ. ३२
१३. अशोक वाजपेयी/फिलहाल/पृ.११
१४. वही/पृ.९
१५. वही/पृ.९ और ११
१६. संपादक प्रभात त्रिपाठी/साक्षात्कार जनवरी-मार्च९५/पृ. १५३
१७. अशोक वाजपेयी/फिलहाल/पृ.२०
१८. वही
१९. वही/पृ.२३
२०. वही/पृ.२३,२४
२१. वही/पृ.२४
२२. वही/पृ.२५
२३. वही/पृ.२५
२४. वही/पृ.२६
२५. वही/पृ.२६
२६. वही/पृ.२६
२७. वही/पृ.२७,२८
२८. वही/पृ.३०
२९. अशोक वाजपेयी/फिलहाल/पृ. ३१/राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली
३०. वही/पृ. ३५
३१. वही/पृ.३९
३२. डॉ. मंजुल उपाध्याय/समकालीन आलोचक की भूमिका/ साहित्यागार जयपुर/पृ. १९०
३३. अशोक वाजपेयी/फिलहाल/पृ.३८
३४. वही/पृ.४४
३५. वही/पृ.४९
३६. वही/पृ.४८
३७. वही/पृ.५१,५०/५६
३८. वही/पृ.५६
३९. मदन सोनी/विषयान्तर/पृ. १६४/वाणी प्रकाशन दिल्ली
४०. अशोक वाजपेयी/फिलहाल/पृ. ४०
४१. अशोक वाजपेयी/फिलहाल/पृ.५८
४२. वही/पृ.२५,२२,५८
४३. वही/पृ.६०
४४. वही/पृ.६१
४५. वही/पृ.५९

४६. वही/पृ.६१
४७. वही/पृ.६१
४८. वही/पृ.७१
४९. वही/पृ.७३
५०. वही/पृ.७७
५१. वही/पृ.८०
५२. वही/पृ.७६
५३. वही/पृ.७६
५४. वही/पृ.८५
५५. वही/पृ.८५
५६. वही/पृ.९३
५७. अशोक वाजपेयी/फिलहाल/पृ.१
५८. वही/पृ.९९
५९. वही/पृ.९९
६०. वही/पृ.१००
६१. वही/पृ.१०८
६२. वही/पृ.१०८
६३. वही/पृ.१०८
६४. वही/पृ.१०८
६५. वही/पृ.१०९
६६. वही/पृ.१०९
६७. मदन सोनी/विषयान्तर/पृ. १६५/वाणी प्रकाशन, दिल्ली
६८. अशोक वाजपेयी/फिलहाल/पृ. ११४
६९. वही/पृ.११४
७०. वही/पृ.१२३
७१. वही/पृ.१२३
७२. वही/पृ.११३
७३. वही/पृ.१२५
७४. वही/पृ.११४
७५. वही/पृ.११४
७६. वही/पृ.१३०
७७. वही/पृ.१३१/१३२
७८. वही/पृ.१३२
७९. वही/पृ.१७१
८०. वही/पृ.११४
८१. वही/पृ.१७६
८२. वही/पृ.१७६
८३. वही/पृ.१७६

भाग - २

१. प्रभात त्रिपाठी/साक्षात्कार जनवरी-मार्च ९५/पृ.१५५
२. मदन सोनी/विषयान्तर/१६५
३. वही
४. वही/पृ.१६५
५. वही/पृ.१६५, ६६
६. वही/पृ.१७१, ७२
७. अशोक वाजपेयी/कुछ पूर्वग्रह/पृ.११
८. वही/पृ.११

९. वही/पृ.१२
१०. वही/पृ.१२
११. वही/पृ.१२
१२. वही/पृ.१२
१३. मदन सोनी/विषयान्तर/पृ. १७४
१४. वही/पृ.१७३
१५. वही/पृ.१७३-७४
१६. अशोक वाजपेयी/कुछ पूर्वग्रह/पृ.१७४
१७. मदन सोनी/विषयान्तर/पृ.१७४
१८. वही/पृ.१७४
१९. वही/पृ.१७४
२०. प्रभात त्रिपाठी/साक्षात्कार जनवरी-मार्च ९५/पृ.१५४
२१. अशोक वाजपेयी/कुछ पूर्वग्रह/भूमिका से
२२. डॉ. सुरेश सिन्हा/हिन्दी आलोचना का विकास/पृ. १९
२३. प्रभात त्रिपाठी/साक्षात्कार ९५ जनवरी-मार्च/पृ. १५५
२४. वही/पृ.५५
२५. अशोक वाजपेयी/कुछ पूर्वग्रह/पृ.१९
२६. प्रभात त्रिपाठी/साक्षात्कार जनवरी-मार्च ९५/पृ.१४३
२७. अशोक वाजपेयी/कुछ पूर्वग्रह/पृ. १९
२८. वही/पृ.१९
२९. वही/पृ.१९
३०. अशोक वाजपेयी/कुछ पूर्वग्रह/पृ.१९
३१. वही/पृ.१९
३२. वही/पृ.२०
३३. वही/पृ.२०
३४. वही/पृ.२१
३५. वही/पृ.२०
३६. वही/पृ.२०
३७. वही/पृ.२५
३८. वही/पृ.२६
३९. वही/पृ.२७
४०. वही/पृ.३१
४१. वही/पृ.३२
४२. वही/पृ.४०
४३. वही/पृ.४०
४४. वही/पृ.४२
४५. वही/पृ.४२
४६. वही/पृ.४६
४७. वही/पृ.४५
४८. वही/पृ.४७
४९. वही/पृ.५२
५०. वही/पृ.५२
५१. मदन सोनी/विषयान्तर/पृ. १७७
५२. वही/पृ.१७७
५३. वही/पृ.१७७
५४. वही/पृ.१७७
५५. वही/पृ.१७७

अध्याय - 6

अशोक वाजपेयी के सम्पूर्ण साहित्य का एक विश्लेषणपरक अध्ययन

पिछले चालीस वर्षों से लगातार अशोक वाजपेयी का नाम हिन्दी साहित्य के विविध परिदृश्य में एक सक्रिय हस्तक्षेप के रूप में देखा जा सकता है। सन् साठ के दशक से आरम्भ हुई उनकी साहित्यिक यात्रा में कविता, आलोचना और कलाएं शामिल रही हैं। कविता और आलोचना के मौलिक ग्रंथों के अलावा उनकी बृहत संपादन परम्परा ने समूचे हिन्दी जगत में अपनी उपस्थिति की सार्थकता सिद्ध की है और हिन्दी साहित्य को एक नयी दिशा भी दी है।

अशोक वाजपेयी के यहां कविता और आलोचना पहली बार उन अनेक क्षेत्रों में गयी है, जहां इसके पहले वह कभी नहीं गयी थी। कविता में जहां उन्होने जीवन के विभिन्न अनछुये पहलुओं को पर्याप्त जगह दी है वहीं, उन्होने आलोचना में जरूरी संघर्ष करके नयी समझ विकसित की है। 'समवेत' और 'पहचान सीरीज' से शुरू हुई उनकी सम्पादन की समृद्ध और बहुआयामी परम्परा लगातार हिन्दी जगत में चर्चा का विषय रही है और यह क्रम आज भी जारी है। अपने प्रशासनिक दायित्वों के साथ-साथ साहित्य के लिए, समाज के लिए, इतना कुछ कर पाना उनके साहित्यकार नहीं एक सक्रिय साहित्यकार होने को दर्शाता है। अशोक वाजपेयी एकाध किताब लिखकर चुप बैठने वालों मे से नहीं हैं न ही किसी एक विधा के अनुयायी ही हैं। उन्होने कविता और आलोचना दोनों विधाओं में पर्याप्त से भी कुछ अधिक हस्तक्षेप किया है। पिछले चालीस वर्षों में अशोक वाजपेयी की कविता ने एक लम्बा रास्ता तय किया है तो उनकी आलोचना को भी हिन्दी साहित्य में गहरा और मान्य हस्तक्षेप माना गया है। अशोक के सम्पूर्ण साहित्य को विश्लेषित करने के लिए वर्गीकृत करना आवश्यक है।

1. अशोक वाजपेयी का काव्य साहित्य
2. अशोक वाजपेयी का आलोचना साहित्य
3. अशोक वाजपेयी की संपादन परम्परा

1. अशोक वाजपेयी का काव्य साहित्य -

साठ के दशक से आरम्भ हुई अशोक वाजपेयी की साहित्यिक यात्रा का आरम्भ कविता से हुआ था। शुरू में ही युवा कवि अशोक की रचनाएं कल्पना, ज्ञानोदय, वसुधा, युगवाणी आदि उस समय की श्रेष्ठ पत्रिकाओं में जल्द ही स्थान पा गयी थीं। सन् 1966 में उनका पहला काव्य संग्रह 'शहर अब भी संभावना है' भारतीय ज्ञान पीठ से प्रकाशित हुआ। यह काव्य संग्रह अशोक वाजपेयी की हिन्दी कविता में पहचान का संग्रह है इससे अशोक वाजपेयी की हिन्दी जगत में एक कवि के रूप में पहचान हुई।

कवि आलोचक विष्णु खरे ने इस काव्य संग्रह पर टिप्पणी करते हुए लिखा है।"अशोक वाजपेयी के कविता संग्रह 'शहर अब भी संभावना है' की रचनाओं को तीन बड़े शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है प्रेम, लोग तथा प्रकृति।"[1] विष्णु खरे के दिये शीर्षकों में जीवन और उसकी वस्तुएं भी जोड़ दी जायें तो बात पूरी हो जाती है क्योंकि अशोक वाजपेयी के सम्पूर्ण काव्य से यह विशेषताएं अलग नहीं की जा सकती हैं। हां अशोक वाजपेयी के काव्य विकास में उत्तरोत्तर नये विषय और क्षेत्र शामिल अवश्य किये गये हैं। यहां एक प्रश्न उठना जरूरी है कि क्या कारण है कि अशोक वाजपेयी की कविता चालू मुहावरों और सरलीकरणों से दूर होते हुए भी निरंतर हिन्दी जगत के आकर्षण के चर्चा का केन्द्र बनी रही है ? इसका पहला कारण तो यह है कि अशोक वाजपेयी की काव्य चेतना में अनेक विषय नये और लगभग हिन्दी कविता में पहली बार उठाये गये हैं। प्रेम और श्रृंगार पर तो हमारे यहां इतना लिखा गया है कि अब लिखने को शायद कुछ बचा ही नहीं जैसी स्थिति है, किन्तु अशोक वाजपेयी ने अपने काव्य के केन्द्र में प्रेम और श्रृंगार की जिस कोमल स्पर्श अनुभूति और संवेदना से परिचय कराया है वह एकदम नयी है। हमारे यहां शमशेर जैसे कवियों ने भी प्रेम और श्रृंगार पर खूब लिखा है किन्तु वे चाक्षुष संवेदन तक ही

सीमित रहे, जबकि अशोक उससे भी आगे पहुंचे है और वह भी किसी विकृति से पूरी तरह बचकर एक स्वाभाविकता,जीवंतता और जीवन के सन्दर्भों को परिभाषित करते हुए। अशोक वाजपेयी की कविताओं में जीवन-जगत के जिन पक्षों, प्रश्नों को केन्द्रीय रूप में उठाया गया है वे समकालीन समाज की,जीवन की आवश्यकता है।

आलोच्य कवि के कविता में प्रवेश का या पहचान का समय हमारे देश में, साहित्य में, समाज में, मोहभंग का, निराशा का,टूटन का, सपनों के विस्तीर्ण होने का समय था। ऐसे विपरीत समय में एक युवा कवि के द्वारा आक्रोश, विरोध, निराशा, चीख पुकार के विरूद्ध शांत चिंत्त शब्दों में जीवन की आस लगाये रखना,सब कुछ ठीक हो जाने की संभावना तलाश करना भी लगभग असंभव हो गया था किन्तु अशोक वाजपेयी की कविता का आरम्भ ही इसी संभावना से हुआ था।

श्रृंगार को लेकर अशोक वाजपेयी की कविता के प्रति लोगों में बड़ा भ्रम व्याप्त है, इसी भ्रम में पड़कर लोगों ने उनपर तरह-तरह के आरोप भी लगाये हैं। किन्तु मैं यहां एक बात साफ करना चाहता हूं कि श्रृंगार और प्रेम अशोक वाजपेयी की कविता का केन्द्रीय तत्व जरूर है, किन्तु ऐसा नहीं है कि इसके अलावा उनके काव्य परिदृश्य में और कुछ मूल्यवान है ही नहीं।"अशोक वाजपेयी की रागात्मक कविताओं में मातृ करूणा की थीम नयी कविता की शायद ऐतिहासिक वस्तु है। 'एक आसन्न प्रसवा मां के लिए तीन गीत'अपने अछूते विषय के लिये ही पढ़े जायेंगे।"[2]कवि अपने काव्य संसार में स्त्री-पुरूष प्रेम के ही प्रति विह्वल नहीं है, वह अपने परिवार के प्रति, घर के प्रति, मुहल्ले के प्रति भी गहरा जुड़ा दिखायी देता है। उसके काव्य में मां, पिता, बहिन, भाई, पड़ोस भी पूरी केन्द्रीयता से ध्वनित हो रहा है।

अशोक वाजपेयी की मां पर लिखी कविताओं में हमें इलियट की अनुगूंज सुनायी देती है जो महत्वपूर्ण है और अनदेखी नहीं की जा सकती। गोपालगंज सागर के आस-पड़ोस, बकौली, कठचंदन के पेड़ों की खुशबू से लेकर अशोक वाजपेयी की कविता सुदूर आविन्यो तक फैली पसरी है। उसमें लोग, वस्तुएं और स्मृतियों की जीवंत उपस्थिति है। अशोक वाजपेयी हिन्दी कविता में एक अकेला नाम है की जिसमें "कहीं भी वह आक्रोश, समाजद्रोह अथवा मूल्यद्रोह नहीं मिलता जिसे आज के अधिकांश कविताकार स्टीरियोटाइप और किलशे बनाते जा रहे हैं। कविता के लिए समाज एक दुधारी तलवार है उसका सामाजिक होना एक सुविधा भी है और असुविधा भी। लगता है अशोक वाजपेयी ने समाज में होते हुए भी समाज में न होने के तनाव को खूब महसूस किया है किन्तु उसे कभी भी अपनी कविता को तोड़ने की अनुमति नहीं दी।"[3] उनकी कविता इसकी गवाह है। मनुष्य से मनुष्य और मानव समाज का संतुलन कायम रखने के लिए यह आवश्यक है कि चेतना के आदिम और अधुनातन स्तरों के बीच संबंध बना रहे।" विरूद्धों के बीच सामंजस्य करने वाली कविता की यह भूमिका अशोक वाजपेयी की कविताओं में बड़ी उत्कटता से व्यक्त की गयी है। आधुनिक सभ्यता की प्रवृत्ति संस्कृतियों के समतलीकरण की है और अक्सर ऐसा प्रतीत होता है कि सभी जगहों की कविता एक सरीखे तनावों, संशयों और अन्तर्द्वन्दों से जूझ रही है कमोवेश एक सरीखी हताशा, अनास्था अथवा आस्था के दबाव में ढल रही है। किन्तु क्या वास्तव में ऐसा है ?"[4] अशोक वाजपेयी की कविता प्रेरणा को समझने के लिए इस तरह के प्रश्नों का सामना करना आवश्यक है। क्योंकि "अशोक वाजपेयी अपनी पीढ़ी के उन थोड़े से कवियों में हैं जिन्होंने न केवल नितान्त समसामयिकता के नैतिक दायित्व को अपने कवि कर्म और आलोचना चिन्तन से निभाने और बखानने की, बल्कि समकालीनता की चाहारदिवारी से बाहर निकलकर उस दायित्व को मनुष्य के चराचर परिवेश से और परम्परा से भी काफी सचेत ढंग से जोड़ने की कोशिश की है।"[5]

अशोक वाजपेयी की कविता किसी भी आंदोलन से बाहर की कविता है। वह सभी आंदोलनों प्रवृत्तियों के आर-पार की कविता है। उनकी कविता में एक ओर पृथ्वी है दूसरी ओर आकाश। "उनकी कविता में एक ओर पार्थिव और घरेलू बिम्बों की बहुतायत है और दूसरी ओर देवता, पुरखे नक्षत्र, अनन्त जैसे शब्दों से संकेतित होने वाले सांस्कृतिक अभिप्राय है।"[6] उन्हें वनस्पतियों, समुद्रों और लोगों से घिरी हुई पूरी की पूरी पृथ्वी चाहिए उसके लिए एक छोटा सा घर काफी नहीं है। इस तरह अशोक वाजपेयी की कविता समूचे ब्रह्माण्ड से घरेलू संबंध स्थापित करती है।

आलोच्य कवि की कवि चेतना एक विशेष अर्थ में सजग और दुहरी चेतना है उनमें प्राचीन और अर्वाचीन आदिम और सभ्य स्तर पर पास आना और जुड़ना ही नहीं, एक साथ झंकृत भी होना चाहते हैं।"[7] और हो भी रहे हैं। अशोक वाजपेयी की कविता समूचे ब्रह्माण्ड को घरेलू बना लेने की ठेठ हिन्दुस्तानी जिद ही नहीं करती बल्कि वह दार्शनिक, धार्मिक असंगतियां-विसंगतियां भी जगह जगह उभारती है।

अशोक वाजपेयी की कविता में एक खास तरह का द्वन्द है, ठीक वैसा ही जैसा 'लघु मानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' के अंतर्गत विजयदेव नारायण शाही ने जिस अपराजेयता, विवशता और अपराजेय संकल्प की बात सत्याग्रह युग के सन्दर्भ में कही थी, उसके कई लक्षण हम परवर्ती युग में भी पहचान सकते है,निश्चय ही यह अशोक वाजपेयी के कवित्व की भी अपराजेय विवशता है अपने असाध्य रोमानी और अतिक्रमण शील कवि स्वभाव के बावजूद बारम्बार इस उद्दण्ड समय की हरकतों से घिर जाने की, न केवल घिर जाने की, बल्कि उन्हें अपनी कविता के भीतर भी घुसपैठ करने देने की, देखा जाये तो इस मामले में भी उनकी अवस्थिति कहीं अज्ञेय और श्रीकांत वर्मा के बीच की जान पड़ती है जिसमें श्रीकांत वर्मा की खींच कुछ ज्यादा प्रबल है।"[8] हालाकि श्रीकांत वर्मा और अशोक वाजपेयी के कवि स्वभाव मे पर्याप्त अंतर है। अशोक वाजपेयी अपने काव्य में शब्द संवेदना, शब्द चयन, सांस्कृतिक अनुगूंजों और अर्थ छटाओं के मामले में श्रीकांत वर्मा से आगे हैं और उनसे भारी भी। जैसे रघुवीर सहाय के यहां कविता जीने का, उसके आशयों को आत्मसात् करने और सोचने का ढंग है ठीक वैसे ही अशोक वाजपेयी के यहां भी कविता जीने का, उसके आशयों को आत्मसात करने और सोचने का ढंग है । "साठोत्तरी कविता पीढ़ी की निश्चय ही कविता के क्षेत्र में यह विशेष उपलब्धि है कि कुछ लेखकों ने इसकी विषय वस्तु और रूप में वृद्धि और विकास किया।"[9] इसमें अशोक वाजपेयी की कविता की उपलब्धि सर्वाधिक है। वे किसी छद्म रास्ते अपनाकर स्थापित नहीं होना चाहते बल्कि कविता को जीवन की तरह रखते हैं शांत और विनम्र। अशोक वाजपेयी के काव्य में व्याप्त अनेक स्तरीय शब्द संवेदना और भाषा की अनुगूंज उन्हें उनके समकालीनों में विशिष्ट बनाती है।

वागीश शुक्ल ने अशोक वाजपेयी के काव्य पर प्रश्न उठाते हुए कहा है क्या अशोक वाजपेयी श्रृंगार रस के कवि हैं ?" इसके जबाव में स्पष्ट कहा जा सकता है कि अशोक वाजपेयी का काव्य जीवन का काव्य है, उसके अनेक पक्षों का सार्थक अध्ययन है, जिसमें जीवन की संवेदना है, और उसके छोटे-छोटे सत्यों को कविता का आधार दिया गया है। यह काव्य जीवन की आशक्ति का काव्य है, मृत्यु से सामना करने का, उससे आंख मिलाकर बात करने का भी काव्य है। कुल मिलाकर अशोक वाजपेयी का काव्य साहित्य जीवन के धड़कते हुए विविध परिदृश्यों का भाषा में श्रेष्ठ और नवीनतम विश्लेषण का काव्य है।

अशोक वाजपेयी के काव्य साहित्य को किसी एक विषय की बहुलता का काव्य कहना उचित नहीं है उन पर इस तरह का आरोप निराधार है। उन्होने जितना श्रृंगार और प्रेम पर लिखा है उससे कहीं अधिक उन्होने मृत्यु पर लिखा है।"जीवन और मृत्यु भले ही व्यावहारिक दुनिया के सत्य हैं किन्तु अशोक वाजपेयी की कविता दोनों को जीवन में ही देखती है। मृत्यु के साक्षात्कार विषयक कविताओं में उनके यहां एक विशेष तरह की भक्ति और आध्यात्म भी उपस्थित है। कविता में हमें प्राचीन, नवीन और समकालीन काव्य की झलक भी लगातार मिलती है। उनकी कविताएं पढ़कर ही पता लगता है कि वे काव्य की दुनिया में सचमुच जीते हैं, सोचते हैं, अनुभव करते हैं, कल्पना करते हैं और रचते हैं यानी कविताएं ही उनके सचमुच बौद्धिक होने को प्रमाणित करती हैं। उनसे ही पता चलता है कि उन्होने कालीदास, दंडी, माघ, भास(कबीर, तुलसी, रसखान)आदि को न केवल पढ़ा है बल्कि उनके काव्य संवेदनों को आत्मावयव बनाया है और प्रसाद, निराला पंत को भी तथा अज्ञेय, रघुवीर सहाय, शमशेर त्रिलोचन,मुक्तिबोध और श्रीकांत वर्मा को भी और साथ ही अनेक अंग्रेजी तथा यूरोपीय कवियों को भी।"[10] इस तरह "संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी के सैकड़ों कवियों के काव्य पदों तथा काव्य प्रतिमाओं का अर्थ वहन और अर्थ परम्परा विस्तारण अशोक की कविताओं में है।"[11] इसी कारण अशोक वाजपेयी

का काव्य संसार समकालीन समाज तक ही सीमित नहीं है वह उससे बहुत पीछे और बहुत आगे तक के समय को अपने में ध्वनित करता है। अशोक वाजपेयी की कविताओं में प्राचीन भारतीय संस्कृति की छवियां भी इसी आधार पर गहरे अनुभूत होती हैं।

समूचे हिन्दी काव्य संसार में अशोक वाजपेयी अकेले रचनाकार हैं जिनके काव्य में जीवन के विभिन्न पक्षों की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति के साथ-साथ अनेक विख्यात भारतीय और यूरोपीय कवियों, चित्रकारों, संगीतज्ञों, नर्तक, नर्तकियों, चिंतकों तथा सृजन कर्मियों को भी पूरी सक्रियता से स्थान दिया गया है और कविता में नये तथा पहली बार आये विषयों को शामिल किया गया है।

"अशोक वाजपेयी की काव्य प्रतिमाओं का विस्तार विशद है। उनमें रूप-रंग की विविधता तो है ही ध्वन्यर्थों शब्द क्रीडाओं, अर्थच्छटाओं और व्यंजनाओं की भी विपुल अभिरामता है।"[12] अशोक वाजपेयी हिन्दी कविता के उन थोड़े से विरल हिन्दी कवियों में हैं जिनके होने से कविता की एक जीवित सभ्यता पुनर्सम्भव है। काव्य सभ्यता को पुनर्नवा करने में अज्ञेय और रघुवीर सहाय के बाद जिन आठ दस लोगों की महत्वपूर्ण भूमिका है उनमें से एक हैं अशोक वाजपेयी।"[13]

एक कवि के प्रशासनिक और राजनैतिक आस्थाओं पर हिन्दी साहित्य के लोगों ने खूब प्रकाश डाला है, किन्तु उसके रचना कार्य को लोगों ने विचार के लिए नहीं लिया जबकि अशोक वाजपेयी ही नहीं उनके "बहुत से समकालीन कवियों की राजनैतिक आस्थाएं घोषित रूप से एक दूसरे से भिन्न हैं किन्तु ऐसा नहीं लगता कि वे उनकी काव्य संरचना या भाषिक व्यवहार को प्रभावित कर रही हैं। भाषा को, उसकी सहज विश्वसनीयता को लौटाने की कोशिश इन सभी कवियों का रचनात्मक संघर्ष है। यह कोशिश भाषा में सामाजिक, पारिवारिक और अन्तर्वैयक्तिक आत्मीयता को लौटाने की कोशिश है जो असद जैदी या मंगलेश डबराल में भी उतनी ही मिलती है जितनी प्रयाग शुक्ल या अशोक वाजपेयी या चन्द्रकांत देवताले में।"[14]

अशोक वाजपेयी का काव्य साहित्य "उनकी विशिष्ट काव्यात्मक दृक शक्ति का प्रमाण देता है उनकी काव्य दृष्टि अत्यंत प्रशस्त है।"[15] सूर्य, आकाश, पृथ्वी, प्रकृति, पास-पड़ोस, विश्व, ब्रह्माण्ड, मां, प्रेमिका, बेटी, बहिन, पिता, पूर्वज, देह, आत्मा, संगीतज्ञ, नर्तकी, चित्रकार, कविगण, संगीत, नृत्य, चित्र-कविताएं, नाद, शब्द, समय, अनन्त, पेड़, धूप, चिड़िया, घास, नदी, पहाड़, प्रकाश, अंधकार, जीवन,मृत्यु,पुनर्जन्म,जनमान्तर,घर,जानवर,फल,फूल, विदाई, पुस्तकें ,वाद्य यंत्र आदि की अशोक वाजपेयी की कविताओं में जीवंत उपस्थिति है। आक्रामकता, बड़बोलेपन और उग्रता जब हिन्दी कविता को लील रही थी, लग रहा था एक ही कवि अनेकों नामों से कविता लिख रहा है, ऐसे खतरनाक समय में अशोक वाजपेयी ने जीवन को, कविता को संसद संविधान और लोकतंत्र के विरूद्ध चालू सरलीकरणों से हटकर देखा, और बिना चीख पुकार के जीवन के उन पक्षों को अभिव्यक्ति दी जिनके लिए हिन्दी कविता में जगह खत्म हो गयी थी, या जिन्हें महत्वहीन मानकर पद दलित कर दिया गया था। प्रेम और श्रृंगार को उसी चीख पुकार और आक्रोश विरोध की जगह रखने की हिम्मत अशोक वाजपेयी ने दिखलायी। यह वह समय था जब जीवन की रंगारंग स्थिति हिन्दी कविता से दूर जा चुकी थी। जबकि अशोक वाजपेयी की कविता व्यक्ति को उसके अर्न्तमन में उतर के स्पर्श करती है, उसे अपने यहां सहारा देती हैं।" सामाजिक,पारिवारिक आत्मीयता के छीजते चले जाने के माहौल में ये कविताएं विशफुल थिंकिंग नहीं बल्कि गहरी वेदना से प्रसूत होती दिखायी देती है और इसलिए हमें किसी कृत्रिम आशावाद की ओर ले जाने या निराशा के गहरे अंतराल में ढकेलने की बजाय एक मानव विरोधी परिवेश में मनुष्य बन कर खड़े रहने की ताकत देती हैं।"[16] यह कोई संयोग नहीं है कि समकालीन कविता में नयी पुरानी पीढ़ी के अधिकांश कवियों में घर की स्मृति, उसकी तलाश की छटपटाहट हमें देखने को मिलती है। घर की स्मृति और छटपटाहट से कवि की रिश्तों के प्रति व्याकुलता व्यक्त होती है। यह व्याकुलता मंगलेश डबराल, प्रभात त्रिपाठी, रघुवीर सहाय और अज्ञेय में भी देखी जा सकती है। अशोक वाजपेयी ने घर, उसकी वस्तुओं, रिश्तों और स्मृतियों को हिन्दी कविता में सबसे अधिक जगह दी है। इस आधुनिकतावादी जीवन संघर्ष में जहां आत्मीयता और घरेलूपन का बोध लगभग खारिज कर दिया गया

है, अशोक वाजपेयी की कविताएं मानवीय रिश्तों के अवमूल्यन के खिलाफ एक रचनात्मक संघर्ष की स्थिति निर्मित कर रही हैं और उनकी काव्य भाषा समकालीन संसद, संविधान और जीवन के सरलीकरणों की भाषा नहीं है अशोक वाजपेयी की कविता में भाषा तत्सम शब्दों की कोमलतम और सार्थक प्रयोग की भाषा है।

कविता में, भाषा में, और साहित्य में, अशोक वाजपेयी के यहां हमें पुरखों की स्मृतियों से भेंट के कई अवसर मिलते हैं जैसे भाषा, उनके यहां पुन: प्रकट हो रही है, और कविता में पुरखों की उपस्थिति सार्थक है। जीवन और मृत्यु दोनों को अशोक वाजपेयी के काव्य में पर्याप्त स्थान दिया गया है बहुरि अकेला खण्ड की कविताओं में एक खास तरह की आध्यात्मिक चेतना भी सुनाई देती है जो उनके काव्य संसार का मूल्यवान पक्ष है। अशोक वाजपेयी के काव्य में इलियट आदि पश्चिम का प्रभाव होते हुए भी उनके यहां ईश्वर की मृत्यु नहीं हुई है।

विगत 40 वर्षों की काव्य साधना के आधार पर कहा जा सकता है कि अशोक वाजपेयी का काव्य जीवन और उसके विभिन्न सन्दर्भों की अभिव्यक्ति के साथ-साथ जीवन के प्रति आसक्ति का काव्य है, जिसमें भाषा की नवीनता और प्राचीनता की सार्थक अनुगूंज हमें सुनायी देती हैं। साठोत्तर हिन्दी कविता में जहां प्रकृति, प्रेम और श्रृंगार सब बहिष्कृत कर दिया गया था यहां जीवंत उपस्थिति पुन: बहाल की गयी है।

पारिवारिक रिश्तों आदि पर अशोक वाजपेयी के काव्य में सर्वाधिक कविताएं लिखी गयी हैं किन्तु उनके यहां मां पर लिखी गयी कविताएं हिन्दी कविता की धरोहर हैं। भाषा में तत्सम शब्दों की पुर्नस्थापना अशोक वाजपेयी के काव्य का गौरवपूर्ण पक्ष है।

प्रेम और श्रृंगार में वे शमशेर से आगे हैं। निष्कर्षत: अशोक वाजपेयी का काव्य साहित्य स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता की श्रेष्ठतम उपलब्धियों में से एक है। जिसमें अनेक स्तर पर नयी बातें देखने को मिलती हैं। अशोक वाजपेयी की कविता जीवन की इसी टूटी-फूटी विद्रूपता में जीवन की, आस की, कविता की सार्थकता की जीवित अभिव्यक्ति है। उनके काव्य में जीवन और साहित्य के अनेक मूल्यवान पक्ष हिन्दी कविता में पहली बार हमें दिखायी देते हैं जिन्हें गैर जरूरी समझ कर छोड़ दिया गया था।

इस तरह अशोक वाजपेयी का काव्य साहित्य हिन्दी कविता की समृद्धि का काव्य है जीवन के छोटे-छोटे सत्यों को भी इसमें पर्याप्त और इधर की कविता में सर्वाधिक जगह दी गई है। अत: भाषा, विषय, और मानवीय संवेदना के आधार पर अशोक वाजपेयी का काव्य हिन्दी साहित्य की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

अशोक वाजपेयी का आलोचना साहित्य -

"आलोचना को रचना की सघन और तनावपूर्ण शर्तों पर पाना मुझे हमेशा आकर्षित करता रहा है। आलोचना की सृजनात्मक उड़ाने कविता में कल्पना की उड़ानों से किस कदर कम हों ? एक बड़ी थीम को लेकर लिखी गयी कविता का स्थापत्य रेहटारिक, कुशल बनावट और पच्चीकारी उस आलोचना में भी तो पायी जा सकती है जो रचना के भीतर से निकलने वाले प्रश्नों को संवेदना और दृष्टि के एक बड़े फलक पर पूरी विविधता के साथ प्रोजेक्ट करती है।"[17]

संवाद और एकालाप में मलयज की यह टिप्पणी अशोक वाजपेयी की आलोचना को परिभाषित करती हैं। अशोक वाजपेयी की आलोचना का आरम्भ 'फिलहाल' (1970) से हुआ। फिलहाल की आलोचना के आरम्भ में दृश्यालेख में उन्होने लिखा है कि "आलोचना समकालीन कविता को समझने बूझने और इस समझ से हमारे समय के मनुष्य की हालत के बारे में अपने अहसास को प्रासंगिक और गहरा करने की कोशिश करना है।"[18] इस समकालीन शब्द को लोगों ने अशोक वाजपेयी की आलोचना की सरहद समझकर उन्हें समकालीनता से आक्रांत करार दिया। जबकि स्वयं लेखक ने फिलहाल के बाद अपने दूसरे आलोचना ग्रंथ कुछ पूर्वग्रह में ही फिलहाल के समकालीनता की चाहारदिवारी को तोड़ दिया। अशोक वाजपेयी की आलोचना का आरम्भ समकालीनता से अवश्य हुआ किन्तु यह समकालीनता का मुहावरा उनकी बाद की समीक्षा पुस्तकों पर फिलहाल के जैसा लागू नहीं किया जा सकता ।

समकालीनता अशोक वाजपेयी की आलोचना की रूढ़ि कभी नहीं बनी। समकालीनता की शर्तों पर रचना की आलोचना हमारी आलोचना में सृजनात्मक आलोचना की बुनियादी जरूरत थी। क्योंकि समकालीन रचना पर ध्यान न देकर लोग अंधाधुंध शास्वत सत्यों की परम्परा का राग अलापे जा रहे थे, आलोचना में शास्त्रीयता के कारण सम सामयिक रचना को लगभग खारिज करने की प्रवृत्ति जोर पकड़े हुए थी और जो लोग समसामायिक रचनाओं पर लिख भी रहे थे उनके मानदण्ड और कसौटियां वही थी, इन सब वजहों से समकालीनता का नारा आलोचना में बुलंद हुआ और आलोचना की एक ऐसी धारा पुष्ट हुई जिसमें समकालीन रचना को समकालीन मानव की शर्तों पर विश्लेषित किया गया। सृजनात्मक आलोचना इसी धारा का नाम है। "जीवन्त आलोचना साहित्य के हर मोड़ के साथ नए सन्दर्भों में ढलती है और अपनी सार्थकता को सिद्ध करती है।" सृजनात्मक आलोचना इसका उदाहरण है।

अशोक वाजपेयी के आलोचना साहित्य में फिलहाल की स्थिति मील के पत्थर की तरह है जो अशोक वाजपेयी की आलोचना का प्रस्थान बिन्दु भी है और पहचान का कारण भी। फिलहाल ने जिस समय की रचनाओं को परखने की हिम्मत दिखायी, वह समय मोहभंग के वातावरण से उपजा कविता में आक्रोश, विरोध, कुण्ठा, निराशा का समय था। इस समय सही कविता की पहचान करना लगभग मुश्किल हो गया था, आंदोलनों की बाढ़ सी आयी हुई थी। ऐसे विवादास्पद समय की विवादित कविता में से शुद्ध कविता छांटना और आलोचना लिखना भारी बहादुरी का काम था। उस समय आलोचना भेदभाव के चरम पर थी। ऐसे में रचनाकार आलोचकों ने आलोचना में कारगर हस्तक्षेप किया जिसके परिणामस्वरूप सृजनात्मक आलोचना सामने आयी। इस पीढ़ी में मलयज, विष्णु खरे, रमेशचन्द्र शाह, विजयदेव, नारायण साही, चन्द्रकांत देवताले, श्रीकांत वर्मा, आदि के साथ अशोक वाजपेयी का नाम प्रमुखता से लिया जाता है।

सन् साठ के बाद आज हम जिन आलोचकों विश्वनाथ त्रिपाठी, मलयज विष्णु खरे, परमानंद श्रीवास्तव, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, रमेशचन्द्र शाह, नंदकिशोर, नवल मैनेजर पाण्डेय, नित्यानंद तिवारी, मधुरेश, चन्द्रभूषण तिवारी, सुरेन्द्र चौधरी, विजयमोहन सिंह, प्रभात त्रिपाठी, प्रभाकर श्रोत्रिय, देवीशंकर अवस्थी, धर्मवीर भारती, कुमार विकल, रमेश कन्तुल मेघ, लक्ष्मीकांत वर्मा, डॉ. रघुवंश, रामस्वरूप चतुर्वेदी की चर्चा करते हैं तो उनमें अशोक वाजपेयी की उपस्थिति अपने आलोचनात्मक उद्यम के व्यापक केनवास के कारण लगातार चर्चा का विषय रही है। 'फिलहाल' जिसे युवा कविता आंदोलन की पड़ताल का ग्रंथ माना गया है। इस पुस्तक के अधिकांश लेख युवा कविता को विश्लेषित करते हैं और वह भी पूरी समग्रता से।"उदाहरण के लिये दृश्यालेख, तलाश के दो मुहावरे, कुछ युवा कवि, युवा लेखन, साहस और उग्रता की पड़ताल, युवा कविता की आलोचना, अकविता एक नयी रूमानियत, नए पुराने का झगड़ा, बदलता मुहावरा, समकालीन कविता जैसे लेख सातवें दशक की कविता की दिशा और दृष्टि को समझने का एक साहसिक, उत्तेजक और प्रामाणिक उपक्रम है।"[20] इस तरह "सातवें दशक की कविता की जितनी गहन, तात्विक और ऐतिहासिक जांच पड़ताल अशोक वाजपेयी कर पाते हैं उतने अन्य आलोचक नहीं।"[21]

हमारे यहां साठ के दशक की हिन्दी कविता का परिदृश्य बेहद उलझा हुआ था। कविता ने समकालीन समाज और मनुष्य के सभी दबावों को भर-भराकर उगलना शुरू कर दिया था जिसमें राजनीति भी शामिल थी। यह वह समय था जब कविता खुला अखाड़ा बन गयी थी। सबको स्थापित होने की पड़ी थी। विषय वस्तु और भाषा में भी इस समय ऐतिहासिक गिरावटें देखने को मिलती हैं। किन्तु इस समय भी अनेक कवि भाषा और विषय वस्तु के आधार पर सार्थक कविता लिख रहे थे जिन्हें अशोक वाजपेयी ने 'फिलहाल' में विश्लेषित किया है। 'फिलहाल' की आलोचना में सातवें दशक के मोहभंग की कविता के वातावरण की स्थिति साफ नजर आती है। यह मोहभंग साहित्य में भी समाज के रास्ते आया था। इस समय "साहित्य में एक ओर नयी कविता का वर्ग था जो इन सामाजिक परिस्थितियों से बेखबर अस्तित्ववादी यूटोपिया में भटक रहा था और दूसरी ओर इसी नयी कविता के श्रीकांत वर्मा, कुंवर नारायण, रघुवीर सहाय और केदारनाथ सिंह जैसे कवि भी थे जिन्होंने नयी कविता की रूढ़ियों को तोड़कर इस नये

सामाजिक सत्य के साथ जीवन्त रिश्ता बनाया था।"[22] इसी समय युवा पीढ़ी में "अकविता के समानान्तर युवा कविता (यह नाम अशोक वाजपेयी ने दिया था) आकार ले रही थी जिसमें भाषा संवेदना और विचारों के स्तर पर उस नये सामाजिक सत्य को संयत और कहीं कहीं अतिरंजित अभिव्यक्ति मिल रही थी।"[23] इस समय आलोचना अपने शाश्वत प्रश्नों से तो जूझ रही थी साथ ही समकालीन रचना के प्रति वह उदासीन भी थी। फिलहाल की आलोचना से अशोक वाजपेयी ने तात्कालिक ऐतिहासिक जरूरत की हिन्दी साहित्य में पूर्ति की।" फिलहाल की आलोचना इसी जरूरत के दबाव से पैदा और उसे झेलने की सामर्थ्य विकसित करती आलोचना है।"[24] इस समय साहित्य और समय में जो तनाव था वह मोहभंग के वातावरण से उपजा था। इस समय राजनीति में भी विचारों, मुद्दों आदि को लेकर संघर्ष चल रहा था। इसलिए फिलहाल के जनतंत्र की तस्वीर तात्कालिक भारतीय जनतंत्र की तस्वीर से काफी मिलती-जुलती है। दोनों में महत्वपूर्ण समानताएं दिखायी देती हैं। दोनों में टकराव की, खण्डन-मण्डन की मुद्राएं और स्वर साफ सुनायी देते हैं।

फिलहाल की आलोचना में जो महत्वपूर्ण तत्व शामिल किये गये ,उनमें केवल समकालीन रचना की समकालीन मनुष्य और समाज की शर्तों पर उसका मूल्यांकन ही नहीं बल्कि फिलहाल का तीखा निषेधात्मक स्वर और पक्ष विपक्ष की सार्थक उपस्थिति भी है।

फिलहाल के केनवास में हम देखते हैं कि अशोक वाजपेयी की आलोचना रचना और आलोचना दोनों में कुछ जरूरी परिवर्तन के तनाव से युक्त है। कविता में जहां लेखक विचार बुद्धि, धर्म, भाषा आदि की सार्थकता की मांग करता है वहीं वह आलोचना को भी बिना अपनी रूचि के केन्द्रहीन हुए, इतनी लचीली और समावेशी बनाने की मांग करता है कि "उससे कई तरह की कविताओं, काव्य दृष्टियों और मूल्यों का सहानुभूति लेकिन दृढ़ता के साथ सामना किया जा सके।"[25]

अशोक वाजपेयी रचना और आलोचना दोनों में ऐतिहासिक विवेक को साथ लेकर चलने के पक्ष में हैं, वे रचनात्मक स्तर पर भाषा के संस्कार के प्रति, उसकी सांस्कृतिक जड़ों के प्रति सजग रहने की आवश्यकता पर बल देते हैं। उनका मानना है कि रचना में पारंपरिक अनुगूंजों आसंगों से कट जाने से कविता की भाषा में सतहीपन और सपाटता आ जाती है इसलिए रचना में भाषा की अनुगूंज भी होना मूल्यवान है।(आलोचना में भी लेखक परम्परा की अनुगूंज का प्रबल पक्षधर है।)फिलहाल का वातावरण आलोचना में फतवेबाजी, रिटोरिक का वातावरण था। शाश्वत सत्यों से हटकर रचना का सामना करना मुश्किल हो गया था। इस समय के पुरानी पीढ़ी के आलोचकों का "इस बात से जैसे विश्वास ही उठ गया था कि तर्क का प्रतिकार तर्क से ही होता है।"[26] अशोक वाजपेयी ने इस स्थिति को बहुत तीव्रता से महसूस किया और लिखा कि "जरा जागरूक बुद्धिजीवी के लिए इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या होगा कि अपनी समकालीन दुनिया में उसे बौद्धिक चुनौतियां दिया जाना बंद हो जाए"[27] यह स्थिति हिन्दी में आलोचना के सतहीपन के कारण निर्मित हुई थी। अशोक वाजपेयी कविता और आलोचना दोनों में विचार के पक्षधर हैं।

फिलहाल की आलोचना में लेखक ने दो विभिन्न तेवर के कवियों की पड़ताल एक साथ की है। जिससे दोनों कवियों की रचनाओं को समझने में आसानी होती है। अब कमलेश और धूमिल को ही लीजिए अशोक वाजपेयी जी ने एक साथ रखा है, जबकि कमलेश और धूमिल की कविता में पर्याप्त अंतर मौजूद है, यह एक चुनौती भरा काम है जो अशोक वाजपेयी ने किया है। कमलेश की कविता के लिए वे कहते हैं कि "उनकी कविता में अहसास तो है समझ नहीं।"[28] वहीं कमलेश से तुलना करते हुए वे लिखते हैं "धूमिल में बौद्धिक समझ भी है जो अहसास को संयमित करती और गहरा बनाती है। यहीं कमलेश जैसे दूसरे युवा कवियों से धूमिल की विशिष्टता भी स्पष्ट होती है धूमिल मात्र अनुभूति के नहीं विचार के भी कवि हैं।"[29]

अशोक वाजपेयी के यहां आलोचना किसी कविता के द्वारा उस समय की समूची कविता की संवेदना को समझने और समझ से आलोचना को सक्षम और प्रभावी बनाने की कोशिश करते हैं। वे एक कविता पर टिप्पणी करके वैसी अनेकों कविताओं को समझने का मार्ग भी प्रशस्त करते हैं।

अशोक वाजपेयी आलोच्य कविता को सबसे पहले भाषा की कसौटी पर परखते हैं और दो टूक फैसला देने से वे परहेज करके वे विश्लेषण करते हैं जैसे कमलेश की काव्य भाषा पर उन्होंने कहा "भाषा में निजी भूमि की तलाश कमलेश को भाषा के स्वप्न जगत, उसमें रची बसी सजीव यादों की ओर ले जाती है शताब्दियों पीछे छूट गई भूमि को फिर से प्राप्त और चारितार्थ करना जैसे भाषा की जड़ों तक उसके बचपन तक जाना है।"[30] "भाषा की जड़ों तक पहुंचना अनुभव की जड़ों तक पहुंचने का ही दूसरा नाम है।"[31] रचना में भाषा, अभिव्यक्ति, बिम्बों, चित्रों शब्दों को अशोक वाजपेयी बखूबी पहचान कर सार्वजनिक करते देखे जा सकते हैं। उनकी आलोचना में तर्क उनके विश्लेषण की प्रमुख विशेषता है। उनकी भाषा रचना के दुर्बल पक्षों पर जैसा प्रहार करती है उसी समकक्ष रचना के महत्वपूर्ण पक्षों को तर्क सहित उद्घाटित भी करती है।

'फिलहाल' से लेकर 'कुछ पूर्वग्रह' और 'समय से बाहर' तक अशोक वाजपेयी की आलोचना में हम देखते हैं कि उन्हें विषय के विश्लेषण की पूरी समझ है वे तर्कों और चुनौतियों के साथ रचना की गहराई में जाकर धारा प्रवाह भाषा के द्वारा चरणबद्ध विश्लेषण करने में सक्षम आलोचक हैं। अपने खण्डन-मण्डन की तर्क सहित प्रामाणिकता देना उनकी आलोचना की विशेषता है। वे खराब को बिना सोचे समझे खराब नहीं कह देते बल्कि उसे पाठकों के लिए साहित्य के लिए भ्रम उत्पन्न करने से बचाकर अच्छी बुरी रचना को विश्लेषित भी करते हैं जैसे "आक्रामक लेखन की कुछ अपनी रूढ़ियां बनी हैं। उनमें से दो प्रमुख हैं साहसिकता और नग्नता।"[32] अशोक वाजपेयी की भाषा तर्कों की भाषा है जो शब्दाडम्बरों से बचकर सीधे-सीधे दो टूक बात कहने में सक्षम भाषा है।

साठ के दशक की उग्र कविता पर अशोक वाजपेयी ने मूल्यों को निरर्थक घोषित करने का आरोप लगाया है जिसके कारण इधर के लेखन में सभी संबंध और मूल्य के प्रति उदासीनता व्याप्त हुई। जबकि "नए लेखक में मूल्यों के बारे में एक सर्तक दृष्टि थी, बल्कि कई बार अतिरिक्त उत्साह भी"[33] निष्कर्षत: नयी कविता में विचार और मूल्यों के स्तर पर एक विकलता थी। किन्तु "उग्र लेखक में ऐसी कोई विकलता नहीं दिखती।"[34] अशोक वाजपेयी ने फिलहाल में युवा लेखन में आयी साहस और उग्रता की पड़ताल की चर्चा करते हुए रचना में विचार के साथ मूल्यों का होना कविता में उसकी सार्थकता के लिए जरूरी माना। उन्होंने लिखा कि "मूल्यबोध का सीधा संबंध रचना के स्तर पर अर्थ से है जो साहित्य मूल्य निरपेक्ष होना चाहता है वह अर्थ निरपेक्ष भी होना चाहेगा।"[35] ऐसी कविताओं को अशोक जी ने अर्थहीन साहित्य कहा है। कुछ लोग इस दौर में थे जो मानवीय साक्षात्कार को अभिव्यक्ति प्रदान कर रहे थे। बाद की पीढ़ी के केदारनाथ सिंह, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, धूमिल, कमलेश, विनोद कुमार शुक्ल आदि कवियों में "उग्रता, उठाईगीर संस्कृति की भी एक अभिव्यक्ति है और खुले जोखिम भरे मानवीय साक्षात्कार की भी।"[36] स्त्री को लेकर भी अकविता आदि में जो सरलीकरण जन्मा था, जो नग्नता, विकृति बन फूट पड़ी थी। उसका अशोक वाजपेयी ने तर्क सहित विरोध किया। इससे पता चलता है कि अशोक वाजपेयी अपनी आलोचना में "सिर्फ रूचिकर व्यंजन ही नहीं ढूढ़ते, अरूचिकर और तीखे को भी चखते हैं।"[37] जैसे दो विभिन्न तेवरों के कवियों को उन्होंने आलोचना के लिए उसके सार्थक विश्लेषण के लिए उठाया है वैसे ही वे दो भिन्न रचना धाराओं को भी अपनी आलोचना में कारगरता से उठाते हैं, जिससे वे अपनी बात और भी प्रमाणिकता से स्पष्ट कर पाते हैं। वैसे यह आलोचना की बुनियादी आवश्यकता भी हैं जो हमें अशोक में तीव्रता से महसूस होती हैं।

अशोक जी आलोच्य "कविता में बहुत दूर तक एक ऐसे रसिक की तरह जाते हैं जो कविता को व्यंजन भर न मानकर उसे जीने के कर्म की परिभाषा भी मानता है।"[38] लेखक आलोच्य कविता में केवल अनुभूति को ही श्रेष्ठ नहीं ठहराता वह अनुभूति के साथ विचार के साहस को जरूरी मानता है।

युवा लेखन की अनेक विशेषताओं में से एक सपाटबयानी की भी अशोक वाजपेयी ने फिलहाल में चर्चा की है। सपाटबयानी को उन्होंने युवा लेखकों के विचार विरोध और ऊब तथा अबौद्धिकता का कारण माना है। उन्होंने लिखा है कि "नई कविता में बिम्बों और प्रतीकों की ऐसी भरमार हो गई थी कि कविता शब्दाडम्बर होने लगी थी और उसकी अनुभावात्मक तात्कालिकता नष्ट सी हो गई थी। कविता

को फिर जीवित तात्कालिकता देने के लिए और काव्य भाषा को जो बिंबों में फंसकर गतिहीन और जड़ हो चली थी, ताजगी और जीवंतता देने के लिए युवा कवियों ने अगर सपाटबयानी की और रूख किया तो यह स्वाभाविक और जरूरी ही था।"[39] हम देखते हैं कि "अशोक वाजपेयी की आलोचना का यह जनतंत्र इतिहास, विचारधारा, व्यक्तिवाद और शास्त्र के अतिरेक नीरसता और तानाशाही के विरूद्ध एक उम्मीद की तरह विकसित हुआ था। वह फिलहाल की जलवायु में अंकुरित होती युवा कविता के स्वप्न और यथार्थ से बुना गया जनतंत्र था जिसका समूचा विधान एक अतिवाद के विरूद्ध निषेध की, खण्डन-मण्डन की भाषा और मूल्यों पर टिका हुआ था।"[40] "उस अतिरेक पूर्ण, नीरस और तानाशाह व्यवस्था में घुटते कुण्ठित होते मूल्यों को यह आलोचना एक मुक्तिदायक शरण स्थली प्रतीत होती जैसा कि हुआ भी।"[41]

फिलहाल की समीक्षा में तर्क संगत खण्डन-मण्डन और विचार पर समकालीन राजनैतिक परिदृश्य पर कविता की नजर आदि के साथ परम्परा से भाषा, और संस्कारों की झनक भी इस समीक्षा पद्धति की अनिवार्य शर्तों में से हैं। भाषा में चालू मुहावरों के अशोक जी सख्त खिलाफ हैं। भाषा के नाम पर वे सरलीकरणों को कविता के लिए, भाषा के लिए खतरनाक मानते हैं।

फिलहाल की आलोचना को समझने, उसमें प्रवेश करने के लिए जो रास्ता अशोक वाजपेयी ने दिया है उसे आलोचकों ने जिरह का रास्ता ज्ञापित किया है। अशोक वाजपेयी कीआलोचना भाषा स्वयं सिद्ध विश्लेषण की भाषा उतनी नहीं है जितनी रचना से अर्जित प्रभावों का एक नया संश्लेषण करने वाली भाषा है।"[42] फिलहाल की भाषा में हम कुछ शब्दों तक का हेर-फेर नहीं कर सकते वह इतनी सघन और सार्थक शब्दों की व्यवस्था के साथ-साथ सार्थक तर्कों की व्यवस्था भी है। यदि हम इसमें कुछ भी हस्तक्षेप करेंगे तो इसका मंतव्य बदल जायेगा इस अर्थ में अशोक वाजपेयी में इस समय आलोचना में कुछ जरूरी बदलावों को स्वीकार कर लेने का अप्रत्यक्ष प्रयास भी देखा जा सकता है। अशोक वाजपेयी शाश्वत प्रश्नों को एक तरफ रख तात्कालिक ऐतिहासिक आवश्यकता पर ध्यान केन्द्रित करते हैं "फिलहाल की आलोचना इसी जरूरत के दबाव से पैदा और उसे झेलने की सामर्थ्य विकसित करती आलोचना है।"[43] फिलहाल की आलोचना में अकविता की कस्बाई भावुकता, बड़बोली आक्रामकता, स्मृतिहीनता, आत्मरति, स्त्री और भीड़ के प्रति रोमेण्टिक दृष्टि, विचारहीनता, नयी कविता की तटस्थता, स्वायत्तता, आत्ममुग्धता और युवा कविता की अतिरंजित साहसकिता, उग्रता सामान्यीकरण, आत्मस्फीति और कविता की शक्ति में अतिरंजित विश्वास जैसी रूढ़ियों या तत्कालीन काव्य विश्वासों के निषेध की प्रक्रिया में फिलहाल में मनुष्य ने मनुष्य की स्थिति के बौद्धिक आकलन, मितभाषी विनम्रता, मानव सम्बन्धों के प्रति आत्मीय और वस्तुपरक दृष्टि, वैचारिकता, संघर्षशीलता, हिस्सेदारी, सार्वजनिकता, आत्मविश्लेषण, नैतिक साहस, अपस्फीति, ऐन्द्रिकता, जातीय स्मृति, जीवन के सूक्ष्म ब्यौरों का बखान जैसे मूल्यों को स्थापित किया। अत: अशोक वाजपेयी की आलोचना रचना में भाषा और अभिव्यक्ति के साथ उसकी विषय वस्तु, विचार आदि के विश्लेषण की एक निडर अभिव्यक्ति की आलोचना है। उनमें तर्क की सार्थकता महत्वपूर्ण हैं और आलोचना भाषा तो जैसे पाठक को घेरने को तैयार खड़ी भाषा है। जिसमें सरल और सीधे शब्दों के द्वारा एक अनोखे उक्ति चातुर्य को अपनाया गया है।

अत: फिलहाल युवा कविता आंदोलन की पड़ताल का ग्रंथ तो है ही अशोक वाजपेयी की आलोचना का शीर्ष ग्रंथ भी है जिसमें लेखक ने एक बड़ी चुनौती को स्वीकार करने का साहस किया है। राजकमल प्रकाशन से इसके प्रकाशित हो चुके चार संस्करण इसके महत्व को स्वयं ही प्रतिपादित करते हैं।

कुछ पूर्वग्रह (1984)अशोक वाजपेयी की आलोचना का दूसरा पड़ाव है, जो कविता की वापसी का विनम्र प्रतिवेदन भी है। और आलोचना के विकास का सोपान भी। आलोचक मदन सोनी ने कुछ पूर्वग्रह की फिलहाल से तुलना करते हुए इसे अशोक वाजपेयी की आलोचना की स्थापित व्यवस्था कहा है यहां कुछ पूर्वग्रह में अशोक वाजपेयी की आलोचना फिलहाल की ही तरह "हमारी बौद्धिक दुनिया के उस हर कोने के प्रति चौकन्नी है जहां किसी भी किस्म का टकराव या तनाव है।"[44] किन्तु यहां उसमें फिलहाल वाला वह और वैसा बौद्धिक संघर्ष नहीं दिखता। इसका एक कारण तो "कविता पर किसी एक

मुहावरे, किसी एकनिष्ठ दृष्टि "[45] के आतंक का अभाव है और दूसरा विभिन्न आंदोलनों का ठंडा पड़ना भी है। कुछ पूर्वग्रह की आलोचना में कविता के तेवर फिलहाल की आलोचना की कविता के तेवर से बहुत भिन्न हैं। यहां कुछ पूर्वग्रह में कविता गुपचुप दूब की तरह दृश्य पर छा गयी है और वहां फिलहाल में कविता कहीं हथियार बन रही थीं, तो कहीं बयान।

कविता आदमी को जीवन संघर्ष में मदद करे यह ठीक है मैं इससे सहमत हूं,किन्तु कविता यदि खुद आदमी का संघर्ष करने लगे तो समझ लो कविता अपने दायित्व अपनी स्वाभाविकता से भटक गयी है। सन् साठ के अनेक कविता आंदोलनों में कविता को उसके मार्ग से भटकते देखा जा सकता है। यहां कुछ पूर्वग्रह में कविता अपने तथाकथित आंदोलनों से बाहर खुले में आयी है। दृश्य में उसकी सजीव उपस्थिति की गर्माहट महसूस भी की जा सकती है। फिलहाल का वातावरण पक्ष और विपक्ष की साकार उपस्थिति का वातावरण था क्योंकि काव्य आंदोलनों के तेवरों से जूझने के लिये यह जरूरी था वहां बिना खण्डन-मण्डन के कुछ साफ-साफ और बेहतर कह पाना मुश्किल नहीं असंभव भी था। क्योंकि समकालीन कविता का पूरा परिदृश्य उलझा हुआ था। ऐसी बात नहीं कि कुछ पूर्वग्रह में संघर्ष और खण्डन-मण्डन है ही नहीं,है और फिलहाल से ज्यादा है, पर यहां उसका रूप बदला है, यहां कुछ पूर्वग्रह में अशोक वाजपेयी की भाषा ने कविता के हिसाब से थोड़ी करवट ली है कुछ बदलाव आया है।

आलोचना भाषा की दृष्टि से यहां वाक्य "विन्यास अत्यंत सुगठित है और एक दुर्लभ किस्म का उक्ति चातुर्य उसे सुन्दर भी बनाता है पर एक चीज जिसे हम तर्क कहते हैं यहां सिरे से गायब है। उन्हीं के शब्दों में यह शब्दों की एक सार्थक व्यवस्था तो है पर तर्कों की सार्थक व्यवस्था नहीं।"[46]यदि हम लेखक को गहराई से समझने की कोशिश करें तो अशोक वाजपेयी समीक्षा में फिलहाल से कुछ पूर्वग्रह तक और उसके आगे भी,वे एक ऐसे उग्र विवेक के कायल नजर आते हैं जो अपने समय की अपढ़ता, संस्कृति कर्म के प्रति व्यापक सामाजिक उदासीनता, सम्वादहीनता को तोड़कर एक नया संवाद पैदा करना चाहते हैं।"[47] अशोक वाजपेयी की आलोचना के सम्पूर्ण व्यक्तित्व में साहित्य के प्रति समाज की नियति में सोच में बदलाव की चिंता और साहित्य की समाज में पुर्नप्रतिष्ठा का संघर्ष साफ दिखाई देता हैं वे बड़ी उत्कटता से लिखते हैं कि "मैं अभी भी उम्मीद लगाए हूं कि एक दिन तथाकथित तथ्यों से ऊबकर लोग उन जीवंत जीवन छवियों की ओर आयेंगे जो साहित्य धीरज और शांति से प्रस्तुत करता है, उस सच की ओर जो साहित्य के पास है और तथ्यों के घटाटोप में बिला नहीं गया है।"[48] जाहिर है लेखक अपनी समीक्षा में जीवंत जीवन छवियों को महत्व देता है और औरों से भी इस जीवंतता पर भरोसा करने का आग्रह करता है। कुछ पूर्वग्रह में भी यह आग्रह देखा जा सकता है। फिलहाल में जहां अशोक वाजपेयी साठवें दशक के मोहभंग के वातावरण में उपजी काव्यधाराओं से जूझ रहे थे, कुछ पूर्वग्रह के वातावरण में आकर उन्होने हिन्दी आलोचना में स्थायित्व ग्रहण किया। किन्तु एक बात समझ में नहीं आती की कुछ पूर्वग्रह में भी उन्होने अधिकांश उन्हीं कवियों को समीक्षा के लिए चुना है जो फिलहाल में थे हालाकि ये रचनाकार दोनों समय में सक्रिय थे।

"फिलहाल में कविता नयी कविता की रूढ़ियों से विद्रोह करके नये सामाजिक सत्य से साक्षात्कार कर रही थी। इसी समय युवा पीढ़ी में अकविता के अतिचारों के समानान्तर युवा कविता ने जगह बनायी जिसमें भाषा के स्तर पर सामाजिक सत्य को संयत और कहीं अतिरंजित अभिव्यक्ति मिली। फिलहाल में अशोक वाजपेयी ने कविता के इस उलझे हुए वातावरण को सुलझाया है। किन्तु कुछ पूर्वग्रह की समीक्षा में कविता की वह प्रवृत्तियां हमें नहीं दिखती जो फिलहाल की समीक्षा में थीं। यहां आंदोलनों का दौर नहीं है यहां कविता की वापसी हुई है वह भी बिना किसी नाटकीय मुद्रा के और बिना हाथ उठाकर किसी नये काव्य धर्म की घोषणा के गुपचुप दूब की तरह दृश्य पर छा गयी है।"[49] यहां कविता की वापसी का जैसा ऐलान अशोक वाजपेयी ने किया है। वैसी जगह वे इस दशक के सक्रिय कवियों को दे नहीं पाये। हिन्दी समाज में क्या भारतीय भाषाओं के समाज में कविता, गद्य, रंगमंच सब अपना काम कर रहे हैं पर अब भी केन्द्र में कविता ही है। किन्तु आलोचना लगातार क्षय का शिकार होती ही जा रही है। पहले वह जहां शास्त्रीयता और शाश्वत सत्यों के कारण वासीपन का शिकार हो गयी थी, उसके बाद पार्टीबंदी

का,बीच में थोड़ी सी स्थिति सुधरी थी व्यवहारिक आलोचना के समय किन्तु वह भी अपना रास्ता भटक गयी और अब स्थिति आलोचना टिप्पणियों का व्यवसाय हो गयी है। लेकिन अशोक वाजपेयी ने बराबर इस स्थिति की चिन्ता की है और हिन्दी आलोचना को उसके संघर्ष में मदद भी वे लगातार करते रहे हैं। रूसी लेखक सोलोविओव की यह टिप्पणी कि "आलोचना और रचना में कोई बुनियादी फर्क नहीं है। आलोचक भी अपने समय से, उसके उन्हीं प्रश्नों दबावों से जूझता है जिनसे रचनाकार आलोचना ईमानदार अच्छा गद्य है और यही रचना है।"[50] यह टिप्पणी अशोक वाजपेयी के समीक्षा कर्म पर, उनकी आलोचना सोच पर अक्षरशः लागू होती है। यहां कुछ पूर्वग्रह में भी अशोक वाजपेयी की आलोचना "आदमी की हालत की पड़ताल है"[51] भले ही उसने ऐसा करने के लिए यहां "साहित्य और कलाओं के साक्ष्य का सहारा ले लिया है। आलोचना के प्रति लोगों के गिरते हुए विश्वास के दौर में अशोक वाजपेयी की सबसे पहली चिंता तो यही है कि लोगों को खासकर आलोचना कर्म में लगे लोगों का आलोचना पर विश्वास कैसे बहाल हो। इसके लिए वे आलोचकों से स्वयं आलोचना पर सवाल उठाने की बात करते है और वह भी निर्ममता से। उन्होंने आलोचना की जरूरत निबंध में आज की आलोचना की स्थिति, नियति, दुर्दशा और उसके कारणों और निदान पर सार्थक बहस का मार्ग प्रशस्त किया है। जो उनके आलोचक व्यक्तित्व को दूर तक परिभाषित करता है। हमें अशोक वाजपेयी के आलोचना परिदृश्य में जो महत्वपूर्ण तत्व नजर आते हैं उनमें आलोचना में भाषा की परम्परा के साथ नयी लय और भारतीयता की गूंज, पश्चिम से हमारे साहित्य की तुलनात्मक विवेचना और सबसे महत्व की बात साहित्य के विकास की,उसकी सार्थकता तथा मनुष्य से अभिन्न संबंध स्थापित करने की उत्कट ललक जो कम ही लोगों में मिलती है। वे अपने साहित्यिक, सांस्कृतिक सरोकारों में हिन्दी साहित्य के विकास और हितों के लिय जूझते 20 वीं शताब्दी के अंतिम चार दशकों में सबसे बड़े व्यक्तित्व के रूप में उभरे हैं।

कुछ पूर्वग्रह केवल एक दशक की कविता की वापसी की घोषणा ही नहीं बल्कि वह हिन्दी की विकासमान रचना प्रक्रिया का उसकी तह में उतर कर किया गया विश्लेषण भी है। कविता में, आलोचना में आये बदलावों और विकृतियों का वह मंच भी है। कुछ पूर्वग्रह में भले ही रघुवीर सहाय, धूमिल, मुक्तिबोध आदि कवि फिलहाल के बाद एक बार फिर उनकी आलोचना में सक्रिय हुए हैं किन्तु यहां वे कविता की वापसी का,उसमें आये बदलाव का अपनी रचनाओं में प्रतिनिधित्व कर रहे हैं।

'कुछ पूर्वग्रह' पश्चिम के साहित्य के साथ कुछ जरूरी संवाद छेड़ती है। यहां लेखक की पश्चिमी साहित्य की गहरी समझ का भी पता चलता है और आज के समय वहां की स्थिति क्या है (साहित्य की) इससे हम वाकिफ भी होते हैं। किन्तु भारतीय और पश्चिमी संस्कृति में कितना भयंकर अंतर है यह भी हमें पता चलता है जब लेखक यह बताता है कि वहां की जनता या पाठक पर किसी कृति का प्रभाव ज्यादा दिन नहीं रहता जबकि हमारे यहां भारतीय संस्कृति में एक कृति का प्रभाव लम्बे समय तक रहता है इस अर्थ में हमें ज्यादा सजग रहने की जरूरत है। कुछ पूर्वग्रह में कविता की सार्थक सूक्ष्म पड़ताल होने के साथ साहित्य के इतर विषय रही कलाएं भी आलोचना के दायरे में पहली बार शामिल हुई हैं। यह शुरूआत हमारे साहित्य का हमारी संस्कृति के साथ सगुण संबंध कायम करने के लिए खोला गया दरवाजा है, जो इस पश्चिमी सभ्यता से आक्रांत समाज में भारतीय संस्कृति को प्रतिष्ठित करने की पहल है।

अशोक वाजपेयी एक स्वतंत्र कृतिकार हैं पर आलोचना को वे अपनी रचना का जरूरी हिस्सा मानते हैं तथा अपने समय और उसमें रची जा रही कविता के पास जाते हैं तथा उस समझ को दूसरों तक भी पहुंचाने का कार्य भी करते हैं। हालाकि सृजनात्मक आलोचना के सभी रचनाकारों ने यह कार्य लगातार किया है। इनमें अशोक वाजपेयी, निर्मल वर्मा, कुंवरनारायण, मलयज, रमेशचन्द्र शाह, प्रभात कुमार त्रिपाठी आदि सृजनात्मक आलोचना के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। इन आलोचकों ने अपने समकालीन साहित्य के ज्वलंत प्रश्नों को खुले तौर पर समझने सुलझाने की कोशिश की है और काफी हद तक सफल भी हुए हैं। इन आलोचकों में सबकी अपनी-अपनी दृष्टि है "लेकिन उसकी तानाशाही उनकी आलोचना में नहीं है, बल्कि अपनी दृष्टि को भी जांचने परखने का दुर्लभ साहस उनमें हैं।"[52]इसी तरह उनकी आलोचना में पूरी गम्भीरता और जिम्मेदारी है अपना साहित्य या परम्परा उनके लिए महत्वपूर्ण सन्दर्भ

हैं।"[53] अशोक वाजपेयी की आलोचना के सरोकार भी यही है, और मैं तो कहता हूं कि सृजनात्मक आलोचना के वे प्रमुख स्तम्भ हैं।

अशोक वाजपेयी की आलोचना में हम देखते हैं कि उन्हें फैसला देने की जल्दी नहीं है बल्कि वे आलोचना में निर्णयों के स्थान पर रचना की समझ पर अधिक जोर देते देखे जा सकते हैं इसी गुण से अशोक वाजपेयी की आलोचना को हम कह सकते हैं कि वह फैसले पर कम पड़ताल पर अधिक विश्वास करती है। अशोक वाजपेयी की आलोचना पर साररूप में कहें तो "यह आलोचना की भाषा से उसकी जड़ता उदासीनता और ठण्डेपन से सातवें दशक से लगातार इस लेखक ने जो संघर्ष किया है उसमें स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी आलोचना के मुहावरे ने उनके यहां नयी गरमाहट, वैचारिकता, उत्कटता और संवेदनशीलता पाई है।"[54]

कुछ पूर्वग्रह में लेखक ने शमशेर बहादुर,रघुवीर सहाय, विनोद कुमार शुक्ल, धूमिल, मुक्तिबोध आदि समकालीन कविता में सक्रिय लोगों की रचनाओं की सूक्ष्म ब्यौरे बार पड़ताल की है। यहां आलोचक और आलोचना तथा कवि और कविता फिलहाल वाले संघर्ष से निकलकर बाहर खुले में दिखाई देता है। कविता हासिए और आंदोलनों के घेराव से छूटकर केन्द्रीय रूप में सामने आई है। तथा उसका उहापोह का वातावरण खत्म हुआ है। कविता पर कुछ पूर्वग्रह की आलोचना में नया विश्वास जागा है। यहां पीढ़ियों-रूढ़ियों के संघर्ष का टकराव समाप्त हुआ है, तथा कविता ने समाज और संस्कृति से एक नया रिश्ता कायम किया है। अशोक वाजपेयी को हम अस्सी के दशक की कविता का उद्धारक भी कह सकते हैं।

'कुछ पूर्वग्रह' की आलोचना भाषा पर यदि गौर किया जाय तो यह कविता की वापसी का बखान करते-करते कुछ हद तक स्वयं भी काव्यमयी हो गयी है इसमें भी कविता की भाषा का प्रभाव स्पष्ट नजर आता है, हालाकि अशोक जी की भाषा आरम्भ से रचना से संश्लेषित प्रभावों की भाषा है फिर भी यहां यह संश्लेषण फिलहाल से कुछ ज्यादा हुआ लगता है।

कुछ पूर्वग्रह की आलोचना पर कविता की चर्चा करते हुए लेखक ने कहा है कि यहां "कविता पर किसी एक मुहावरे, किसी एकनिष्ठ दृष्टि का आतंक नहीं है बल्कि उनकी समृद्ध और जटिल बहुलता है। कोई नहीं कह सकता कि हमारे समय को लिखने का प्रामाणिक एकाधिकार किसी एक चालू मुहावरे को प्राप्त है "[55] यहां कविता अपने इकहरेपन को तोड़कर बाहर आई है और हिन्दी साहित्य में पहलीबार युवतम पीढ़ी और वरिष्ठ कवि समकालीन हुए हैं। इसे अशोक जी ने "कवि समय में अकस्मात एक नयी तात्कालिकता "[56] की संज्ञा दी है। कुछ पूर्वग्रह के केनवास में लेखक कविता के प्रति उसके प्रत्येक हावभाव के प्रति अत्यन्त चौकन्ना और संवेदनशील है। उसकी निगाह पूरे काव्य दृश्य पर अपलक है, वह पश्चिमी आंदोलनों के बुखार से हिन्दी काव्य परिदृश्य को मुक्त करने की भी पहल करता है।

पूर्वग्रह शब्द को लेकर अशोक वाजपेयी की आलोचना में कुछ भ्रम की स्थिति महसूस होती है क्योंकि लेखक पूर्वग्रह शब्द को पूरी तरह अपनी आलोचना पद्धति में डिफाइन नहीं कर पाया है वह एक तरफ तो कहता है,पूर्वग्रह आलोचना में प्रवेश का माध्यम है दूसरी और वह कहता है कि "हर आलोचना के जैसे कि हर रचनाकार के भी पूर्वग्रह होते हैं, आलोचना समकालीन परिदृश्य में हस्तक्षेप हैं वह उदासीन, तटस्थ या पूर्वग्रहहीन नहीं सकती।"[57] किन्तु यहां वे यह बात स्पष्ट नहीं कर पाये हैं कि वह कैसी हो सकती है। इस तरह के अनेक प्रश्नों के उत्तर देने से लेखक बचकर निकल जाता है।

कुछ पूर्वग्रह में अशोक वाजपेयी की आलोचना में इधर समकालीन कविता में मुक्तिबोध, शमशेर, रघुवीर सहाय, जैसे वरिष्ठ लोगों की रचनाओं की गहरी छानबीन है तो आलोचना की जरूरत,अनिवार्य, अन्तर्विरोध, दूसरों के लिए शब्द आदि पर भी तर्क संगत विवेचना देखने को मिलती है। यहां समकालीन कलाओं से साहित्य का एक नया संबंध भी उन्होंने बनाने की कोशिश की है। संस्कृति के विरूद्ध साहित्य, सत्ता और संस्कृति जैसे लेखों में उनके आलोचनात्मक विवेक के नये तेवर और समझ देखने को मिलती है। समय के अन्तर्विरोधों के साथ शब्द स्मृति और कलाओं के पड़ोस की उपस्थिति यहां जीवंत और केन्द्रीय करने की कोशिश महत्वपूर्ण है।

निष्कर्षत: अशोक वाजपेयी की आलोचना में अपने समय की कविता की सूक्ष्म और गहरी विश्लेषण क्षमता तो है ही, वह भारतीय संस्कृति और कलाओं को इस बीसवीं सदी के उपभोक्तावादी समाज में साहित्य के द्वारा संवाद आरम्भ करके स्थापित करने का माध्यम बनने का जोखिम भी उठा रही है। किसी आलोचक को अब तक अशोक वाजपेयी की तुलना में कलाओं की समझ के लिए उदाहरण रूप में प्रस्तुत नहीं कर पाने का कारण क्या है ? वही संवादहीनता, जिसे अशोक वाजपेयी की कलम ने तोड़कर साहित्य में भी वह सब शामिल किया जिससे साहित्य की एक नयी शक्ति उभर सकती है। समाज, कविता और अन्य साहित्यिक विधाओं के अलावा भी कुछ महत्वपूर्ण साहित्य से पा सकता है, सहेज सकता है।

लेखक केवल भारतीय संस्कृति और कलाओं को ही आलोचना में शामिल नहीं कर रहा वह और भी महत्व के विषयों को यहां जरूरी स्थान देने की मांग करता है। उसने कहा भी है कि "हिन्दी आलोचना के लिए यह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि वह ज्यादातर निरे साहित्य पर अवलम्बित है, उसी से अपना जीवत्व पाती है विचार के लिए जो नए क्षेत्र हैं जैसे अर्थशास्त्र, समाज शास्त्र, मनोविज्ञान आदि उन सबका विकास हिन्दी में नगण्य है।"[58] किसी आलोचक के लिए या किसी समय की आलोचना के लिए अशोक वाजपेयी ने बताया कि केवल कविता या अन्य विधाएं ही महत्वपूर्ण नहीं हैं उसे समाज संस्कृति के जरूरी पक्षों के साथ स्वयं आलोचना पर भी सार्थक और गंभीर विचार करना चाहिए तभी आलोचना सार्थक होगी और उसका काम समाज और संस्कृति के विकास में कुछ सृजनात्मक पहल कर पायेगा। अत: अशोक वाजपेयी की समीक्षा योजना एक सतत् योजना रही है उनके सरोकार लगातार स्थिर रहे हैं। सहमति असहमति अपनी जगह है "उनकी समीक्षा योजना प्रोवोकेटिव रही है।"[59] यह उनके अन्य से संबंध स्थापित करने,उस पर कुछ लिखने का तरीका है जिसे अरविंद त्रिपाठी ने साक्षात्कार में छेड़छाड़पूर्ण की संज्ञा दी है। अशोक वाजपेयी की आलोचना की यह विशेषता है कि वह सीधी सपाट रचना में ही नहीं खो जाती वह आजू-बाजू कटाक्ष किए बिना नहीं रहती। इसी कारण वे सबसे विवादास्पद समीक्षकों में भी सबसे अधिक विवादास्पद समीक्षक माने जाते हैं। आलोचना हर कसौटी पर खरी उतरती है, उन्हीं के शब्दों में कहूं तो अशोक वाजपेयी की समूची आलोचना सही अर्थ में समकालीन परिदृश्य में हस्तक्षेप तो है ही साथ में आलोचना के परिदृश्य और रचना प्रक्रिया में भी एक कारगर और जरूरी हस्तक्षेप है। उनके यहां लोकतंत्र है, सत्ता है, समाज है, कविता है,और उसके पक्ष में खड़ी उनकी आलोचना है। कलाएं हैं, चित्र हैं, संगीत है, नृत्य हैं, स्वीकार हैं, विरोध है, लोग हैं, साहित्य हैं, संस्कृति है विचार हैं, विचारधारा नहीं,तर्क खण्डन है, स्थापना है यह अनेक बिन्दु अशोक वाजपेयी की सृजनात्मकता के, उनके विचार विमर्श और आलोचना के विकास के तत्व हैं।

अशोक वाजपेयी की आलोचना में सृजन की, विचार की, समझ की और कुल मिलाकर साहित्य की ताजगी है जो समकालीन साहित्य में आयी उदासीनता,उबाऊपन और बासीपन के खिलाफ विकसित हुयी है। वह उबाऊपन और उदासीनता हिन्दी के धंधई और अकादमिक साहित्य के कारण पैदा हुआ था जिसे अशोक वाजपेयी और उनके समकालीनों ने उसे तोड़ा और हिन्दी साहित्य को, आलोचना को नयी जमीन दी।

समय से बाहर -

'समय से बाहर' अशोक वाजपेयी के साहित्यिक सांस्कृतिक कर्म की अनूठी पुस्तक है जिसमें संगीत, चित्रकला, फिल्म साहित्य आदि पर उनके आत्मीय निबंध हैं। इस पुस्तक के मूल में जो चिंता है "वह यही है कि जो सांस्कृतिक समय है या जो कलाओं का, संगीत का, चित्र का, कविता का समय है उस समय को शायद अब गिना नहीं जाता गणना में नहीं लिया जाता। हम अजीब तरह से आर्थिक समय में, सामाजिक समय में, ऐतिहासिक समय में रहने लगे हैं जबकि कलाएं मनुष्य को सामाजिक और ऐतिहासिक समय से बाहर भी एक समय रचने की जगह देती हैं, सामाजिक और ऐतिहासिक समय के दबाव से कला और साहित्य की मुक्ति के प्रश्न उठाने वाली इस पुस्तक का नाम इसी अर्थ में समय से बाहर है।"[60] किसी और अर्थ में नहीं।

'समय के बाहर' भारतीय संगीत, साहित्य, चिंतन और कलाओं की नयी परिभाषा देती है और साथ ही कलाकार और साहित्यकार को सभी भयों से मुक्त होकर सचाई के पक्ष में खड़े होने को, उसका सामना करने को प्रेरित भी करती है।

निर्मल वर्मा ने पुस्तक के बल्र्ब पर लिखा है कि "हिन्दी की यह अपनी तरह की पहली और अभूतपूर्व पुस्तक है। हिन्दी में सम्भवत: भारतीय भाषाओं में, पहली बार एक साहित्यकार ने अपने समय की कलाओं से आलोचना और रचना दोनों स्तरों पर उलझने और उन्हें अपनी विशिष्टता में समझने की कोशिश की है।"[61] हमारा समय संस्कृतियों के टकराव का समय है, यह टकराव साहित्य में बहुत पहले देखने को मिल गया था, किन्तु अब समाज में भी प्रत्यक्ष नजर आने लगा है। ऐसे विपरीत समय में कला, संगीत, नाटक, नृत्य, सिनेमा और कविता आदि पर हिन्दी साहित्य में बहस का पुरजोर सूत्रपात करना अत्यन्त महत्वपूर्ण होने के साथ हिम्मत का काम भी है। विभिन्न कला माध्यमों पर समूचे हिन्दी साहित्य में निर्विवाद रूप से यह एकाकी पुस्तक है। इसके पहले हमारे देश की किसी भाषा साहित्य में इस तरह का कलाओं पर सूक्ष्म विश्लेषणात्मक अध्ययन नहीं मिलता हालाकि पश्चिम इस मामले में हमसे हमारे साहित्य से काफी आगे रहा है वहां लेखकों कवियों का दूसरे माध्यमों से संवाद का लम्बा सिलसिला हमें देखने को मिलता है। उदाहरण के तौर पर "मार्सेल प्रूस्त के अपने प्रिय चित्रकारों पर लिखे निबंध, रिल्के का मूर्तिकार रोंदा पर किया काम और चित्रकार रेजा पर लिखी गयी चिट्टियां, रोला बख्त की छायाकला पर किताब और सुसान सेन्टाग के ब्रेसा और गोदार पर लिखे गये निबंधों को इस संदर्भ में याद किया जा सकता है।"[62] हिन्दी में छुटपुट चेष्टाएं इसके पहले हुई हैं किन्तु इतने अधिक माध्यमों पर गंभीरता से संवाद का यह पहला अवसर है।

लेखक विभिन्न कलाओं पर हमारी हमारे समय के लोगों की साहित्य की सोच क्या है ? साहित्य और कलाओं की दूरी कितनी और क्यों है ? इस दूरी और अनबोलने को कैसे बहाल किया जाये ? ऐसे तमाम प्रश्नों को उठाता है। और विभिन्न कलाओं के बारे में हमें किस तरह सोचना चाहिए ? का मार्ग खोलता है।" इसीलिए इस पुस्तक का जोर सिर्फ क्या सोचा जाये पर ही नहीं है बल्कि किस तरह सोचा जाये पर भी है।"[63] लेखक अशोक वाजपेयी यहां किसी भी तरह अतिक्रमण नहीं कर रहे और न ही कोई चालू नुस्खा बांटने की भी कोई कोशिश ही करते हैं।

विख्यात साहित्यकार निर्मल वर्मा ने भी समय से बाहर के बारे में कहा है कि "पहली बार समकालीन कलाओं का समग्र परिदृश्य किसी सर्वेक्षण के माध्यम से नहीं कुछ बुनियादी सरोकारों और गहरी विचारशीलता से प्रगट होता है।"[64] अशोक वाजपेयी का यह सृजनात्मक जोखिम हमारे साहित्य का एक महत्वपूर्ण दस्तावेज ही नहीं एक जीवन्त और विचारपूर्ण मुद्दा भी है और हिस्सा भी। जिसके द्वारा हम केवल कला, समय, इतिहास, परम्परा, लोक कला, संगीत, नृत्य आदि पर बहस के लिए ही प्रेरित नहीं होते बल्कि इन कला क्षेत्रों से बहुत गहरे एकाकार भी होते हैं। इन विषयों पर हमारी समझ का दायरा विकसित और विचारशील भी होता है।

आखिर क्या कारण है कि लेखक ने समकालीन साहित्य के साथ समकालीन कलाओं को आलोचना के लिये चुना। समय के बाहर के मूल में लेखक के इस उद्देश्य को समझना जरूरी है, क्योंकि इसके बिना उपरोक्त प्रश्न का उत्तर पाना कठिन है।

समय से बाहर के मूल में अशोक वाजपेयी ने साहित्य की कलाओं के प्रति उदासीनता ही एक मात्र इस पुस्तक के सृजन का कारण नहीं है और भी कारण हैं जैसे "सामाजिक, ऐतिहासिक समय के बरक्स कलाएं क्या दूसरा समय रचती हैं ? रसिकता का जो अभिजात्य शास्त्रीय कलाओं को मिला है अन्य कलाओं को क्यों सुलभ नहीं ? हर कला का अर्थ किस तरह अलग है ? क्या आज की ललित कला इसलिए समझ में नहीं आती कि वह पढ़ने के बजाय देखने पर इसरार करती है ? इस अर्थ की नियति वागर्थ होना नहीं है ? रंगमंच कैसे अपना नहीं हमेशा दूसरों का माध्यम है ? कलाओं के अपने दूसरे क्या है ? कलाओं के परिवर्तन मूलत: या अंतत: सामाजिक परिवर्तन के संस्मरण या अनुषंग नहीं होते हैं ? कलाओं और साहित्य की आपसी बेखबरी के क्या नतीजे निकले हैं ? आधुनिकता ने कलाओं का

भारतीय परिस्थिति में वर्ण विभाजन किया है ? देह आवाज का अमूर्तन नृत्य या ध्रुपद में कैसे होता है ? समकालीनता और सनातनता के द्वंद का कलाओं में क्या आशय है ?"[65] आदि अनेक सवालों का समय से बाहर में अशोक वाजपेयी ने सीधे उत्तर दिये हैं। मैं तो कहता हूँ आधुनिक परिदृश्य में साहित्य और कलाओं से जुड़े सभी प्रश्नों का एक मात्र उत्तर 'समय से बाहर' की आलोचना है।

लेखक जिन प्रश्नों को उठाता है उन पर पूरी सूक्ष्मता से विचारपूर्ण सक्षम एवं प्रवाहपूर्ण भाषा में विश्लेषण भी वह करता है और बहस के लिए हमें अवसर देता है जबकि कोई "कवि या साहित्य का आलोचक कलाओं से उलझे ऐसी प्रथा हिन्दी में नहीं है अक्सर साहित्य ही उसकी हदबंदी है यहां इस कवि समय से आलोचनात्मक रूढ़ि से बाहर जाने का उद्यम है इसीलिए समय से बाहर है।"[66] "हमारा समय याने कम से कम बीसवीं शताब्दी मुख्य रूप से राजनैतिक, आर्थिक, समय है। इस शताब्दी में चारित्रिक मुहावरा चूंकि राजनैतिक है साहित्य और कलाओं के क्षेत्र में भी इन दिनों बात शक्ति, प्रभुत्त और सत्ता की पदावली में की जाती है।"[67] एक बात हिन्दी साहित्य के पीछे बहुत दूर तक देखी जा सकती है कि हमारे यहां अक्सर साहित्य को अधिक समकालीन होने या हो सकने की संज्ञा दी जाती है साथ ही साहित्य को विचारपूर्ण माना जाता है और कलाओं को यह स्थान नहीं दिया जाता है क्यों ?क्या कलाएं विचार के क्षेत्र में नहीं आती ? आती हैं किन्तु कलाओं को लेकर पूर्वाग्रह काफी गहरे हैं। "एक ओर गंभीर आलोचना बुद्धि ने लगातार कलाओं की उपेक्षा की है और उन्हें विचारणीय नहीं माना है तो दूसरी ओर कलाकारों ने भी साहित्य में कोई खास दिलचस्पी नहीं ली है। कुल मिलाकर यह कहना गलत न होगा कि साहित्य और कलाओं के बीच लगभग मुंहबोला तक नहीं है "[68] ऐसे माहौल में अशोक वाजपेयी का यह साहित्य और कला के बीच संवाद का मार्ग बनाना सचमुच उनके संघर्षमय साहित्यिक जीवन का प्रमाण है। आलोचना का अर्थ हमारे यहां सीधा साहित्य आलोचना से माना जाता है। आलोचना केवल साहित्य के विश्लेषण,परख के औजार के रूप में प्रचलित है,मान्य है। आलोचना की इस चहारदीवारी को तोड़कर अशोक वाजपेयी ने कहा है कि "अगर साहित्य की आलोचना में पहचान परख, पड़ताल, बखान, सरोकार,तनाव, रूझान जैसे आम फहम शब्द नयी अवधारणाओं और औजारों के वाहक बने हैं तो कोई कारण नहीं कि कलाओं के हलकों में प्रचलित ऐसे ही शब्दों को जैसे मुकाम, ठहराव,तबियत, तैयारी, चमक, लपक, निकासी आदि को बारीकी और परिष्कार के साथ इस्तेमाल कर एक ऐसी नयी भाषा विकसित करने में सफलता न मिले।"[69] लेखक केवल कलाओं की आलोचना के लिये औजार विकसित करने तक ही नहीं रह जाने की पहल करता है वह प्रत्येक कला की पृथक आलोचना भाषा विकसित करने की मांग भी कर रहा है।

समय से बाहर के केनवास में साहित्य और कलाओं के समय की सूक्ष्म और विचारपूर्ण व्याख्या अद्वितीय है यहां लेखक ने समय को मनुष्य की रचना कहा है और उसको लांघने की, उसके पार जाने की आकांक्षा भी मनुष्य की ही होती है। मनुष्य और समय के सम्बन्ध को पहली बार अशोक वाजपेयी ने साहित्य सृजन और कलाओं के आधार पर विश्लेषित किया है। यहां समय एक इकाई के रूप में नहीं बल्कि सृजन समय के रूप में हमें देखने को मिलता है।

लेखक या कलाकार से दो टूक फैसले की मांग करना उचित नहीं है क्योंकि साहित्य और कलाएं मनुष्य की स्थायी गौधूलि हैं जहां कुछ भी साफ-साफ नहीं दीख पड़ता जिसमें रहकर ही मनुष्य की उसके संसार और लोक की परम वैध्यता चरितार्थ होती है।"[70]

हमारे युग में साहित्यकार और कलाकार, संगीतकार की सोच क्या रही है उसके हस्तक्षेप किस हद तक रहे हैं, ऐतिहासिक तत्वों से खोज-खबर लेकर साहित्य के कुछ पूर्व बिन्दुओं का कलाओं के साथ संबंध रहने और आधुनिक समय में, समाज में इस संबंध के टूटने, समकालीनता के आतंक के हावी होने आदि को लेखक ने बड़ी विचारशीलता और गहराई से विवेचित करने का प्रयास किया है।

"साहित्य और रंगमंच से रूपंकर कलाओं और सिनेमा से स्थापत्य और वास्तुकला से हम यह उम्मीद करते हैं कि वह हमारे समय को, उनकी बुनियादी और तात्कालिक चिन्ताओं और जिज्ञासाओं को उनकी उलझनों और सम्भ्रमों को हमारे लिए विन्यस्त करेंगे पर हम संगीत से ऐसी अपेक्षा नहीं करते

हैं "[71] क्यों ? क्या इसलिए कि हम उसे इस अर्थ में एक सर्वथा निरपेक्ष कला मानते हैं जिसका काम हमें रस और आस्वाद के अवसर देना है,हमारे बुनियादी प्रश्नों से जूझने की कोई समझ या शक्ति देना नहीं?"[72] ऐसी बात नहीं है संगीत भी अपने समय के दबाव से अछूता नहीं रहता है संगीत में हमारे समय के प्रश्न वैसे प्रत्यक्ष हमें नजर नहीं आते जैसे अन्य कलाओं में। क्योंकि "संगीत का संसार हमारे लिए प्रमुखत: भावनाओं का संसार है, विचारों का नही।"[73]

"संगीत सुनने-गुनने का अर्थ, क्या सिर्फ रस लेना है ?अस्वाद लेना है और कुछ नहीं ?संगीत क्यों अन्य कलाओं, कला माध्यमों से भिन्न और अभी तक उसी शाश्वत्ता में जी रहा है ? उसमें बदलाव आया है तो कहां तक आया है ?और यदि नहीं आया है तो कैसे आ सकता है समय के साथ विचार तो बदलते हैं भावनायें नही"[74] क्या सिर्फ इसीलिए संगीत हमारे समय को सीधे अभिव्यक्त नहीं कर पाता है। यह सदी परिवर्तन की सदी है इसमें हमें जीवन के हर क्षेत्र में परिवर्तनों का बोलवाला नजर आता है, पर संगीत में इन परिवर्तनों का सिलसिला हमें नजर नहीं आता क्यों ? क्योंकि वह "परिवर्तनगामी होने के बजाय वह परम्परा जीवी अधिक है, उसका आग्रह जो रहा है, आया है, जो इतनी सदियों चलता आया है उसे बचाये रहने का अधिक और उसमें कुछ नया जोड़ने या उसे बदलने का कम रहा है। शायद इसीलिए कई बार दूसरी कलाओं के लिए संगीत एक विलोम, एक प्रतिकल्प बनकर ध्यानाकर्षण करता है "[75] किन्तु फिर भी संगीत में हमें "वह जो तेजी से बदल रहा है उसके बरक्स जो बहुत कम बदलता है "[76]दीखता है। संगीत के लिए "इतिहास एक अप्रासंगिक अवधारणा है। उसके लिए तो जो था वही है और वही होगा कुछ भी संगीत में बीतता नहीं है और इस अर्थ में वह इतिहास के बंधन, उसकी कारा से मुक्त है, उसकी परम्परा है पर इतिहास नहीं है।"[77] इसी अर्थ में वह समय में होते हुए भी समय से बाहर है। उसके आर-पार है। अनुपस्थित नहीं। इसी कारण वह अन्य कलाओं से कमतर करके नहीं आंका जा सकता। वह भी "कुछ इस भाव से कि जो समकालीन नहीं है वह सार्थक या मूल्यवान नहीं हो सकता।"[78] संगीत "समकालीनता और उसके आतंक को उनकी सही औकात जताता है उनके कद को छोटा नहीं करता पर शायद उन्हें उस कद को जरूरत से ज्यादा ऊंचे और प्रमुख होने की खुशफहमी से मुक्त होने के लिए प्रेरित और कभी-कभार हो सके तो विवश करता है।"[79]

समकालीनता से आक्रान्त कलाओं और शाश्वत कलाओं की अशोक वाजपेयी ने प्रमाणिक तुलना की है और दोनों को हमारे समय में मूल्यवान माना है। उन्होंने कहा है "समकालीनता से आक्रांत कलाएं अगर राजनीति से मिलती जुलती हैं इस अर्थ में तो संगीत धर्म और आध्यात्म से।"[80] इसीलिए संगीत को किसी भी "समाज या संस्कृति की सबसे अद्वितीय और विश्वसनीय पहचान इसीलिए कहा गया है कि उसकी शाश्वत अस्मिता का शायद सबसे स्थायी और सबसे कम परिवर्तनीय रूप है।"[81]

लेखक ने संगीत और अन्य कलाओं की विश्वसनीय और विश्लेषणपरक समीक्षा की है। हमारे समय की इन कलाओं के बारे में ध्येय को उनकी पहचान और आवश्यकता, उनकी चुनौती और स्थिति की सार्थक विवेचना की है जो हमारे पश्चिम की और भागते समाज के लिए बेहद महत्वपूर्ण है। लेखक साहित्य और अन्य कलाओं से आक्रांत समय में शाश्वतता को भी स्थापित करता है और उसे संस्कृति और राष्ट्र की अस्मिता के साथ जोड़ता हुआ भी देखा जा सकता है। किन्तु वह इस शाश्वतता के समय से बाहर होने को गहरे महसूस भी करता है और अपेक्षा भी करता है कि वह हमारे समय में अन्य कलाओं की तरह शामिल हो जीवन्त हो और हम उसे सुनने के साथ गुन भी सके।

समय से बाहर के केनवास में लेखक ने संगीत के प्रति साहित्य के रूख और दोनों की समसामायिक सन्दर्भ में सूक्ष्म व्याख्या की है तथा उसे भारतीय समाज और संस्कृति के साथ नये रूप में जोड़ा है। कुमार गंधर्व और मल्लिकार्जुन मंसूर पर लिखी अशोक जी की कविताएं अद्वितीय हैं। इन कविताओं से यह स्पष्ट होता है कि लेखक अपने समय के साहित्य के साथ समकालीन कलानायकों के प्रति भी पूरा चौकन्ना है यहां यदि समकालीन संगीत की केन्द्रीय उपस्थिति है तो हमारे समय में नृत्य की क्या स्थिति है ? इस पर भी उन्होंने गहन विचार किया है।

यहां कुमार गंधर्व की गगन भेदी लय है तो नृत्य देह का देशकाल भी है। दूसरों की उपस्थिति में

रंगमंच की क्या स्थिति है लेखक ने गहन विवेचना की है। यहां हुसैन के चित्रों के रंग हैं तो इन सब के साथ भावनाओं,विचारों और साहित्य में मील का पत्थर बनी अशोक वाजपेयी की विभिन्न कलाकारों पर लिखी कविताएं भी हैं जो अशोक वाजपेयी की साहित्यिक चेतना और सर्जना का महत्वपूर्ण हिस्सा है।

संगीत और रूपंकर कलाओं के अलावा समय से बाहर में कविता के सत्य की भी लेखक ने मौलिक विवेचना की है जिसकी तुलना हम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंध कविता क्या है से कर सकते हैं। किन्तु यहां भी लेखक इस पुस्तक के शीर्षक समय से बाहर से यहां भी कविता के गल्प में आक्रांत है पर उसने कविता के आंतरिक पक्षों और तनावों तथा सत्यों को विश्लेषित किया है। कविता के समय के अलावा और भी समय है पहले भी था और बाद में भी होगा। "हम कविता के पास सत्य पाने या खोजने नहीं जाते बल्कि सच्चाई का अहसास पाने उसमें शामिल हाने जाते हैं। कविता सत्य कथन या संशोधन नहीं करती वह सच्चाई से अपने गल्प गढ़ती है।"[82] अशोक वाजपेयी की आलोचना यहां फिलहाल और कुछ पूर्वग्रह वाले व्यक्तित्व से अलग है। यहां लेखक ने एक तरफ अनेक नये विषयों को सम सामयिक संदर्भ और पहचान के लिए बहस का मुद्दा बनाया है तो कविता का गल्प 'जैसे लेखों में वह अपनी ही अगली पिछली बातों को पांडित्यपूर्ण शैली में व्यक्त करता दिखाई देता है। वह कुछ साफ -साफ कह नहीं पाता इसलिए शब्दों का कुछ मायाजाल सा बुनने लगता है फिर भी विषय और विचारों की नवीनता तथा विश्लेषणपरकता के कारण कविता के अनेक अर्न्तपक्षों को हमें यहां पहली बार समझने के अवसर मिलते हैं।

निष्कर्षत: समय से बाहर केवल साहित्य और कलाओं के संवाद की ही पुस्तक नहीं है यह हमारी संस्कृति के केन्द्रीय तत्वों से संबंध की पुर्नस्थापना भी है। इसमें हमारी ठेठ आदिवासी कलाओं को विचार का विषय बनाया गया है तो रंगमंच, संगीत और श्रोता के साथ-साथ पश्चिम के साहित्य में वहां की कलाओं के निरंतर सक्रिय संबंध को भी व्यक्त किया गया है। लेखक का उद्देश्य यहां केवल साहित्य और कलाओं के बीच मुंह बोला स्थापित करना ही नहीं है बल्कि लेखक का लक्ष्य इसके साथ यह भी है कि साहित्य की तरह अन्य कलाएं भी अपनी अभिव्यक्ति में कम शक्तिशाली नहीं है। इसलिए समाज में बढ़ रहे टकराव और चुनौतियों का सामना करने के लिए साहित्य ही आज काफी नहीं रहा है और कलाओं की भी अपनी अभिव्यक्ति में साहित्य से कम प्रभाव और शक्ति निहित नहीं है। इसलिए कलाओं की उपयोगिता और शक्ति को साहित्य के ही समान पैना और प्रखर बनाने तथा कलाओं को आमजन और सामाजिक निर्माण में प्रमुखता से हिस्सेदारी करने का भी उद्देश्य रहा है। यह चिन्ता हमें लेखक में स्थान-स्थान पर देखने को मिलती है ,वह साहित्य को कलाओं की आवाज बनाना चाहता हैं क्यों ? क्योंकि साहित्य के पास शब्द का लिखित रूप है हालाकि चित्रकला शब्द से भी प्रखर माध्यम है, किन्तु यह युग शब्द का है इसलिए लेखक ने साहित्य के साथ कलाओं की आलोचना का रास्ता अपनाया और सबसे पहले साहित्य और कलाओं के मध्य संवाद को बहाल करने की पहल की।

यहां लेखक की कलाओं के प्रति रूचि अकारण नहीं है बल्कि साहित्य के साथ-साथ संगीत, चित्रकला, गायन, नृत्य, अभिनय आदि का उसका गहरा लगाव अध्ययन और समझ उनके यहां मौजूद है जिसे उन्होंने भाषा में सहज रूप में विवेचित किया है।

समय से बाहर अशोक वाजपेयी की साहित्यिक यात्रा का एक अनूठा पड़ाव है जहां संगीत, चित्र, नृत्य, रंगमंच और रूपंकर कलाएं,गद्य और पद्य दोनों रूपों में लेखक की अभिव्यक्ति का माध्यम बनी हैं। यहां लेखक जितना साहित्य और अन्य कलाओं के संबंध को स्थापित परिभाषित कर रहा है वहीं इन कलाओं की बारीक समझ भी यहां विन्यस्त है। हिन्दी साहित्य में यह इतनी विविधताओं से भरी पहली पुस्तक है जिसमें समकालीन साहित्य और कलाओं की विचारपूर्ण व्याख्या अध्ययन और विश्लेषण किया है।

सम्पादित साहित्य -

अशोक वाजपेयी कवि और आलोचक के अलावा स्वतंत्र भारत के हिन्दी जगत में एक जाने-माने प्रख्यात सम्पादक भी हैं जो उनकी साहित्यिक हस्तक्षेप की पहचान का एक सक्षम कारण भी है। उन्होंने

सबसे पहले सागर म.प्र. से सन्1957 में 'समवेत' के सम्पादन से अपनी सम्पादन यात्रा का आरम्भ किया था,उसके बाद 1970 से 74 तक उन्होंने समकालीन कविता के मंच के रूप में सीधी, सरगुजा, भोपाल म.प्र. से 'पहचान सीरीज' का सम्पादन किया। पहचान सीरीज के सम्पादक के रूप में वे आज भी खूब याद किये जाते हैं। पहचान सीरीज ने उन अनेकों कवियों को पहला मंच दिया जो बाद में हिन्दी कविता जगत में स्थापित हुए, इनमें कुमार विकल, विनोदकुमार शुक्ल, चन्द्रकांत देवताले, विष्णु खरे आदि के नाम शामिल हैं। साठोत्तर हिन्दी कविता में पहचान सीरीज का महत्व हमेशा याद किया जायेगा।

संभवत: स्वतंत्र भारत के विगत 50 वर्षों के इतिहास में हिन्दी साहित्य की सम्पादन परम्परा में अशोक वाजपेयी एक बड़े नाम के रूप में स्थापित हुये हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य में अशोक वाजपेयी अकेले व्यक्ति हैं जिन्होंने अनेकों कवियों,लेखकों को उपयुक्त जगह देकर कुछ मुट्ठी भर लोगों के हिन्दी साहित्य पर स्थापित साम्राज्य या तानाशाही को चुनौती दी। ऐसी प्रतिभा कम ही लोगों में देखने को मिलती है, पिछले चालीस वर्षों से हिन्दी साहित्य में उनकी उपस्थिति चर्चा का विषय बनी हुई है। पूर्वग्रह पत्रिका के द्वारा अशोक वाजपेयी ने हिन्दी आलोचना को नयी दिशा ही नहीं दी, उसके सोच के दायरों में भी बहुत कुछ नया जोड़ा भी है। पूर्वग्रह पत्रिका के द्वारा उन्होंने हिन्दी साहित्य ही नहीं भारतीय संस्कृति और कलाओं के संरक्षण और विकास की पहल भी की है। लोगों ने पूर्वग्रह को सत्ता की पत्रिका कहा उस पर तरह-तरह के आरोप लगाये किन्तु मेरी समझ में नहीं आता कि ऐसे लोगों को एक साहित्यकार और एक साहित्यिक पत्रिका से क्या चाहिए। अपने समय के सभी विशिष्ट रचनाकारों की रचनाओं और अन्य साहित्य से जुड़े क्षेत्रों की जिस तरह लगातार पूर्वग्रह ने पड़ताल की है उससे हिन्दी साहित्य जगत में कई रचनाकारों को उनकी सही जगह मिल पायी है, फिर भी आरोपों-प्रत्यारोपों का सिलसिला चलता रहता है यह हमारे यहां एक बहुत बड़ी कमी है कि हम किसी के कार्य की सराहना और सहयोग तो कर नहीं पाते इसलिए अपने बचाव का सस्ता रास्ता ढूँढकर उसके किये धरे को मटियामेट करने का काम करने लगते हैं। पूर्वग्रह के 1 से 103 अंकों तक चली आ रही उसकी सार्थक उपस्थिति इस सब के बावजूद आज भी थमी नहीं है। इधर पिछले वर्षों में अनियतकालीन साहित्यिक पत्रिका समास का भी नाम तेजी से उभरा है। समास में अपने समय के साहित्यिक सामाजिक दबाव के साथ-साथ समकालीन रचना आलोचना और संगीत, चित्रकला आदि पर भी एक सार्थक बहस देखने को मिलती है। अशोक वाजपेयी की सम्पादन परम्परा केवल पत्रिकाओं तक ही सीमित नहीं है उसमें हिन्दी साहित्य के महत्वपूर्ण लेखकों कवियों के रचना संसार पर एकाग्र ग्रंथ भी शामिल हैं। वे अपने आलोचना की समकालीन चारदीवारी से अब लगभग बाहर आ चुके हैं। अब उनकी सम्पादन परम्परा से यह बात स्पष्ट हो चली है। स्वतंत्र भारत के इतिहास में भारत भवन जैसे कला केन्द्र की स्थापना अशोक वाजपेयी की ही देन है जो एशिया का सबसे बड़ा कला केन्द्र है।

अशोक वाजपेयी के महत्वपूर्ण सम्पादन ग्रंथों में कुमार गंधर्व (निबंधों और साक्षात्कारों का संग्रह) (1982) तीसरा साक्ष्य सृजनात्मक समीक्षाओं का संचयन 1979) साहित्य विनोद (लेखकों से साक्षात्कार 1984) कला विनोद (कलाकारों से साक्षात्कार 1986) पुनर्वसु (संसार भर की कविताओं के एक संचयन का हिन्दी अनुवाद) निर्मल वर्मा (विभिन्न समीक्षकों द्वारा लिखे निबंधों का संग्रह 1990) (कविता का जनपद कविता और कवियों पर विविध विद्वानों के निबंधों का एक संचयन 1993)

इस समृद्ध सम्पादन ग्रंथों की परम्परा के अलावा उन्होंने दो बंगला कवियों शंख घोष और शक्ति चट्टोपाध्याय की कविताओं के संयुक्त संग्रह का हिन्दी अनुवाद, तथा मराठी कवि दिलीप चित्रे की कविताओं के एक संग्रह का भी हिन्दी में अनुवाद तथा मलयालम कवि के.सच्चिदानंद की कविताओं के एक चयन का भी हिन्दी अनुवाद कर सम्पादन किया है। यह विविध भाषा साहित्य और रचनाशीलता से भरी अशोक वाजपेयी की सम्पादन परम्परा हिन्दी साहित्य की स्वातंत्र्योत्तर पीढ़ी की गौरवमयी धरोहर है। जिसे साहित्य में श्रेष्ठतम हस्तक्षेप कहने में मुझे संकोच नहीं है।

अत: अशोक वाजपेयी आधुनिक हिन्दी साहित्य ही नहीं भारतीय भाषाओं के साहित्य के भी हिन्दी में एक बड़े सम्पादक हैं। उनका समृद्ध साहित्यिक हस्तक्षेप इस बात का प्रमाण है। निष्कर्षत: अशोक

वाजपेयी का हिन्दी कविता, आलोचना और सम्पादन में गहरा और सार्थक हस्तक्षेप देखने को मिलता है। काव्य में उनके यहां यदि जीवन की इसी विद्रूपता में स्मृतियों और वस्तुओं की संवेदनाओं को स्पर्श किया गया है। तो काव्य से लगभग पूरी तरह बहिष्कृत हो चुकी प्रकृति की छवियों और श्रृंगार तथा प्रेम को उन्होंने साठोत्तर हिन्दी कविता में पुनः स्थापित किया है। अशोक वाजपेयी देह और गेह के नहीं जीवन के जीवित पक्षों को हिन्दी कविता में स्थापित करने के कवि हैं साठोत्तर हिन्दी कविता में मोहभंग से उपजी परिस्थितियों के कारण जो आक्रोश फूटा था उसने हिन्दी कविता में प्रकृति, श्रृंगार और प्रेम को लगभग पूरी तरह दृश्य से धकेल दिया था। इसी समय अशोक वाजपेयी के काव्य में केवल प्रकृति या प्रेम और श्रृंगार ही केन्द्रीय नहीं है, उनके काव्य में समकालीन कला, संगीत, नृत्य, चित्रकला आदि की भी जीवन्त छवियां हिन्दी कविता में पहली बार काव्य विषय बनी हैं। अशोक वाजपेयी के काव्य जगत में परिवार की सूक्ष्म स्मृतियां है जो उन्हें मां, पिता, बहिन, बेटी, बहू पर कविता लिखने को बाध्य करती है। उनके यहां कविता में दार्शनिकता के साथ जीवन की नश्वरता के विरूद्ध एक महत्वपूर्ण संघर्ष भी गहरा है तो बकौली कठचंदन के पेड़ों से लहलहाता अपना सागर का किराये का घर भी है और जीवन्त प्रकट होता बचपन है। मुहल्ले के लोग हैं घर के लोग हैं या कहूं कि वस्तुओं की स्मृतियों को पकड़ती कविता है उनके साथ जीती कविता है। भाषा का काव्य में उन्होंने अद्भुत प्रयोग दिया है, वे अपने काव्य में भाषा को याद करते हुए तो दीखते ही हैं साथ ही उन्होंने समकालीन कविता के चालू शब्दों के विरूद्ध तत्सम शब्दों का कोमलतम समझनीय प्रयोग किया है। तत्सम की वापसी का सहज उपक्रम अशोक वाजपेयी की काव्य भाषा को अन्यों से अलग करता है। उनका काव्य जीवन के इसी परिवेश में प्रेम के लिए थोड़ी सी जगह बनाता हुआ काव्य है। प्राचीन भाषा और प्राचीन कवियों की अनुगूंज यहां स्पष्ट सुनी जा सकती है। अपने समकालीनों कुमार विकल, श्रीकांत वर्मा, विष्णु खरे प्रयाग शुक्ल आदि से अशोक वाजपेयी भाषा और काव्य स्तर पर थोड़े से भिन्न है।

आलोचना की बात करते ही अशोक वाजपेयी के नाम से साथ समकालीन शब्द पहले आ टपकता हैं क्योंकि अशोक वाजपेयी की आलोचना का श्री गणेश समकालीन आलोचना के रूप में फिलहाल से हुआ था। फिलहाल में मोहभंग के वातावरण से उपजे कविता आंदोलनों का विश्लेषण और सही कविता की पहचान की परख यहां मौजूद है। तमाम आक्रोश, विरोध की कविता में से अशोक वाजपेयी ने समकालीन कविता के सार्थक पहलुओं का विश्लेषण किया। यहां लेखक में तर्क संगत खण्डन-मण्डन की आधारभूत उपस्थिति है तथा कविता की भाषा,अभिव्यक्ति और उसकी सार्थकता का गहन विश्लेषण है। अशोक वाजपेयी की आलोचना में मुझे आई. ए. रिचर्डस के सिद्धांतों का प्रभाव नजर आता है। फिलहाल की आलोचना भाषा स्पष्टतः रचना से संश्लेषित प्रभावों की भाषा है जिसमें तर्क संगत खण्डन-मण्डन है तो कुछ स्थापित करने के प्रयत्न भी हैं। यहां आलोचना समकालीन रचना से समकालीन मनुष्य की हालत की पड़ताल हैं जिसे लेखक ने स्पष्टतः अपनी पुस्तक के आरम्भ में ही कहा है। फिलहाल में समकालीनता के आतंक के साथ-साथ साहित्य के अनेक जरूरी पक्षों पर भी गहनतम विचारपूर्ण विवेचन लेखक के दूरदर्शी और साहित्यिक समझ तथा अध्ययन को दर्शाता है। अपने समकालीनों जैसे मलयज, विष्णु खरे, रमेशचन्द्र शाह, विजय देव नारायण साही, कुमार विकल आदि समीक्षकों में अशोक वाजपेयी फिलहाल के केनवास में गहन पड़ताल, सूक्ष्म अध्ययन, तर्कपूर्ण पक्ष-विपक्ष की सार्थक उपस्थिति, भाषा में स्पष्ट दो टूकपन के कारण सबसे महत्वपूर्ण आलोचक हैं। वे मार्क्सवादी नहीं हैं पर कहीं-कहीं रचना की पड़ताल के लिए मार्क्सवाद का भी उपयोग करने से नहीं हिचकते इसीलिए उन्हें नामवर सिंह के बाद की पीढ़ी में सबसे सक्षम आलोचक की संज्ञा दी गई है।

फिलहाल के पश्चात् अशोक वाजपेयी की दो पुस्तकें और उनके समीक्षा जगत के विकास को दर्शाती हैं। एक तो 'कुछ पूर्वग्रह' जो अशोक वाजपेयी की आलोचना का दूसरा सोपान है और कविता की वापसी का विनम्र एलान भी। यहां अशोक वाजपेयी की आलोचना धार पहले से थोड़ी भोथरी हुई है साथ ही कविता में भी हल्का सा ठण्डापन आया हैं,कुछ-कुछ नयी कविता के जैसी स्थिति यहां बनी है फिर भी वैसी नहीं। भाषा और खण्डन-मण्डन तो यहां भी है पर वैसा नही जैसा फिलहाल में था। साथ ही यहां

आलोचना में कुछ नये क्षेत्र भी शामिल किये गये हैं। यहां कविता के अलावा समकालीन कलाकारों को भी संगीत, चित्रकला आदि पर विचार के लिये उठाया गया है। यह अशोक वाजपेयी की आलोचना का नया द्वार भारतीय कलाओं की समीक्षा की तरफ खोला गया है जिस पर अनेक लोगों ने बड़ी आपत्ति दर्ज कराई है। कहने वालों ने तो उन्हें कहा है कि अशोक वाजपेयी ने जिस कलावाद का विरोध करके ही आलोचना में पांव जमाये थे उसी कलावाद के वे एक ही झटके में अज्ञेय के अवसान के बाद समर्थक हो गये किन्तु मैं उन लोगों को बताना चाहता हूं कि अशोक वाजपेयी का वह विरोध तब जायज था और उन्होंने कलाओं का विरोध कभी नहीं किया, वे आरम्भ से अपनी आलोचना में भारतीय संस्कृति प्राचीन भाषा, शब्दों आदि के प्रबल समर्थक के रूप में उभरे थे। समकालीन कविता की समीक्षा से आलोचना यात्रा आरम्भ करने वाले अशोक वाजपेयी को पहले समकालीनता में कैद भी लोगों ने कहा किन्तु बाद में उन्होंने समकालीनता के विश्लेषण को खुद ही तोड़ने की बात कहीं। और कहा कि थोड़े से समय में ही कोई समकालीन और प्राचीन साहित्य की समीक्षा नहीं लिख सकता उसके लिए दोनों क्षेत्रों में हस्तक्षेप करने में समय तो लगता ही है, फिर भी अशोक वाजपेयी की आलोचना में आरम्भ से भी भारतीय संस्कृति और साहित्य की परम्परा का बोध होता है।

समय से बाहर में अशोक वाजपेयी ने भारतीय कलाओं और उनकी समकालीन स्थिति को मद्देनजर रखते हुए अपने समय की कलाओं से आलोचना और रचना दोनों स्तरों पर उलझने और उन्हें अपनी विशिष्टता में समझाने की कोशिश की है। अत: अशोक वाजपेयी तमाम विवादों के बावजूद स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता आलोचना और भारतीय कला, सिनेमा, संगीत, नृत्य, चित्रकला, गायन, वादन आदि के एक सक्षम आलोचक चिंतक और रचनाकार हैं। उनके द्वारा रचा साहित्य उनकी इस विविधतापूर्ण साहित्यिक पहचान का प्रमाण है।

अशोक वाजपेयी एक कवि आलोचक होने के अलावा एक बड़े सम्पादक भी है। जिन्होंने लगातार हिन्दी साहित्य में अपने सम्पादन के द्वारा एक गहरी पहचान स्थापित की है। उनकी सम्पादन परम्परा में अनेक महत्वपूर्ण पत्रिकायें हैं तो लेखकों, कलाकारों कवियों पर एकाग्र सम्पादित प्रकाशित महत्वपूर्ण ग्रंथ भी है, जिन्होंने हिन्दी साहित्य को अपने समकालीन महत्वपूर्ण लोगों के रचना कर्म पर अपने समय के प्रमुख समीक्षकों, लेखकों के विचारों को एकत्र कर प्रकाशित किया है।कुमार गंधर्व, मराठी कवि दिलीप चित्रे, मलयालम कवि के. सच्चिदानंद, निर्मल वर्मा, बंगला कवि शंख घोष और शक्ति चट्टोपाध्याय जैसे लोगों का रचना कर्म अशोक वाजपेयी की सम्पादन परम्परा का समृद्ध हिस्सा है। इसके अलावा समकालीन सृजनात्मक समीक्षा का संचयन करते हुए उन्होंने तीसरा साक्ष्य ग्रंथ का संपादन भी किया है जिसमें समकालीन हिन्दी आलोचना के सभी केन्द्रीय लेखकों के लेख समाहित हैं साहित्य विनोद, कला विनोद जैसे दो साक्षात्कार ग्रंथ भी उनके अनूठे सम्पादन कार्य की धरोहर है जिनमें उन सभी महत्वपूर्ण लेखकों, कलाकारों के विचार शामिल हैं, जिनमें से अनेक आज हमारे बीच नहीं है। अत: अशोक वाजपेयी हिन्दी कविता, आलोचना, कला आलोचना, सम्पादन और अनुवाद के द्वारा पिछले आधी सदी से सक्रिय एक ऐसे व्यक्तित्व हैं जिन्होंने अपनी प्रशासनिक जिम्मेदारियों को निभाते हुए हिन्दी जगत के लिए इतना कुछ किया है कि कोरे आरोपों की दम पर उन्हें खारिज नहीं किया जा सकता।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची -

१. विष्णु खरे/आलोचना की पहली किताब/पृ. ११/नेशनल पब्लि.हाउस दिल्ली
२. वही
३. वही
४. सं.प्रभात त्रिपाठी/साक्षात्कार ९५ जनवरी - मार्च/१९०
५. वही
६. वही
७. वही
८. वही
९. कल्पना/२१० वां अंक/१३४ पृ.
१०. प्रभात त्रिपाठी/साक्षात्कार ९५ जनवरी-मार्च/पृ. १०९
११. वही
१२. वही/पृ.११०
१३. वही/पृ.१११
१४. साक्षात्कार सितम्बर ९६/पृ.५६
१५. साक्षात्कार ९५ जनवरी-मार्च/पृ.१११
१६. साक्षात्कार ९६ सितम्बर/पृ.५६
१७. संवाद और एकालाप/मलयज/पृ.४०/राजकमल प्रकाशन
१८. अशोक वाजपेयी/फिलहाल/दृश्यालेख/राजकमल प्रकाशन
१९. प्रभात त्रिपाठी/साक्षात्कार ९५ जनवरी- मार्च/पृ.१५२
२०. वही
२१. मदन सोनी/विषयांतर/पृ.१७१
२२. वही/पृ.१७२
२३. वही/पृ.१७२
२४. अशोक वाजपेयी/फिलहाल/पृ.११
२५. वही
२६. वही
२७. वही/पृ.२४
२८. वही/पृ.२६
२९. वही/पृ.२०
३०. वही/पृ.२१
३१. वही/पृ.५०
३२. अशोक वाजपेयी/फिलहाल/पृ.४८
३३. वही/पृ.४८
३४. वही
३५. वही/पृ.५५
३६. सं.प्रभात त्रिपाठी/साक्षात्कार जनवरी- मार्च९५/१४८
३७. वही/पृ.१४८
३८. अशोक वाजपेयी / फिलहाल/पृ.१३
३९. मदनसोनी/विषयांतर/पृ.१६४
४०. वही

४१. वही/पृ.१६४
४२. वही/पृ.१६७
४३. वही/पृ.१७२
४४. मदन सोनी/विषयांतर/१७७
४५. वही/पृ.१७४
४६. वही
४७. अशोक वाजपेयी/कुछ पूर्वग्रह/पृ.१४७.१४८
४९. वही/पृ.१
५०. वही/पृ.६३
५१. वही/पृ.५७
५२. संपादक अशोक वाजपेयी/तीसरा साक्ष्य/पृ.११
५३. वही
५४. वही
५५. अशोक वाजपेयी/कुछ पूर्वग्रह/पृ.१२
५६. वही
५७. वही/भूमिका
५८. वही/पृ.१५८
५९. प्रभात त्रिपाठी/साक्षात्कार जनवरी- मार्च/९५/पृ.१४२
६०. साक्षात्कार जनवरी ९६/ पृ.१११
६१. अशोक वाजपेयी/समय से बाहर/बल्र्ब पर निर्मल वर्मा
६२. साक्षात्कार जनवरी ९६/पृ.१११
६३. वही/पृ.११३
६४. अशोक वाजपेयी/समय से बाहर/बल्र्ब पर निर्मल वर्मा
६५. साक्षात्कार ९६ जनवरी/पृ.११४
६६. अशोक वाजपेयी/समय से बाहर/भूमिका
६७. वही/पृ.९
६८. वही/पृ.११
६९. वही/पृ. १२
७०. वही/पृ.१८
७१. वही/पृ.३०
७२. वही
७३. वही
७४. वही
७५. वही
७६. वही
७७. वही/पृ.३१
७८. वही
७९. वही
८०. वही
८१. वही/पृ.३१-३२
८२. वही/पृ.१८०

उपसंहार

स्वतंत्र भारत में अशोक वाजपेयी का नाम हिन्दी साहित्य के विविध परिदृश्य में एक सक्रिय हस्तक्षेप के रूप में देखा जा सकता है। सन् साठ के दशक से आरम्भ हुई उनकी साहित्यिक यात्रा में कविता, आालोचना और कलाओं के साथ संस्कृति भी शामिल रही है। कविता और आलोचना के मौलिक ग्रंथों के अलावा उनकी वृहत संपादन परम्परा ने समूचे हिन्दी जगत में अपनी उपस्थिति की सार्थकता सिद्ध की है और हिन्दी साहित्य को अपने सृजन कर्म से नयी दिशा दी है।

अशोक वाजपेयी की रचना यात्रा उन्हीं के अनुसार 1950 में पहले गणतंत्र दिवस पर चार पंक्तियों की तुकबंदी से अंकुरित होकर आरम्भ हुई थी। उनका पहला छोटा गद्य काव्य ग्वालियर से प्रकाशित हरिहरदास द्विवेदी की पत्रिका 'भारती' में छपा। तत्पश्चात् उनकी पहली कविता द्वारिका प्रसाद मिश्र की पत्रिका 'सारथी' में छपी। इस पत्रिका में उन दिनों मुक्तिबोध, श्रीकांत वर्मा जैसे लोगों की रचनाएं छपा करती थीं। मुक्त छंद में लिखी अशोक वाजपेयी की पहली कविता हरिशंकर परसाई की वसुधा से प्रकाशित हुई। फिर तो अशोक वाजपेयी की कविताओं के प्रकाशन का सिलसिला जैसे टूटा ही नहीं। 1957 में तो वे देश की श्रेष्ठ पत्रिकाओं में प्रकाशित अपनी कविताओं के कारण साहित्यकारों के बीच चर्चा का विषय ही बनने लगे। इस समय तक अशोक वाजपेयी की कविताएं कल्पना, ज्ञानोदय, सुप्रभात, राष्ट्रवाणी और युग चेतना आदि प्रसिद्ध पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी थी। 1956-57 के आस-पास हिन्दी में नये साहित्य का संघर्ष अपने शिखर पर था इसी समय अशोक वाजपेयी ने सागर म.प्र. से 'समवेत' का संपादन प्रकाशन आरम्भ किया। यहीं से उनकी समीक्षा की शुरूआत हुई। और यह क्रम आज भी 'समास' और 'पूर्वग्रह' (103) बहुवचन हिन्दी के संपादन द्वारा जारी है।

अशोक वाजपेयी पहली बार सबसे ज्यादा चर्चा में तब आये जब उन्होने समकालीन कविता के हस्ताक्षरों की रचनाएं अम्बिकापुर के जिलाधीश रहते हुए 1970 से 74 तक 'पहचान सीरीज' के माध्यम से कविता की संभावनाओं से जुड़े हुए लोगों की राष्ट्रीय स्तर पर पहचान बनाई। यह कविता संकलन अपनी सामयिक रचनाशीलता की छाप छोड़ते हुए उन लोगों को देश के समक्ष लाया जो उस समय मंच पर नहीं थे और संपादक के नाते श्री अशोक वाजपेयी इस श्रेय के हकदार हैं कि पहचान सीरीज ने अपरिचय के अंधकार से जिन लोगों को रचना और समीक्षा के आलोक में लाकर प्रतिष्ठत किया उनमें अनेक आज राष्ट्रीय ख्याति के कवि हैं। ऐसे लोगों में कुछ नाम मुझे स्मरण हैं -विष्णु खरे, जितेन्द्र कुमार,ज्ञानेन्द्रपति के पहले कविता संग्रह, शमशेर बहादुर सिंह की षष्टिपूर्ति पर उनकी नयी कविताएं और उनके काव्य पर रमेश चन्द्र शाह का लेख तथा सीधी (म.प्र.)में आयोजित लेखक शिविर में पढ़े गये श्रीराम वर्मा, निर्मल वर्मा और मलयज के निबंध 'पहचान सीरीज'के पहले ही अंक में प्रकाशित हुए थे।

इस प्रकार अशोक वाजपेयी की रचना यात्रा का आरम्भ तो छटे दशक के शुरू में ही हो गया था, किन्तु रचना मे परिपक्वता और भाव संप्रेषण छठे दशक के अंत में ही आकार ग्रहण करता है। स्वयं लेखक ने भी इस बात की ओर इशारा किया है। उसने रघुवीर सहाय के संपादन काल में कल्पना में छपी तीन कविताओं (1958) को अपनी फुटकर कविताओं में श्रेष्ठ माना है। यह वह समय था जब साहित्य और समाज में स्वतंत्रता के लिये किये गये संघर्ष का पसीना भी नहीं सूखा था कि आजादी के संघर्ष में संजोए गये सपने धूल-धूसरित होने लगे थे। चीन युद्ध से नेहरू युग के विकास वैभव और समाजवाद आदि शब्दों के अर्थ छिन्न-भिन्न हो गये,परिणामस्वरूप हिन्दी कविता में एक बड़े बदलाव की जो चिनगारी सुलग रही थी मोहभंग के कारण पूरी तरह फट पड़ी। साठोत्तरी हिन्दी कविता मोहभंग, निराशा, अविश्वास और आक्रोश के धरातल पर खड़ी दिखाई देती है। किन्तु अशोक वाजपेयी ने तो पहचान सीरीज के आरम्भ में ही यह घोषणा की थी कि वे कविता में बड़बोलेपन और छद्म विद्रोह के खिलाफ हैं, राजनीति से उनका सरोकार है पर संगठित राजनैतिक दलों से नहीं।

साहित्य के मूल्य और मान्यताएं मानव मूल्यों की तरह शाश्वत हैं किन्तु इनका आवरण समय के साथ परिवर्तित होता रहता है। छायावाद के उपरांत प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के बाद 1954 में जगदीश गुप्त द्वारा सम्पादित नयी कविता से नयी कविता एक पुख्ता आंदोलन ग्रहण करती है। नयी कविता में (1943) तार सप्तक के प्रकाशन से लगातार बदलाव की लहर चलती जा रही थी साठोत्तर में उसमें भारी फेरबदल सामने आया। यह परिवर्तन शिल्पगत और काव्यगत दोनों स्तरों पर दिखाई देता है। नयी कविता में इस समय जहां पीड़ा थी मूल्यों के टूटने का दर्द था, भविष्य के प्रति आशा और विश्वास की पतली लकीर थी साठोत्तर कविता में यह विद्रोह में बदल गयी। देश की सामाजिक ,राजनैतिक और आर्थिक परिवेश की भयावहता ने कवि के मन में विद्रोह को हवा दी। स्वतंत्रता के बाद का पूरा युग ही लगभग बैचेनी का युग है और अधिकांशत:मोहभंग के पश्चात् यही बैचेनी हिन्दी काव्य में प्रमुखता से अभिव्यक्त हुई है। इसी समय धूमिल जैसे कवियों पर कल्पना में सतीश जमाली ने तीखी भाषा में लिखा था कि "धूमिल जैसे लोग कवि तो हैं ही नहीं किन्ही विज्ञापन कम्पनियों के एजेन्ट हैं। यदि ऐसे लोगों में प्रतिभा नहीं है तो यह जरूरी नहीं कि वे लेखक बने रहे वे और कोई धंधा भी कर सकते हैं।"

साठोत्तरी कविता के पूर्व के जो विद्रोही लेखक थे उनके विद्रोह के स्वर में भी वह सब कुछ सम्मिलित था जिसे सही अर्थ में विद्रोह की संज्ञा दी जा सकती है। वे कवि अपने विद्रोह को पंक्तियों में उभारते हुए अपने परिवेश और अपने आस-पास का सही प्रतिनिधित्व करते थे। ऐसे कवियों की रचनाओं में प्रमाणिक तत्व मिल जाते हैं, और उनका भोगा यथार्थ भी। मोहभंग के पश्चात् की कविता ने अनगिनत रूप और रास्ते पकड़े किन्तु शब्दों की उठापटक और चीखपुकार तथा जीभ और जांघ के भूगोल से आगे नहीं बढ़ सकी, इस तरह वह तूफान धीरे-धीरे दूसरी तरफ मुड़ गया।

इसी आक्रोश विद्रोह और निराशा के चरम की कविता के समय नयी कविता में सब कुछ ठीक हो जाने की संभावनाएं लिये अशोक वाजपेयी ने 'शहर अब भी संभावना है'। (1966) की संभावना व्यक्त की। अशोक वाजपेयी के पहले काव्य संग्रह शहर अब भी संभावना है की रचनाओं को विष्णु खरे ने 'आलोचना की पहली किताब में 'तीन शीर्षकों में रखा है - प्रेम, लोग तथा प्रकृति और रागात्मक कविताओं मातृ करूणा की थीम नयी कविता की शायद ऐतिहासिक वस्तु एक आसन्न प्रसवा मां के लिए तीन गीत और स्वर्ग में नरक जैसी मातृकरूणा की कविताएं हिन्दी कविता के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ती हैं, उनमें यदि इलियट की अनुगूंज है तो भारतीय प्राचीन कवियों को भी वह अपने बाद के काव्य संसार में ध्वनित करता है। अशोक वाजपेयी के कविता संसार में केवल स्त्री पुरूष के प्रेम की मांसलता और विह्वलता ही नहीं है उन्होंने समाज में होते हुए भी समाज में न होने के तनाव को भी अपने लेखन में गहरे महसूस किया है।

अशोक वाजपेयी की कविताओं में आरम्भ से ही शब्दों के चयन, क्रम तथा उनका एक्सप्लाइटेशन के प्रति सुखद आग्रह रहा है। अशोक वाजपेयी के काव्य संसार में आरम्भ से लेकर वर्तमान तक की कविताओं में अभिव्यक्ति और शब्दों के विन्यास का सतत विकास दृष्टिगोचर होता है। शुरूआत में जहां अनुभूति के प्रखर दबाव में भाषा के गूंगेपन की लाचारी के रूप में कविताओं में बार-बार शब्द, शब्दों में अवसाद, कविता, भाषा शब्दों का भय उछलते हुए शब्द, चमक भर दे सकने वाले शब्द,दैनन्दिन भाषा से मिले हुए शब्द, किसी पंक्ति का भूला शब्द आदि व्यक्त होते थे,उनके बाद के काव्य संग्रहों में यह भाषा के गूंगेपन की लाचारी निरंतर घटी है वे इधर की कविताओं में शब्दों की लाचारी का शिकार न होकर भाषा और शब्दों पर अधिकार सा कर लेते हैं इधर वे अपनी अनुभूतियां भाषा में व्यक्त करने में सक्षम नजर आते हैं। उनके बाद के काव्य विषय भी जबकि भाषा के सिद्धहस्त व्यक्ति के अलावा साधारणत: पकड़ में आने वाले नहीं है। फिर भी अशोक वाजपेयी की कविताओं में जहां भाषा की लाचारी मिलती है वहीं एलियट की 'द पेस ऑफ टर्निंग ब्लड इंटु इंक 'को ही चरितार्थ करती है।

डॉ. कांतिकुमार ने अपने नयी कविता ग्रंथ में अशोक वाजपेयी को मुक्तिबोध मण्डल के कवियों में शामिल किया है। यह मोहभंग का समय था। इस समय नयी कविता में असहमति, विद्रोह और आक्रोश के स्वर फूट रहे थे। साठोत्तरी पीढ़ी की एक और प्रवृत्ति रही है जिसमें नयी कविता से असहमति का

वैचारिक मुद्दा उतना नहीं उठा, जितना कथ्य विस्तार, कालबद्धता, अनुभव की तीव्रता और उसकी शब्दावली के खिलाफ प्रासंगिक शब्दावली के प्रयोग का आग्रह था। ऐसे कवियों में श्रीकांत वर्मा, अशोक वाजपेयी, प्रयाग शुक्ल, श्रीराम वर्मा, विष्णु खरे आदि थे। सोमदत्त, नीलाभ, कुमार विकल, आग्नेय, भगवत रावत जैसे कुछ नाम और थे जो कविता से प्रतिबद्धता की मांग करते हुए उत्तेजना और रोमान से मुक्त कविता लिखते थे। अशोक वाजपेयी व्यापक रूप से किसी आंदोलन में शामिल नहीं हुए।

अशोक वाजपेयी को आलोचकों ने आरम्भ में जिस संभावना का कवि कहा था वह संभावना उनके बाद के काव्य संसार में फलीभूत हुई है। अशोक वाजपेयी की कविताएं मानवीय होने के अनुभव और तनावों को आत्मीय स्तर पर परिभाषित करती रचनाएं तो हैं ही, वे दुनिया के हर कोने के विनाश के विरूद्ध कुछ गहरे मानस संबंधों में अर्थ की भी खोज लगातार तलाश करती हैं। इसी मानवीय होने के तनाव की खोज अशोक वाजपेयी की कविताओं के केन्द्र में हैं, जो बिना शोर मचाये वहां-वहां शब्द रखने के प्रयास भी हैं जहां वे पहले नहीं रहे।

समकालीन हिन्दी कविता के क्षैतिज से ऐसे समय जब प्रेम और श्रृंगार लगभग अपदस्थ हो चुका है अशोक वाजपेयी ने अपनी कविताओं के केन्द्र में उसे पर्याप्त जगह दी है। अशोक वाजपेयी के काव्य संसार में प्रेम की अनेक सूक्ष्मताएं खड़ी बोली में इन कविताओं के माध्यम से पहली बार हिन्दी कविता के परिसर में प्रवेश करती हैं। अशोक वाजपेयी ही मुक्तिबोध, अज्ञेय और शमशेर के बाद की समूची पीढ़ी में एक मात्र में ऐसे कवि हैं जिनकी कविता में बहुत गहरे स्तर पर एक तरह की श्रृंगारिक संवेदना है। यह श्रृंगारिक संवेदना केवल इस बात से प्रमाणित नहीं है कि उन्होंने अनेक श्रृंगारिक कविताएं लिखी हैं बल्कि मैं संवेदना शब्द का इस्तेमाल कर रहा हूं तो कुछ-कुछ उसी अर्थ में जिस अर्थ में मैं यह कह सकता हूं कि शमशेर की कविता बहुत गहरे स्तर पर चाक्षुष संवेदन की कविता है। किन्तु अशोक वाजपेयी की कविता आरम्भ से ही स्पर्श संवेदन को सक्रिय और बद्ध बनाती है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में प्रेम और श्रृंगार को लगभग हासिये पर फेंक दिया गया जबकि वह शाश्वत प्रेम ही जीवन का, संसार का, मूलाधार है। अशोक वाजपेयी ने काव्य संसार में प्रेम के लिए थोड़ी सी जगह मांगकर नारों ,चीखों और पोस्टरों के भयावह समय में प्रेम को स्थापित करने की हिन्दी कविता में व्यावहारिक पहल की। गोपालगंज सागर के आस-पड़ोस बकौली, कठचंदन के पेड़ों की खुशबू से लेकर अशोक वाजपेयी की कविता सुदूर ला शत्रुज(आबिन्यों)तक अपने में समेटे हुए हैं।

मनुष्य से मनुष्य और मानव समाज का संतुलन कायम रखने के लिए यह आवश्यक है कि चेतना के आदिम और आधुनातन स्तरों के बीच संबंध बना रहे। विरूद्धों के बीच सामंजस्य स्थापित करने वाली कविता की यह भूमिका अशोक वाजपेयी की कविताओं में बड़ी उत्कटता से व्यक्त की गयी है। आधुनिक सभ्यता की प्रवृत्ति संस्कृतियों के समतलीकरण की है और अक्सर ऐसा प्रतीत होता है कि सभी जगहों की कविता एक सरीखे तनावों संशयों और अर्न्तद्वदों से जूझ रही है कमोवेश एक सरीखी हताशा, अनास्था अथवा आस्था के दबाव में ढल रही है किन्तु क्या वास्तव में ऐसा है ? अशोक वाजपेयी की कविता प्रेरणा को समझने के लिए इस तरह के प्रश्नों का सामना करना जरूरी हे क्योंकि अशोक वाजपेयी अपनी पीढ़ी के उन थोड़े से कवियों में हैं जिन्होंने न केवल नितान्त समसामयिकता के नैतिक दायित्व को अपने कवि कर्म और आलोचना चिन्तन से निभाने और बखानने की,बल्कि समकालीनता की चहारदीवारी से बाहर निकलकर उस दायित्व को मनुष्य के चराचर परिवेश से और परम्परा से भी काफी सचेत ढंग से जोड़ने की कोशिश की है।

अशोक वाजपेयी हिन्दी कविता या बेख्त की तरह जुल्मतों के समय में जुल्मतों के नहीं बल्कि काफका और नीत्शे की प्रसिद्ध सूक्तियों की पद्धति अपनाते हुए नरक में स्वर्ग के निष्पाप गीत गाते हैं। जो लोग हिन्दी काव्य परम्परा से वाकिफ है उन्हें इस पर कोई एतराज नहीं होगा। क्योंकि तुलसी ने सामाजिक अराजकता के दौर में आदर्श समाज व्यवस्था का अपना युटोपिया रचा था। भक्त कवियों की सामाजिक मुक्ति की छटपटाहट निर्गुण सगुण प्रेम की आध्यात्मिक पदावली में प्रकट हुई थी। राष्ट्रीय नवोन्मेष की सामाजिक सच्चाई का सर्वश्रेष्ठ काव्यात्मक प्रतिफलन छायावाद में हुआ था।

अशोक वाजपेयी की कविता छोटे से छोटे सच को भी खराब नहीं होने देना चाहती क्योंकि साठोत्तर हिन्दी कविता से ऐसे सच अक्सर छूटते देखे जा सकते हैं। अशोक वाजपेयी की कविता में उन्हें समेटने और कुछ अलग रंगत देने की कोशिश की गयी है।

जीवन के यथार्थ में केवल राजनीति की ही हिस्सेदारी नहीं होती, उसमें व्यापक मानव संबंध भी आते हैं, जिसमें हमारा निजी सुख-दुख, घर-द्वार परिवार भी शामिल है जिसे कवि ने अपने काव्य संसार में बड़ी उत्कटता से महसूस किया है। उनका काव्य आस-पास की चीजों से गहरा अर्न्तसंबंध स्थापित करता है और उनकी कविता संवेदनशीलता के दायरे में खींच लाती है और नयी अर्थवत्ता देती है।

अशोक वाजपेयी की कविता किसी भी आंदोलन से बाहर की कविता है वह सभी आंदोलनों प्रवृत्तियों के आर-पार की कविता है उनकी कविता में एक ओर पृथ्वी है दूसरी ओर आकाश। एक ओर पार्थिव और घरेलू बिम्बों की बहुतायत है तो दूसरी ओर देवता, पुरखे,नक्षत्र,अनन्त जैसे शब्दों से संकेतित होने वाले संस्कृति के अभिप्राय हैं। कवि को वनस्पतियों समुद्रों और लोगों से घिरी हुई पूरी की पूरी पृथ्वी चाहिए। इस तरह कविता यहां समूचे ब्रह्माण्ड से घरेलू संबंध स्थापित करती है।

अशोक वाजपेयी की कवि चेतना एक विशेष अर्थ में सजग और दुहरी चेतना है उसमें प्राचीन और अर्वाचीन आदिम और सभ्य स्तर पास आना और जुड़ना ही नहीं एक साथ झंकृत भी होना चाहते हैं, हो रहे हैं। अत: अशोक वाजपेयी की कविता समूचे ब्रह्माण्ड को घरेलू बना लेने की ठेठ हिन्दुस्तानी जिद की कविता है वह इसके साथ दार्शनिक, धार्मिक असंगतियां-विसंगतियां भी जगह-जगह उभारती है। अशोक वाजपेयी की कविता में एक खास तरह का द्वंद है जिसे विजयदेव नारायण के शब्दों में कहूं तो इसे अशोक वाजपेयी के काव्य की अपराजेय विवशता कहा जा सकता है।

अपने असाध्य रोमानी और अतिक्रमण शील कवि स्वभाव के बावजूद बारम्बार इस उद्दण्ड समय की हरकतों से घिर जाने की, न केवल घिर जाने की बल्कि उन्हें अपनी कविता के भीतर भी घुसपैठ करने देने की, देखा जाये तो इस मामले में भी उनकी अवस्थिति कहीं अज्ञेय और श्रीकांत वर्मा के बीच की जान पड़ती है जिसमें श्रीकांत वर्मा की खींच कुछ ज्यादा प्रबल है। हालाकि अशोक वाजपेयी अपने काव्य में शब्द सम्वेदना,शब्दचयन, सांस्कृतिक अनुगूंजों और अर्थ छटाओं के मामले में श्रीकांत वर्मा से आगे हैं और उनसे भारी भी। अशोक वाजपेयी के यहां भी रघुवीर सहाय की तरह कविता जीने का उसके आशयों को आत्मसात् करने और सोचने का ढंग है। अत: स्पष्ट है अशोक वाजपेयी का काव्य जीवन का काव्य है उसके विभिन्न जाने अनजाने पक्षों की अभिव्यक्ति का काव्य है।

अशोक वाजपेयी के काव्य साहित्य को किसी एक विषय की बहुलता का काव्य कहना उचित नहीं है उन पर इस तरह का आरोप निराधार है उनहोनें जितना श्रृंगार और प्रेम पर लिखा है उससे कहीं अधिक मृत्यु पर लिखा है। जीवन और मृत्यु भले ही व्यवहारिक दुनिया के सत्य हैं किन्तु अशोक वाजपेयी के काव्य संसार में दोनों को जीवन में ही देखा जा सकता है। अत: अशोक वाजपेयी हिन्दी कविता के उन थोड़े से विरल हिन्दी कवियों में हैं जिनके होने से कविता की एक जीवित सभ्यता पुन:सम्भव है। काव्य सभ्यता को पुनर्नवा करने में अज्ञेय और रघुवीर सहाय के बाद जिन आठ दस लोगों की महत्वपूर्ण भूमिका है उनमें से अशोक वाजपेयी एक हैं।

कविता में, भाषा में और साहित्य में कवि के यहां हमें पुरखों की स्मृतियों से भेंट के कई अवसर मिलते हैं जैसे भाषा उनके यहां पुन: प्रकट हो रही है, तद्भव के बरक्स तत्सम की उपस्थिति सहज है, प्राचीन और नवीन (मुक्तिबोध)पीढ़ी के कवियों की सार्थक अनुगूंज प्रासंगिक हैं नये काव्य विषय जैसे कुमार गंधर्व, मल्लिकार्जुन मंसूर ,जगदीश स्वामीनाथन आदि समकालीन कलाकारों पर लिखी उनकी कविताएं कविता की श्रेष्ठतम उपलब्धियों में से एक है। इस तरह विगत 40 वर्षों की काव्य साधना के आधार पर स्पष्ट है कि अशोक वाजपेयी का काव्य भाषा, शब्द, संस्कृति और जीवन तथा उसके विविध सन्दर्भों की अभिव्यक्ति के तनावों, एहसासों, अनुभूतियों के विन्यास का सकारात्मकता की ओर ले जाने का काव्य है।

सातवें दशक में रचना के क्षेत्र में परिवर्तन के साथ ही आलोचना में भी परिवर्तन के लक्षण प्रकट होने लगे थे। उथल-पुथल का दशक खत्म होते ही नयी कविता के आंदोलन बेजान होते देखे गये। इसी समय कविता और कहानी में युवा पीढ़ी ने नये तेवर के साथ साहित्य में प्रवेश किया जिसका मुहावरा ही नया नहीं था बल्कि जिसकी यथार्थ दृष्टि का आग्रह भी प्रबल था, किन्तु इस समय की एक प्रमुख घटना यह थी इस दौर के लेखकों का रूख सामान्यत: आलोचना का प्रबल विरोधी होना था किन्तु विपरीत परिस्थितियों में भी रचना के भीतर से कुछ अपने आलोचक उभर ही आए। इन उभरे हुए आलोचकों में अशोक वाजपेयी और रमेश चन्द्र शाह, विष्णु खरे आदि के नाम विशेष रूप से लिये जा सकते हैं।

आलोचना की चुप्पी और शास्त्रीयता तथा शाश्वत प्रश्नों की रूढ़ि को तोड़ते हुए अशोक वाजपेयी ने आलोचना की अपनी पहली पुस्तक फिलहाल में समकालीन कविता पर गहरा और न्यायसंगत विचारपूर्ण विवेचन किया। फिलहाल में अज्ञेय, मुक्तिबोध, श्रीकांत वर्मा,धूमिल, कमलेश और विनोद कुमार आदि साठोत्तर हिन्दी कविता में प्रतिष्ठित कवियों का अध्ययन किया है। अशोक जी मूलत: कविता के आलोचक हैं (वे स्वयं भी कवि हैं)किन्तु उनकी आलोचना की दूसरी और तीसरी किताब 'कुछ पूर्वग्रह' और 'समय से बाहर' में कविता के साथ समकालीन भारतीय कलाओं की तर्क संगत और विचारपूर्ण समीक्षा देखने को मिलती है। आलोचना अशोक वाजपेयी के लिये कोई आपदधर्म नहीं है यह घोषणा उन्होंने फिलहाल के आरम्भ में ही की थी इसलिए वे काव्य तथा कलाओं की आलोचना में सक्षम और उत्तेजक नजर आते हैं।

समकालीन काव्य से आरम्भ होकर अशोक वाजपेयी की आलोचना कई क्षेत्रों में गयी है। उसने भारतीय संस्कृति और कलाओं को भी साहित्य में जरूरी स्थान दिया है और इसे हासिये से बाहर की वस्तुएं मानने की रूढ़ि पर रोक लगाई है। अशोक वाजपेयी से जुड़े हुए कुछ सवालों को उठाना चाहता हूँ जैसे अशोक वाजपेयी की आलोचना दृष्टि क्या है ? उन्हें किन-किन कारणों से जाना जाता है ? वे कवि भी हैं ,एक विवादास्पद संस्कृतिकर्मी भी, वे सफल संपादक भी हैं और भारत सरकार के वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारी भी। इन सबके साथ ही वे नयी कविता की कालजयी आलोचना के सृष्टा भी हैं। जिसे मार्क्सवाद का ढिंढोरा पीटने वाले भी नकार नहीं पाये। हिन्दी आलोचना में इतना गहरा और जरूरी हस्तक्षेप करने के बाद भी अशोक वाजपेयी की चर्चा ज्यादातर साहित्येत्तर कारणों से लोगों ने की है।

जबकि यदि हिन्दी समीक्षा का प्रस्थान बिन्दु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हैं तो आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी नगेन्द्र, रामविलास शर्मा, नामवर सिंह उसके विकास के सोपान और नामवर सिंह के बाद की समूची पीढ़ी में अशोक वाजपेयी का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि हिन्दी आलोचना के इतिहास में छायावाद के भीतर जो उपक्रम रामविलास शर्मा ने निराला को केन्द्र में लाने का किया, नयी कविता के दौर में नामवर सिंह ने मुक्तिबोध के लिए किया, लगभग वही प्रयत्न साठ के बाद की युवा कविता आंदोलन में अशोक वाजपेयी ने रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा और केदारनाथ सिंह को स्थापित करने के लिए किया है। अशोक वाजपेयी अपनी आलोचना के केन्द्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भांति सूत्र देकर उनकी व्याख्या विश्लेषण न करके रचना में धीरे-धीरे परत-दर-परत प्रवेश करते हैं और गहराई में पहुंचकर एक तर्क संगत निष्कर्ष देते हैं जो आचार्य शुक्ल के सूत्र के समान तो नहीं उससे मिलता जुलता जरूर है। भाषा में रचना से प्राप्त प्रभावों के कारण रचना के जटिल से जटिल पक्ष भी साधारणत: समझ के दायरे में आ जाते हैं।

आलोचना कर्म की सार्थकता इससे अधिक और कुछ नहीं हो सकती कि वह रचना और विशेष रूप से समकालीन रचना की चुनौतियां स्वीकार करे उसके आस्वाद, विश्लेषण और मूल्यांकन के लिए उपयुक्त उत्तेजक परिपेक्ष्य विकसित करे। अशोक वाजपेयी की आलोचना दृष्टि इस अर्थ में कसौटी पर सोलह आने खरी उतरती है। आलोचना की प्राथमिक जिम्मेदारी समसामयिक साहित्य के प्रति होनी चाहिए, स्वातंत्र्योत्तर भारत में जिस तेजी से बदलाव आया है साहित्य भी उससे अछूता नहीं रहा है। सृजनात्मक आलोचना इसी साहित्यिक बदलाव से उत्पन्न दृष्टि है अशोक वाजपेयी इस सृजनात्मक

आलोचना के प्रमुख आलोचक के रूप में पहचान बनाने वाले व्यक्ति हैं।''उन्होंने कविता और रद्दी के गड्ड-मड्ड ढेर में से कविता को उठाकर उसे यथोचित सम्मान देने की हिम्मत दिखायी है।' फिलहाल 'अशोक वाजपेयी की आलोचना का जनतंत्र है यह जनतंत्र विचारधारा, व्यक्तिवाद और शास्त्र की अतिरेक नीरसता और तानाशाही के विरूद्ध एक उम्मीद की तरह विकसित हुआ था। वह फिलहाल की जलवायु में अंकुरित होती युवा कविता के स्वप्न और यथार्थ में बुना गया जनतंत्र था जिसका समूचा विधान एक अतिवाद के विरूद्ध निषेध की, खण्डन की भाषा और मूल्यों पर टिका हुआ था उस अतिरेक पूर्ण, नीरस और तानाशाह व्यवस्था में घुटते कुण्ठित होते मूल्यों को यह एक शरणस्थली प्रतीत होती, जैसा कि हुआ भी। फिलहाल के जनतंत्र पर मदन सोनी की यह टिप्पणी कितनी सार्थक है इसका प्रमाण अशोक वाजपेयी की आलोचना को जनतंत्र शब्द के संबोधन से ही स्पष्ट हो जाता है।

आलोचना में अशोक वाजपेयी ने व्यावहारिक आलोचना के सभी मानदण्ड़ों को अपनाया है। परस्पर विरोधी प्रकृति के रचनाकारों को एक साथ आलोचना के लिये चुना है, और एक के कारण दूसरे की रचना को तुलनात्मक रूप में स्पष्ट भी किया है। जैसे कमलेश के साथ धूमिल आदि। लेखक कृति की आलोचना करते- करते बीच-बीच में आलोचना पर भी प्रहार करता देखा जा सकता है जैसे ''आलोचक निर्णायक बनने का दंभ लिए कविता को सामने कठघरे में खड़ा किए फैसला सुनाने को बेताब है,'' अति तीखी और बेबाक टिप्पणियां अशोक वाजपेयी की आरम्भिक आलोचना के केन्द्र में हैं।

अशोक वाजपेयी अपनी आलोचना के केन्द्र में स्पष्ट वक्ता, विचार के पक्षधर, विचारधारा विरोधी, भाषा पर अधिकार प्राप्त मर्मज्ञ भारतीय और पश्चिमी साहित्य के ज्ञाता तथा उसके आधार पर अपनी समझ विकसित करने वाले समीक्षक, साहित्य और कलाओं में संवाद स्थापित करने वाले उनमें (कलाओं) भी समसामयिक चेतना का प्रवाह ढूँढ़ने की बहस छेड़ने वाले, सृजनशील समीक्षा के अधिष्ठाता, कविता के प्रबल समर्थक, आलोचना के ढर्रे में सुधार की मांग करने वाले निडर आलोचक, अपने समय के समाज और मनुष्य की, हालत की पड़ताल करने वाले, भाषा की स्मृति और उससे जुड़े रहने के हित साधक हैं, अशोक जी समीक्षा की परिधि में कहीं भी कट्टरता का शिकार नहीं हुए हैं, उन्होंने फिलहाल में रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा और केदारनाथ सिंह पर जो लिखा उसे अब तक कोई झुठला नहीं पाया। इधर कुछ पूर्वग्रह की आलोचना में अशोक वाजपेयी ने (80 के दशक को) कविता की वापसी का ऐलान करते हुए फिलहाल की जमीन से करवट ली है। यहां फिलहाल का वह विपक्ष लगभग गायब है और तर्क भी वैसा नहीं मिलता। भाषा में वे फिलहाल से आगे बड़े हैं किन्तु विपक्ष की अनुपस्थिति के कारण यहां ऐसा लगता जैसे वे प्रशस्ति वाचन कर रहे हों।

सन् साठ के बाद आज हम जिन आलोचकों विश्वनाथ त्रिपाठी, मलयज, विष्णु खरे, परमानंद श्रीवास्तव, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, रमेशचन्द्र शाह, नंदकिशोर 'नवल', मैनेजर पाण्डेय, नित्यानंद तिवारी, मधुरेश, चन्द्रभूषण तिवारी, सुरेन्द्र चौधरी, विजय मोहन सिंह, प्रभात त्रिपाठी, प्रभाकर श्रोत्रीय, देवीशंकर अवस्थी, धर्मवीर भारती, कुमार विकल, रमेश कुन्तल मेघ,लक्ष्मीकांत वर्मा, डॉ. रघुवंश, डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी, प्रो. कमला प्रसाद आदि की चर्चा करते हैं तो उनमें अशोक वाजपेयी की उपस्थिति अपने आलोचनात्मक उद्यम के व्यापक केनवास के कारण लगातार चर्चा का विषय रही है।

'फिलहाल' जिसे युवा कविता आंदोलन की पड़ताल का ग्रंथ माना गया है इस पुस्तक के अधिकांश लेख युवा कविता को विश्लेषित करते हैं ,जैसे दृश्यालेख, तलाश के दो मुहावरे, कुछ युवा कवि, युवा लेखन, साहस और उग्रता की पड़ताल, युवा कविता की आलोचना, अकविता एक नयी रूमानियत, नए पुराने का झगड़ा, समकालीन कविता जैसे लेख सातवें दशक की कविता की दशा और दिशा को विश्लेषित करने का एक साहसिक उत्तेजक और प्रामाणिक उपक्रम है। ''इस तरह सातवें दशक की कविता की जितनी गहन तात्विक और ऐतिहासिक जांच पड़ताल अशोक वाजपेयी कर पाते हैं उतनी अन्य आलोचक नहीं।''अशोक वाजपेयी आलोचना के केन्द्र में रचना और आलोचना दोनों में कुछ जरूरी परिवर्तन के तनाव से युक्त है। फिलहाल, कुछ पूर्वग्रह और समय से बाहर उनकी तीनों आलोचना पुस्तकों में यह

तनाव देखा जा सकता है। अशोक वाजपेयी आलोचना में सभी मार्क्सवादी औजारों का अघोषित रूप से इस्तेमाल करते हैं और अपने समय की कविता, जिसका काल खण्ड स्वतंत्रता के बाद से अब तक 50 वर्षों तक फैला हुआ है। अशोक वाजपेयी की कविता आलोचना संबंधी स्थापनाओं, मान्यताओं से समकालीन कवि, आलोचकों की तीव्र असहमतियां रही हैं किन्तु इस बात को कौन और कैसे नकार सकता है कि आज कविता में अशोक वाजपेयी, नामवर सिंह के बाद की पीढ़ी के अन्यतम आलोचक हैं उनकी आलोचना नामवर सिंह की तरह कवि को कोई छूट नहीं देती। यहां यह भी दृष्टव्य है कि अशोक वाजपेयी की आलोचना न केवल रचना के बारे में सवाल उठाती है बल्कि स्वयं आलोचना को भी कटघरे में खड़ा करती है। अशोक वाजपेयी की आलोचना में हमें पीढ़ियों की दीवारें टूटती नजर आती हैं। उन्होने नयी और पुरानी पीढ़ी के कवियों को एक साथ रखकर हिन्दी आलोचना के पुराने पीढ़ीवादी विवाद का खात्मा भी किया। शमशेर, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, केदारनाथ सिंह, विनोद कुमार शुक्ल जैसे कवियों के काव्य वैशिष्ट्य को उजागर करने का एक साहसिक और महत्वपूर्ण कार्य किया है। अशोक वाजपेयी की समीक्षा बहुत सूक्ष्म और अन्तर्भेदी होती है।

युवा कविता आंदोलन से आरम्भ होकर अशोक वाजपेयी की आलोचना ने लगातार अपने समय के नये पुराने कवियों के वैशिष्ट्य को उजागर ही नहीं किया बल्कि अपने समय के महत्वपूर्ण कविता संसार का निर्मम, निर्णायक और सटीक विश्लेषण भी किया है। जो उनकी व्यवहारिक और सैद्धांतिक आलोचना का श्रेष्ठ उदाहरण है। अशोक वाजपेयी की आलोचना जहां कविता में पॉजेटिव शक्ति पाती है उसे वह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की तरह मुग्ध भाव से एप्रीशिएट करती है, किन्तु जहां कहीं भी उसे कमजोरियां, अतियां, भ्रान्तियां और नकलीपन दिखता है वह तीखा प्रहार करती है

यह अशोक वाजपेयी की ही आलोचना है कि वह परस्पर विरोधी स्वभाव की कविता के लिये भी जगह देती है,जैसे श्रीकांत वर्मा और केदारनाथ सिंह के साथ रघुवीर सहाय, धूमिल के साथ कमलेश,अज्ञेय के साथ मुक्तिबोध, यहां सब निभ जाते हैं, परस्पर विरूद्धों का ऐसा सामंजस्य हिन्दी आलोचना की श्रेष्ठतम उपलब्धि है। अशोक वाजपेयी की आलोचना ही है जो कविता को मनुष्य की विश्वसनीय और समावेशी परिभाषा पर तौलती है। अशोक वाजपेयी के लिये आलोचना स्पष्टत: एक एकाग्र साहित्यिक कर्म है, उनके लिये आलोचना समकालीन परिदृश्य में हस्तक्षेप है। उन्होने लिखा है रचना के लिए यह जरूरी नहीं कि वह खुद अपनी हालत की, अपने होने के औचित्य की पड़ताल करें। जबकि आलोचना के लिए यह लगभग अनिवार्य है कि वह न केवल रचना के औचित्य के बारे में सवाल उठाए बल्कि स्वयं अपने बारे में भी निर्ममता से सवाल उठाए और उनके हल खोजे "। लेखक की इस टिप्पणी से स्पष्ट है कि वह अपनी आलोचना कर्म के केन्द्र में आलोचना के समकालीन परिदृश्य के प्रति कितना सजग, दो टूक और स्पष्ट है। अत: अशोक वाजपेयी को निरा कलावादी आलोचक घोषित कर देना तर्क संगत नहीं है। अशोक वाजपेयी स्पष्टत: कलाओं की स्वायत्तता के पक्षधर हैं। वे साहित्य को किसी विचारधारा के खूंटे में बांधकर देखने के सख्त विरोधी हैं ,वे साहित्य को समाज में एक स्वायत्त सत्ता के रूप में स्थापित करने के लिए अपने समूचे आलोचनात्मक और संस्कृति कर्म में एक जिरह करने वाले आज अकेले डिफेन्स लायर के रूप में मौजूद हैं। मुझे तो तरस आता है कि हिन्दी आलोचकों ने अशोक वाजपेयी का व्यक्तिगत विरोध तो खूब किया है पर थोड़ी सी भी एनर्जी उनकी आलोचनात्मक कृतियों को समझने में खर्च नहीं की। अत: कहा जा सकता है कि रचना के लिए संघर्षरत अशोक वाजपेयी के सम्पूर्ण साहित्यिक प्रदेय के शब्द व्यर्थ साबित नहीं हुए हैं। (हालाकि यह कोशिश जमकर की गयी है) स्व. विजय देव नारायण साही ने एक बड़े आलोचक की खूबी का जिक्र करते हुए कहा था कि वही आलोचक बड़ा आलोचक बन सकता है जो निर्भय हो , साहसी हो, जब तक वह साहसी नहीं होगा वह बड़ा आलोचक कैसे बन सकता है ? हिन्दी आलोचना में यह साहस कम लोगों में देखने को मिलता है। अशोक वाजपेयी नामवर सिंह की पीढ़ी के बाद दूसरे ऐसे आलोचक हैं जिनके आलोचनात्मक साहस की धार केवल अपनी धार है जिस पर बे बराबर निर्भय चल रहे हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची -

१. नामवर सिंह/इतिहास और आलोचना/राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली
२. चन्द्रदेव यादव/आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचना दृष्टि/प्रेम प्रकाशन मंदिर दिल्ली
३. वीरेन्द्र सिंह/समकालीन आलोचना/पंचशील प्रकाशन जयपुर
४. सं. रामेश्वर खंडेलवाल/हिन्दी आलोचना के आधार स्तंभ/लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद
५. डॉ.गायत्री वैश्य/आधुनिक हिन्दी काव्य में समाज/दिल्ली वि. वि.
६. डॉ.रामरतन भटनागर/साहित्य और सर्जना
७. रामलाल सिंह/समीक्षा दर्शन/इंडियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग
८. संवाद और एकालाप/मलयज/राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली
९. डॉ. राजेश्वर सक्सेना/परंपरा का द्वन्द और आलोचना/शांति प्रकाशन इलाहाबाद
१०. आलोचना और समकालीन रचना/प्रतिभा प्रकाशन इलाहाबाद
११. देवेश ठाकुर/साहित्य की सामाजिक भूमिका/अरविंद प्रकाशन मेरठ
१२. डॉ. मृत्युजंय उपाध्याय/समकालीन आलोचना और साहित्य/ओम प्रकाशन दिल्ली
१३. रघुवीर सहाय /सीढ़ियां शुरू हो गई हैं /वाणी प्रकाशन दिल्ली
१४. महादेवी वर्मा/साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध/लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद
१५. नंददुलारे वाजपेयी/हिन्दी साहित्य बींसवी शताब्दी/लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद
१६. रामदरश मिश्र/आलोचना की कुछ नई दिशाएं/प्रेम प्रकाशन दिल्ली
१७. डॉ. निर्मला जैन/हिन्दी आलोचना की बींसवी सदी/राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली
१८. डॉ. कर्ण सिंह चौहान/आलोचना के नये मान/मैक मिलन प्रकाशन दिल्ली
१९. डॉ. मंजुल उपाध्याय/समकालीन आलोचना की भूमिका/साहित्यागार जयपुर
२०. डॉ. नगेन्द्र/साहित्य का समाजशास्त्र/नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली
२१. एच. एस. वर्डिया/आधुनिक भारत में सामाजिक समस्याएं/राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी

अशोक वाजपेयी के मौलिक एवं संपादित ग्रंथ -

२२. शहर अब भी संभावना है/कविता संग्रह/भारतीय ज्ञानपीठ
२३. फिलहाल/राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली
२४. एक पतंग अनंत में /वही
२५. कुछ पूर्वग्रह/वही
२६. अगर इतने से/वही
२७. तत्पुरूष /वही
२८. कहीं नहीं वहीं /वही
२९. बहुरि अकेला/संस्कृति प्रतिष्ठान नई दिल्ली
३०. समय से बाहर/बाग्देवी प्रकाशन बीकानेर
३१. थोड़ी सी जगह/राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली
३२. घास में दुबका आकाश/वाणी प्रकाशन नई दिल्ली
३३. होना पृथ्वी न होना आकाश/ मोदी कला भारती नई दिल्ली
३४. आविन्यो /राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली

३५. तिनका-तिनका भाग १और भाग २/प्रवीण प्रकाशन नई दिल्ली
३६. तीसरा साक्ष्य/संपादक अशोक वाजपेयी/संभावना प्रकाशन
३७. साहित्य विनोद/सं. अशोक वाजपेयी/नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली
३८. निर्मल वर्मा/सं. अशोक वाजपेयी/राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली
३९. कविता का जनपद/सं. अशोक वाजपेयी/राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली
४०. पहचान सीरीज/सं. अशोक वाजपेयी/१९७०-७४ म.प्र.
४१. पूर्वग्रह/सं. अशोक वाजपेयी
४२. समास/सं. अशोक वाजपेयी

अन्य संदर्भ ग्रंथ -

४३. जगदीश नारायण त्रिपाठी/आधुनिक हिन्दी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियां /प्रत्युष प्रकाशन कानपुर
४४. अमृतलाल नागर/साहित्य और संस्कृति/राजपाल एण्ड संस, नई दिल्ली
४५. अमृतराय /आधुनिक मातृबोध की संज्ञा/हंस प्रकाशन नई दिल्ली

साहित्यिक पत्रिकाएं -

४६. हंस
४७. वीणा
४८. युगवाणी
४९. कल्पना
५०. साक्षात्कार
५१. पहल
५२. पूर्वग्रह
५३. समास
५४. इंडिया टुडे
५५. नवभारत टाइम्स (समाचार पत्र)
५६. जनसत्ता/हिन्दी दैनिक, नई दिल्ली